

मोहन राकेश रचनावली

संपादक जयदेव तनेजा



रचनावली का यह ग्यारहवाँ खंड नाट्यानुवाद पर केन्द्रित है। इसमें संस्कृत के महाकवि शूद्रक एवं कालिदास की 'मृच्छकटिक' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' नामक दो कालजयी नाट्यकृतियों के मोहन राकेश कृत हिन्दी रंग-अनुवाद प्रस्तुत किए गए हैं।

संस्कृत नाटकों की कालांतर से चली आ रही नाट्य-परंपरा में 'मृच्छकटिक' अपना अद्वितीय स्थान रखती है। 'मृच्छकटिक' से अभिप्राय मिट्टी की गाड़ी है जिसमें एक ओर चारुदत्त और वसंतसेना की प्रेमकथा है तो दूसरी ओर उसकी पृष्ठभूमि में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का ऐसा सशक्त एवं जीवंत चित्रण है कि वह इस नाटक को अनायास ही प्रत्येक युग के लिए आश्चर्यजनक रूप से समसामयिक बना डालता है। चोर, जुआरी, राजा का साला, शरीर की मालिश करनेवाला तथा रिश्वतखोर कर्मचारी और इन सबके साथ-साथ राजसत्ता को पलटने में सफल लोकक्रांति—ये सभी तत्त्व मिलकर इस नाटक को एक ऐसा कलेवर प्रदान करते हैं, जो सम्भवतः पूरे भारतीय नाट्य-साहित्य में दुर्लभ है।

'अभिज्ञानशाकुंतलम्' संस्कृत रंगमंच की शास्त्रीय नाट्य-परम्परा का अप्रतिम उदाहरण है। प्रेम जैसे शाश्वत कथ्य पर आश्रित होकर भी 'शाकुंतल' में प्रेम की जिस परिणति एवं पराकाष्ठा का चित्रण किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मानवीय सम्बन्धों के बेहद मार्मिक, सूक्ष्म और गहरे प्रसंगों के लिए 'शाकुंतल' सदैव अपना सर्वोपरि स्थान बनाए रखेगा।

यहाँ प्रस्तुत उपरोक्त दोनों नाट्यानुवाद लगभग आधी शताब्दी बीत जाने के बाद भी पाठ्य और अभिमंचन दोनों दृष्टियों से प्रासंगिक, सार्थक और लोकप्रिय बने हुए हैं।

२
०८।
तनेजा -मो

149629



मोहन राकेश स्वनावली-११

Hindi Premi

[नाट्यानवाद]

मोहन राकेश रचनावली

खंड : ग्यारह

सम्पादक
जयदेव तनेजा

राधाकृष्ण

नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद

R
081
तन्नीजा - मी

ISBN : 978-81-8361-427-6

मोहन राकेश रचनावली-11

© अनीता राकेश

पहला संस्करण : 2011

मूल्य : ₹ 10400
(तेरह खंड)

प्रकाशक

राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001

वेबसाइट : www.radhakrishnaprakashan.com

ई-मेल : info@radhakrishnaprakashan.com

आवरण : राधाकृष्ण स्टूडियो

मुद्रक

बी.के. ऑफसेट

नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

MOHAN RAKESH RACHANAWALI-11

Edited by Jaidev Taneja

मोहन राकेश



1. Set down your ideas about the presentation of 'the fundamental' to today's audience.

2. Relevance of film drama for today's audience. How ^{stage} ~~stage~~ ^{which} ~~which~~ ^{of} ~~of~~ ^{the} ~~the ^{element} ~~element~~ could be incorporated in contemporary drama.~~

3. Level of experience in even intelligible to the mass in the present day. Why not?

4. Mood and style in drama. Drama with special reference to modern plays.

5. ~~Contemporary~~ ^{Present day} theatre in the present and the audience in modern plays.

6. (Which of the modern Indian plays you have read today is the most contemporary? What is the situation now and why? Discuss the role of the theatre in the present as well as the future of the theatre.)

अनुक्रम

भूमिका	9
मृच्छकटिक	11
शाकुन्तल	201

भूमिका

नाट्यानुवाद पर केन्द्रित रचनावली के इस खंड ग्यारह में संस्कृत के महाकवि शूद्रक एवं कालिदास की 'मृच्छकटिकम्' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' नामक दो कालजयी नाट्यकृतियों के मोहन राकेश कृत हिन्दी रंग-अनुवाद प्रस्तुत किए गए हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' के अनुवाद के बाद आधुनिक हिन्दी रंगमंच के पास संस्कृत के प्रकाण्ड पंडितों द्वारा किए गए वे प्रामाणिक किन्तु रंग-चेतनाविहीन अकादमिक अनुवाद उपलब्ध थे या फिर संस्कृत से अनभिज्ञ रंगकर्मियों द्वारा अंग्रेज़ी के माध्यम से किए गए अराजक एवं कामचलाऊ अनुवाद थे। पहले प्रकार के अनुवादों में समकालीन जीवन का मुहावरा नहीं था और दूसरे प्रकार के अनुवादों में मूल की उदात्तता तथा काव्यात्मक नाटकीयता का अभाव था। ऐसे में किसी ऐसे अनुवादक की ऐतिहासिक आवश्यकता थी जो संस्कृत नाट्य-परंपरा एवं उसकी रंग-धर्मिता का सैद्धान्तिक-व्यावहारिक ज्ञाता होने के साथ-साथ हिन्दी भाषा, साहित्य और नाटक का अधिकारी विद्वान और रचनाकार भी हो। ये सभी विरल विशेषताएँ (उस समय) मोहन राकेश में सम्यक् रूप में मौजूद थीं।

वह ऐसा समय था जब स्वयं राकेश और उनकी पीढ़ी के अधिकांश लेखक अनुवाद कार्य प्रायः तात्कालिक आर्थिक आवश्यकताओं/मजबूरियों के कारण ही करते थे। परन्तु मोहन राकेश ने इन दोनों नाटकों के अनुवाद किसी बाहरी दबाव या विवशता के तहत नहीं बल्कि अपनी आन्तरिक इच्छा एवं रचनात्मक दबाव के कारण किए थे। इन अनुवादों की पृष्ठभूमि तथा संस्कृत-हिन्दी के प्रकृति-भेद से पैदा होने वाली कठिनाइयों का स्पष्ट संकेत राकेश ने 'शाकुंतल' की 'भूमिका' में किया ही है। वहीं उन्होंने यह महत्वपूर्ण बात भी कही है कि "हर दूसरी-तीसरी पीढ़ी के बाद, और नहीं तो भाषा की दृष्टि से ही, इन रचनाओं के

नए-नए अनुवादों की आवश्यकता पड़ती रहेगी। इस तरह यह अनुवाद भी आज के लिए है—आने वाले कल को इसका स्थान किसी और अनुवाद को लेना होगा।” परन्तु इस संदर्भ में एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि लगभग आधी शताब्दी बीत जाने के बावजूद राकेश के ये दोनों नाट्यानुवाद पाठ्य और अभिमंचन दोनों दृष्टियों से आज भी उतने ही प्रासंगिक, सार्थक और लोकप्रिय बने हुए हैं। ‘मृच्छकटिक’ के तो बोलियों में दो-एक अच्छे अनुवाद फिर भी हुए हैं, लेकिन ‘शाकुंतल’ का तो एक भी उल्लेखनीय नया अनुवाद नहीं हुआ है। इसका सबसे बड़ा कारण सम्भवतः यही है कि आत्मा की पूर्णतः रक्षा करके भी मूल रचनाओं की देहान्तरण प्रक्रिया के प्रति राकेश पूरी तरह जागरूक ही नहीं, समर्थ भी थे।

—जयदेव तनेजा



मृच्छकटिक

अंक : एक

पात्र

सूत्रधार	शर्विलक
मैत्रेय	कुम्भीलक
चारुदत्त	माँ
शकार	विट
विट	धूता
चेट स्थावरक	रोहसेन
वसंतसेना	स्थावरक
रदनिका	आर्यक
चेटी	वीरक
मदनिका	चंदनक
माथुर	शोधनम
धूतकर	न्यायाधिकृत
दुर्दुरक	श्रेष्ठी
कर्णपूरक	चाण्डाल-1
वर्धमानक	चाण्डाल-2

नान्दी

रक्षा करे
शंकर की ब्रह्मलग्न समाधि
जिसमें
उनकी आँखें
शून्य में खोकर तदाकार हो गई हैं;
दोहरे साँप
पर्यंक ग्रंथियों की तरह
उनके जानुओं को कसे हैं;
प्राणवायु को रोक लेने से
बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया है
तथा इंद्रिय व्यापार स्तब्ध हो गए हैं;
और उनकी तत्त्व दृष्टि
शरीर को विस्मृत कर
आत्मा में आत्मा का साक्षात्कार कर रही है!

एवं

रक्षा करे
नीलकण्ठ का नीला कंठ
जिस पर पार्वती की भुजलता
यूँ शोभित है
जैसे नीले मेघ के वक्ष पर
विद्युत् की रेखा!

नान्दी के अनंतर सूत्रधार का प्रवेश ।

सूत्रधार : अब बस करो भाई, नहीं तो परिषद् के लोग ऊबकर उठ जाएँगे ।...
अभिवादन के अनंतर मैं आप महानुभावों से निवेदन करना चाहता हूँ
कि इस समय हम मृच्छकटिक नामक प्रकरण का अभिनय करने जा
रहे हैं ।

मोहन राकेश रचनावली-11 / 15

जहाँ तक इसके कर्ता का प्रश्न है—
 मत्त गयंद की-सी उनकी गति थी
 और चकोर की-सी आँखें,
 पूनम के चाँद-जैसा मुख
 और सुंदर शरीर।
 द्विजों में प्रमुख तथा अत्यधिक पराक्रमी
 वे कवि शूद्रक के नाम से प्रख्यात थे।

इसके अतिरिक्त

ऋग्वेद और सामवेद के ज्ञाता थे
 गणित, वाणिज्य और हस्तिशिक्षा में पारंगत थे।
 शंकर की कृपा से
 अज्ञान का अंधकार दूर होने से
 उन्हें ज्ञान की आँखें प्राप्त हुई थीं।
 अश्वमेध यज्ञ द्वारा
 अपनी महिमा बढ़ा चुकने पर
 पुत्र को राज्य देकर
 सौ वर्ष और दस दिन की आयु में
 शूद्रक अग्नि में प्रवेश कर गए।

इसके साथ यह भी कथनीय है कि

राजा शूद्रक एक ओर तो कुशल योद्धा थे
 जिन्हें शत्रुओं की गजसेना से
 मल्लयुद्ध करने में आनंद प्राप्त होता था;
 दूसरी ओर
 वे एक नितांत गर्वहीन तपस्वी
 तथा श्रेष्ठ विद्वान भी थे।

उनकी इस रचना में

अवंतिपुरी के दरिद्र युवक चारुदत्त का वर्णन है
 जो सदा द्विजों की पालना करता था;
 और उसके साथ
 वसंत की सुषमा-जैसी सुंदर
 वसंतसेना का
 जो उसके गुणों पर अनुरक्त थी।
 इस रचना में राजा शूद्रक ने

उन दोनों के प्रेम का,
संसार की नीति का,
लोक-व्यवहार की दुष्टता का,
दुष्टों के स्वभाव का
तथा व्यक्ति की नियति का
सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है।

घूमकर इधर-उधर देखता है।

अरे! हमारी संगीतशाला तो सूनी ही पड़ी है! गायक लोग कहाँ गए?
(सोचकर) तो यह बात है!

घर में पुत्र न हो, तो घर सूना है;
एक अच्छा मित्र न हो, तब तो वह और भी सूना है।
यदि व्यक्ति मूर्ख हो, तो (उसके लिए*) दसों दिशाएँ सूनी हैं,
और यदि पास में धन न हो,
तो सबकुछ सूना-ही-सूना है।

संगीत हो चुका। इतनी देर की संगीतोपासना से भूख के मारे आँखें
बाहर निकलने को आ गई जैसे गरमी की चिलकती हुई धूप में सूखा
हुआ कमल का बीज। तो गृहिणी को बुलाकर पूछूँ कि कलेवे के लिए
कुछ है या नहीं। आवश्यकता और सुविधा की दृष्टि से अब प्राकृत में
बात करूँगा।

(प्राकृत में**) ओह हो! भाई देर तक गाने से भूख के मारे अपना शरीर
कमल की सूखी नाल की तरह हो गया। तो घर चलकर पता करूँ कि
गृहिणी ने कुछ पकाया है या नहीं।

घूमकर सामने देखता है।

यह रहा अपना घर। अब अंदर चलूँ। (अंदर प्रवेश करके इधर-उधर
देखता हुआ) अरे! अपने घर का तो आज विधान ही निराला है। धोए
हुए चावलों का पानी गली में फैला है। लोहे के कड़ाहों की रगड़ से
धरती पर कालिख का ऐसा सुंदर लेप हुआ है कि लगता है जैसे कोई
युवती चंदन रचाए बैठी हो। सुगंध ऐसे उठ रही है कि भूख पहले से
दुगुनी हुई जाती है। कहीं घर में पुराना गड़ा हुआ धन तो नहीं निकल
आया? या कहीं ऐसा तो नहीं कि मुझे ही भूख के मारे सारा संसार
भातमय प्रतीत हो रहा है जबकि वास्तव में घर में कलेवा भी नहीं है!

*** कोष्ठ अनुवादक की ओर से।

सच, भूख के मारे प्राण गले को आ रहे हैं।...यहाँ की तो आज दुनिया ही निराली है। कोई स्त्री मसाला पीस रही है और कोई माला गूँथ रही है। (सोचता हुआ) आखिर बात क्या है? घरवाली को बुलाऊँ तो पता चले कि भेद क्या है। आर्य, ज़रा इधर तो आओ।

नटी : (आती हुई) यह रही मैं, आर्य!

सूत्रधार : स्वागत है, स्वागत है!

नटी : आज्ञा दीजिए, क्या कार्य है?

सूत्रधार : बात यह है कि देर तक संगीतोपासना करने से...मेरा मतलब है घर में कुछ खाने को है या नहीं?

नटी : सभी कुछ है।

सूत्रधार : अर्थात् क्या-क्या है?

नटी : देवताओं के आशीर्वाद से वह सभी कुछ है जो आपको अच्छा लगता है— अर्थात् गुड़ का भात है, घी है, दही है, चावल है...।

सूत्रधार : यह सबकुछ हमारे घर में है? हँसी तो नहीं कर रहीं?

नटी : (स्वगत) तो हँसी ही करती हूँ। (प्रकट) हाँ आर्य, सबकुछ है तो सही— बाज़ार में।

सूत्रधार : (क्रोध के साथ) तुम्हारा कुछ न रहे, तुम्हारी कोई कामना पूरी न हो, दुष्टे! गुलेल के ढेले की तरह आकाश में चढ़ाकर सहसा मुझे नीचे गिरा दिया!

नटी : क्षमा आर्य, क्षमा! मैं तो परिहास कर रही थी।

सूत्रधार : तो बताओ घर में यह नया आयोजन कैसा है? यहाँ एक स्त्री मसाला पीस रही है, वहाँ दूसरी माला गूँथ रही है और पाँच रंगों के फूल भूमि की शोभा बढ़ा रहे हैं।

नटी : आर्य, आज मेरा उपवास है।

सूत्रधार : उपवास है? कौन-सा उपवास?

नटी : अनुरूप पति पाने के लिए किया जानेवाला उपवास।

सूत्रधार : इस लोक में कि उस लोक में?

नटी : उस लोक में।

सूत्रधार : (रोषपूर्वक) देखिए, सज्जनवृंद! मेरे घर का भात उड़ाकर दूसरे लोक के लिए पति ढूँढ़ा जा रहा है!

नटी : न-न, अप्रसन्न न हों आर्य! उपवास इसलिए कर रही हूँ कि दूसरे जन्म में भी मुझे आप-जैसा ही पति प्राप्त हो।

सूत्रधार : तुमसे ऐसा उपवास करने को कहा किसने है?

नटी : आपके वे प्रिय मित्र हैं न चूर्णवृद्ध...उन्होंने।

सूत्रधार : (क्रोध के साथ) उस दासी के बेटे चूर्णवृद्ध ने?

नटी : आर्य, अप्रसन्न न हों। यह उपवास उस लोक में भी आपको ही पाने के लिए है।

पैरों पर गिरती है।

सूत्रधार : अच्छा, उठ जाओ। यह बताओ कि इस उपवास में किया क्या जाता है?

नटी : अपनी स्थिति के अनुरूप ब्राह्मण को निमंत्रित किया जाता है।

सूत्रधार : तो तुम चलो। मैं जाकर किसी अनुरूप ब्राह्मण को लेकर आता हूँ।

नटी : जैसी आज्ञा।

चली जाती है।

सूत्रधार : (घूमकर) अब सोचना यह है कि इस वैभवपूर्ण नगरी उज्जयिनी में अपनी स्थिति के अनुरूप ब्राह्मण कैसे मिलेगा!...अरे! यह चारुदत्त का मित्र मैत्रेय इसी ओर आ रहा है! इससे पूछता हूँ...आर्य मैत्रेय! आप आज...हमारे यहाँ भोजन का श्रीगणेश कर सकेंगे?

नेपथ्य में : नहीं भाई, तुम किसी और ब्राह्मण को बुला लो। मैं इस समय व्यस्त हूँ।

सूत्रधार : आर्य, भोजन तैयार है और साथ में कोई और खानेवाला भी नहीं है। इसके अतिरिक्त कुछ दक्षिणा भी आपको मिल जाएगी...

फिर

नेपथ्य में : भाई, जब मैंने एक बार मना कर दिया है, तो बार-बार यह व्यर्थ हठ क्यों कर रहे हो?

सूत्रधार : इसने तो मना कर दिया। अब कोई दूसरा ब्राह्मण ढूँढ़ूँ...

आमुख

उत्तरीय हाथ में लिये मैत्रेय का प्रवेश

मैत्रेय : कह दिया कि किसी और ब्राह्मण को बुला लो, मैं इस समय व्यस्त हूँ, हाँ!...आज इस मैत्रेय को भी दूसरों के यहाँ निमंत्रण का अन्न खाने जाना पड़ता है। हाथ री अवस्था, तूने तो हमें रूई की तरह धुन दिया! एक समय था जब आर्य चारुदत्त के पास धन था और मैं रात-दिन परिश्रम से बनाए गए ऐसे मोदकों का भक्षण किया करता था जो पेट में जाकर भी सुगंध देते थे। अंदर चत्वर के द्वार पर बैठा सैकड़ों टोकरियाँ चारों ओर फैलाए इस तरह उन्हें उँगलियों से छू-छूकर छोड़

देता था जैसे एक चित्रकार रंगों की कटोरियों के साथ करता है। नगर के आँगन में साँड़ की तरह जुगाली किया करता था। आज यही मैं हूँ कि आर्य चारुदत्त के निर्धन हो जाने से जहाँ-तहाँ जाकर भोजन करता हूँ और पालतू कबूतर की तरह रात को सोने के लिए ही यहाँ आता हूँ।...आर्य चारुदत्त के प्रिय मित्र चूर्णवृद्ध ने चमेली की गंध से सुगंधित यह उत्तरीय भेजा है। कहा है कि आर्य चारुदत्त देव-कार्य संपन्न कर चुकें, तो उन्हें दे दूँ। तो चलकर आर्य चारुदत्त को देखूँ। (घूमकर देखता है।)...यह रहे आर्य चारुदत्त! देव-कार्य संपन्न करके देवताओं की बलि बाँटते हुए इधर ही आ रहे हैं।

वर्णित स्थिति में रदनिका के साथ चारुदत्त का प्रवेश

चारुदत्त : (ऊपर की ओर देखता हुआ दुःखपूर्ण निःश्वास के साथ)

यह वही घर की देहली है

जहाँ कभी हंसों और सारसों की पंक्तियाँ बलि का अन्न

खाया करती थीं।

आज यहाँ सूखी घास उगी है

और अंजलि से जो अन्न गिरता है

वह भी कीड़ों का खाया हुआ है।

धीरे-धीरे घूमकर बैठ जाता है।

विदूषक : यह रहे आर्य चारुदत्त! तो पास चलूँ।...आर्य, कल्याण हो, संपत्ति की वृद्धि हो।

चारुदत्त : मैत्रेय! मेरे सदा के मित्र! आओ मित्र, स्वागत है। आसन लो।

विदूषक : जैसी आज्ञा।...मित्र, तुम्हारे प्रिय मित्र चूर्णवृद्ध ने चमेली की गंध से सुगंधित यह उत्तरीय भेजा है। कहा है कि आर्य चारुदत्त देव-कार्य संपन्न कर चुकें, तो उन्हें दे देना।

चारुदत्त उत्तरीय लेकर कुछ सोचने लगता है।

अब तुम सोचने क्या लगे?

चारुदत्त : मित्र,

दुःख के बाद सुख प्राप्त हो

तो लगता है

जैसे घने अँधेरे में सहसा

दीपक की लौ लहरा उठी हो।

परंतु सुख का अनुभव करके यदि व्यक्ति निर्धन हो जाए,

तो शरीर रहते हुए भी

R
001
तन्त्रिका-मौ

उसका जीवन
मृत्यु के समान है।

विदूषक : मित्र, मृत्यु और दारिद्र्य में से एक को चुनना हो तो तुम क्या चुनोगे?

चारुदत्त : देखो मित्र,

मृत्यु और दारिद्र्य, इन दोनों में

मृत्यु ही अधिक वाँछनीय है।

मृत्यु का क्लेश अल्पकालिक है!

जबकि दारिद्र्य

अनंत काल का दुःख है।

विदूषक : इतने दुःखी न रहा करो, मित्र! देवताओं द्वारा पी लिये जाने पर प्रतिपदा का चाँद क्षीण होकर और भी रमणीय हो जाता है, याचकों में धन-वितरण करने से आपकी यह क्षीणता भी वैसे ही है।

चारुदत्त : मित्र, मुझे धन की क्षीणता दुःख नहीं देती। परंतु हृदय में यह सोचकर दाह होता है

कि धन के अभाव में

अतिथियों ने इस घर की ओर आना छोड़ दिया है;

हाथी के कपोलों का गाढ़ा मदजल सूख जाने पर

जैसे मधुकर उसके पास मँडराना छोड़ देते हैं।

विदूषक : मित्र,

ये अधम धन के प्रातराश

बरों से डरे हुए ग्वालों के बालकों की तरह हैं।

उसी घर या वन में रहते हैं

जहाँ खाए जाने का डर न हो।

चारुदत्त : मित्र,

सच, धन न रहने की मुझे चिंता नहीं है—

धन का आना और चले जाना भाग्य की बात है।

परंतु धन के नष्ट हो जाने पर लोग मैत्री भी छोड़ देते हैं

यह बात मेरे हृदय को सालती रहती है।

देखो न

दारिद्र्य व्यक्ति के लिए लज्जा का कारण है

और लज्जावश व्यक्ति का तेज तेज नहीं रहता।

है

को।

ग्लानि मन में शोक उपजाती है
और शोक व्यक्ति के विवेक को नहीं रहने देता।

विवेक का नाश सर्वनाश का मार्ग है—

अतः निर्धनता वास्तव में सर्वनाश का मूल है।

विदूषक : मित्र, धन अस्थायी है; उसकी चिंता से संतप्त होना उचित नहीं।

चारुदत्त : मित्र, निर्धनता के कारण

हर समय चिंताएँ घिरी रहती हैं,

शत्रु अपमान करते हैं और नए-नए शत्रु बनने लगते हैं।

मित्र घृणा करते हैं और आत्मीय भी विद्वेष रखने लगते हैं।

स्त्री उपेक्षा करती है

और मन होता है कि वनों में जा रहें।

हृदय में हर समय एक ऐसी आग सुलगती रहती है

जो जलाती नहीं, बस झुलसाती ही है।

मित्र, मैं गृह-देवताओं को बलि अर्पित कर चुका, तुम अब चौराहे पर
जाकर मातृकाओं को बलि अर्पित कर आओ।

विदूषक : नहीं, मैं नहीं जाता।

चारुदत्त : क्यों?

विदूषक : प्रतिदिन पूजा करने से भी जब देवता रुठे रहते हैं, तो उनकी पूजा में
क्या रखा है?

चारुदत्त : नहीं मित्र, ऐसा न करो। यह एक गृहस्थ का नित्यधर्म है।

चित्त से शांत रहकर

बलि अर्पित करते हुए

मन, कर्म और वाणी से

व्यक्ति देव-पूजा करता रहे

तो देवता अवश्य प्रसन्न होते हैं—

इसमें संशय नहीं।

तो जाओ, मातृकाओं को बलि अर्पित कर आओ।

विदूषक : नहीं, मैं नहीं जाता। किसी और को भेज दो। मुझ ब्राह्मण का किया
सब उल्टा हो जाता है—दर्पण की छाया की तरह। बायाँ पक्ष दाएँ और
दायाँ पक्ष बाएँ। दूसरे, प्रदोष का समय है। इस समय राजमार्ग में
गणिकाएँ, विट, चेट तथा राजवल्लभ घूमते रहते हैं। किसी के सामने
पड़ गया, तो मारा जाऊँगा। काले साँप को मेंढक न मिले तो मूसा ही
सही।...और तुम्हीं यहाँ बैठे-बैठे क्या करोगे?

चारुदत्त : अच्छा, तो ठहर जाओ। मैं समाधि से निवृत्त हो लूँ।
नेपथ्य में : वसंतसेने, रुक तो सही।

वसंतसेना का प्रवेश। पीछे-पीछे विट,
शकार और चेट का प्रवेश।

विट : वसंतसेने, रुक तो सही!

डर के मारे अपनी सुकुमार गति छोड़कर
नृत्यकुशल पैरों को जल्दी-जल्दी रखती हुई
तथा उद्विग्न चंचल दृष्टि से
पीछे की ओर देखती हुई
तू ऐसे चली जा रही है
जैसे व्याध के पीछे लगे रहने पर
चकित हिरणी।

शकार : ठहर वसंतसेने, ठहर!

ठोकरें खाती हुई
तू जा रही है, दौड़ रही है, भाग रही है!
ठहर जा, मुशकरा,
मर तो नहीं जाएगी, बाले!
मेरा तपस्वी हृदय
इश तरह जल रहा है
जैसे अंगारों पर रखा हुआ मांश का टुकड़ा।

चेट : आर्यके, ठहर तो जा!

तू तो मेरी बड़ी बहन है—
फिर ग्रीष्म में पंख फैलाए
डरी हुई मयूरी की तरह
भागी क्यों जा रही है?
देख, वन कुक्कुट के शावक-जैसा
मेरा स्वामी भट्टारक
तेरे पीछे-पीछे आ रहा है!

विट : वसंतसेने, ठहर-ठहर!

बालकदली की तरह काँपती हुई,
हवा में काँपता हुआ लाल अंशुक ओढ़े,
तू कहाँ जा रही है?
तेरे चलने से लगता है

चारों ओर लाल कमलों की कोंपलें बिखर रही हैं
या लाल रत्नों की खान को छैनी से छीला जा रहा है।

शकार : रुनन-झुनन, रुनन-झुनन बज रहे हैं आभूषण;

और तू रही है भाग

जैसे राम शे डरी हुई द्रौपदी।

परंतु मैं अभी तेरा अपहरण कर लूँगा

जैसे विश्वावशु की बहन शुभद्रा का अपहरण किया था हनुमान
ने।

चेट : राजवल्लभ की सेवा करो, तो

खाने को मिलेंगे मछली-मांस!

इतना कुछ रहता है इनके घर में

कि कुत्ते भी शव की खोज में नहीं जाते।

विट : भगवति वसंतसेने!

तेरा मुँह ऐसे लाल है

जैसे इस पर लाल मणियों का चूरा मला हो,

अपने कटि-प्रदेश में उज्ज्वल रत्नजटित करधनी पहने,

डरी हुई नगरदेवी की तरह

तू भागकर कहाँ जा रही है?

वसंतसेना : पल्लवक! पल्लवक! परभृतिके! परभृतिके!

शकार : (डरकर) शूनो पंडित, मनुष्य आ रहे हैं।

विट : डरने की कोई बात नहीं।

वसंतसेना : माधविके! माधविके!

विट : (हँसकर) देखा मूर्ख! वह तो अपनी परिचारिकाओं को बुला रही है।

शकार : तो पंडित, शिष्यों को बुला रही है?

विट : और क्या?

शकार : शिष्यों को तो मैं शौ को मार दूँ, शूर हूँ मैं।

वसंतसेना : (शून्य में देखती हुई) हाय, परिचारिकाएँ भी साथ नहीं रहीं! तो अपनी
रक्षा स्वयं ही करनी होगी।

विट : उन्हें खोज ले न!

शकार : वशंतशेनिके, परभृतिका को पुकार, पल्लवक को पुकार—शारे वशंतमाश
को ही पुकार ले! परंतु मैं तेरे पीछे पड़ा हूँ, तो तेरी रक्षा कौन कर
शकता है?

जमदग्नि का पुत्र भीमशेन कि कुंती का पुत्र रावण?

देख, अभी मैं दुःशासन की तरह तुझे केशों से पकड़कर खींचता हूँ।
 और देख
 मेरी अशी बहुत तीक्ष्ण है
 और तेरा मस्तक मेरे हस्त में है—
 कहे तो तेरा शिर काट दूँ, कहे तो तेरे प्राण ले लूँ।
 तेरा मुझसे भागना व्यर्थ है—
 जिश्की मरने की इच्छा हो, वह जी कैसे शकता है?

वसंतसेना : आर्य, मैं अबला हूँ।

विट : इसीलिए तो तुझे पकड़ रहे हैं।

शकार : और इसीलिए मार नहीं रहे।

वसंतसेना : (स्वगत) इसके तो अनुनय से भी भय लगता है। तो दूसरा उपाय करूँ।
 (प्रकट) आर्य, आप मुझसे कोई आभूषण चाहते हैं?

विट : शांति, शांति! वसंतसेने, उद्यान की लता फूल नहीं चुराती। तू आभूषणों की बात न कर!

शकार : शुनो पंडित! यह जन्म की दाशी उश दरिद्र चारुदत्त पर अनुरक्त है और मुझे नहीं चाहती। बाई ओर उश व्यक्ति का घर है—अब कुछ ऐसा करो जिशसे मेरे हाथों इशकी हत्या न हो।

विट : (स्वगत) मूर्ख वही बात कहता है जो नहीं कहनी चाहिए। वसंतसेना चारुदत्त पर क्यों अनुरक्त है? ठीक तो है—रत्न की रत्न से शोभा होती है। जाए बेचारी वहाँ—इस मूर्ख का क्या है! (प्रकट) काणेलीपुत्र, उस सार्धवाह का घर बाई ओर है?

शकार : और क्या? बाई ओर ही तो है।

वसंतसेना : (स्वगत) आश्चर्य है। यदि सचमुच बाई ओर उनका घर है, तब तो इस दुष्ट ने अपराध-अपराध में ही मेरा यह उपकार कर दिया कि उनसे भेंट हो सकेगी।

शकार : शुनो पंडित! इस घने अँधेरे में माष के ढेर में गिरी हुई श्याही की टिकिया की तरह देखते-देखते ही वसंतसेना जाने कहाँ अदृश्य हो गई!

विट : अरे! कितना घना अंधकार है!

दूर तक देखनेवाली मेरी आँखों को अँधेरे ने इस तरह छा लिया है

कि पलकें खुली होने पर भी मेरी आँखें मुँदी हुई-सी हो रही हैं।

एवं

अंगों को अँधेरे ने लीप दिया है,
और आकाश से जैसे अंजन बरस रहा है।
दृष्टि सहसा ऐसे निष्फल हो गई है
जैसे नीच व्यक्ति की की हुई सेवा।

शकार : शुनो पंडित! मैं वशंतसेना का अन्वेषण कर रहा हूँ।

विट : काणेलीपुत्र, कुछ सूत्र भी है कि ऐसे ही अन्वेषण कर रहे हो?

शकार : सूत्र क्या?

विट : कहीं आभूषणों का शब्द हो, या पुष्पमालाओं की सुगंध हो...!

शकार : अँधेरा है फिर भी नाशिका शे मालाओं की सुगंध तो मैं शुन रहा हूँ,
परंतु आभूषणों का शब्द कहीं दिखाई नहीं देता।

विट : (अलग से) वसंतसेने!

मेघ के गर्भ में छिपी हुई विद्युत् की तरह
रात्रि के अंधकार में तू दिखाई नहीं दे रही—
परंतु ऐसा न हो
कि तेरी माला की सुरभि और तेरे नूपुरों का शब्द
तेरी स्थिति का आभास दे दें!
सुना वसंतसेने?

वसंतसेना : (स्वगत) सुना और समझ भी लिया।

आभूषण और माला उतारने का अभिनय
करती है। फिर धूमकर
हाथ से टटोलती है।

दीवार को छूने से पता चलता है यह इस घर का पक्षद्वार है। परंतु
संयोग से द्वार बंद है।

चारुदत्त : मित्र, मेरा जप तो हो चुका। अब तुम मातृकाओं की बलि ले जाओ।

विदूषक : नहीं, मैं नहीं जाता।

चारुदत्त : कितने कष्ट का विषय है!

पास में धन न हो, तो व्यक्ति के स्वजन भी उसकी बात नहीं
मानते;

अच्छे-से-अच्छे मित्र विमुख होने लगते हैं और विपत्तियाँ
बढ़ने लगती हैं।

सत्त्व नष्ट हो जाता है, शील का चंद्रमा म्लान होने लगता है; और
जो पाप किसी और का किया हो, वह भी उसके सिर पर आ
पड़ता है।

एवं

कोई उसके साथ नहीं चलता, कोई आदर से बात नहीं करता;
वह किसी संपत्तिशाली घर के उत्सव में पहुँच जाए तो कोई उसकी
ओर देखता तक नहीं।

अच्छे वस्त्र न रहने से लज्जा के मारे वह स्वयं भले लोगों की दृष्टि
से बचकर रहता है;

कहा जा सकता है कि निर्धनता संसार में छठा महापातक है!

एवं

ओ दारिद्र्य!

मित्र समझकर मेरे शरीर को तुमने अपना आवास बनाया है;

मुझे अपनी चिंता नहीं—

चिंता है तो यही

कि मेरे शरीर के नष्ट हो जाने पर

तुम क्या करोगे? तुम कहाँ जाओगे?

विदूषक : मित्र, मुझे भेजना ही है, तो साथ में रदनिका को भेज दो।

चारुदत्त : रदनिके, तुम मैत्रेय के साथ जाओ।

चेटी : जैसी आर्य की आज्ञा।

विदूषक : रदनिके, तुम बलि और दीपक हाथ में ले लो। मैं चलकर पक्षद्वार
खोलता हूँ।

वसंतसेना : मुझ पर कृपा करके ही जैसे किसी ने पक्षद्वार खोल दिया है। तो अंदर
चलूँ। (देखकर) हाय! दीपक क्यों जल रहा है?

चारुदत्त : क्या बात है, मैत्रेय?

विदूषक : द्वार खोलते ही रुकी हुई हवा ने ऐसा हिलोरा दिया कि दीपक बुझ
गया। रदनिके, तुम पक्षद्वार से बाहर चलो। मैं अंदर चतुशाल से दीपक
जलाकर लाता हूँ।

शकार : शुनो पंडित! मैं वसंतसेना को ढूँढ़ रहा हूँ।

विट : हाँ-हाँ, ढूँढ़ते रहो, ढूँढ़ते रहो।

शकार : (विट को पकड़कर) लो पंडित, पकड़ लिया उशे।

विट : अरे मूर्ख, यह तो मैं हूँ!

शकार : तो तुम यहाँ एक ओर छिपकर खड़े रहो। (फिर ढूँढ़ते हुए चेट को
पकड़कर) लो पंडित, अब पकड़ लिया।

चेट : भट्टारक, यह तो मैं चेट हूँ।

शकार : वह पंडित और यह चेट। पंडित चेट, चेट पंडित। तुम दोनों यहाँ

शाय-शाय खड़े रहो। (फिर ढूँढ़ते हुए रदनिका को वालों से पकड़कर)
पंडित, पंडित! अब देखो उसे पकड़ लिया...पकड़ लिया वसंतशेना को।

अँधेरे में भाग रही थी,
माल्यगंध शे मैंने पहचान लिया
और पकड़कर इश तरह खींच लिया
जैसे चाणक्य ने खींचा था द्रौपदी को।

विट : ले वसंतसेने,

तू चली थी अपने दर्प में कुलपुत्र से मिलने,
इसी अपराध के कारण
फूलों से सजे हुए सेवनीय केशों से
अब तुझे खींचा जा रहा है।

शकार : बाले, तुझे पकड़ लिया है मैंने
केशों शे, बालों शे, शिरोरुहों शे!
तू चीत्कार कर, चीख, विलाप भी कर,
कह हाय ईश्वर, शिव, शंभु, शंकर!

रदनिका : (डरकर) आर्यमित्र, आप यह क्या कर रहे हैं?

विट : काणेनीपुत्र, यह तो किसी और ही का स्वर है।

शकार : नहीं पंडित, जैसे मक्खन की भूखी बिल्ली अपना श्वर बदल लेती है,
उसी तरह इश दाशीपुत्री ने अपना श्वर बदल लिया है।

विट : इसने स्वर कैसे बदल लिया? आश्चर्य की बात है! परंतु आश्चर्य भी
क्या है?

रंगशाला का इसे अनुभव है,
और कलाओं की इसे शिक्षा मिली है।

स्वभाव से चतुर है,

अतः कैसे भी अपना स्वर बदल सकती है।

विदूषक : (आता हुआ) ओह! रात्रि की हवा से दीपक ऐसे टिमटिमा रहा है जैसे
बलिकाष्ठ की ओर ले जाए जा रहे अजापुत्र का हृदय।

(पास आकर और रदनिका को देखकर) रदनिके!

शकार : पंडित, पंडित! मनुष्य आया, मनुष्य!

विदूषक : देखिए, यह बात उचित और संगत नहीं कि आर्य चारुदत्त के निर्धन
हो जाने से बाहर के लोग इस तरह इस घर में आने लगें।

रदनिका : आर्य मैत्रेय, देखो मेरा कैसे अपमान हो रहा है।

विदूषक : अपमान तुम्हारा, नहीं हम लोगों का है।

रदनिका : हाँ, आप लोगों का ही तो।

विदूषक : (क्रोधपूर्वक लाठी उठाकर) देखो, हट जाओ। अपने घर में कुत्ता भी शेर होता है, मैं तो ब्राह्मण हूँ। हट जाओ, नहीं तो अपने भाग्य की तरह कुटिल इस लाठी से इस तरह तुम्हारा सिर कूट दूँगा कि घुन खाए सूखे बाँस की तरह बज उठेगा।

विट : क्षमा कर महाब्राह्मण, क्षमा कर!

विदूषक : (विट को देखकर) अपराधी यह नहीं...(शंका को देखकर) यह अपराधी है। अरे राजा के श्यालक, संस्थानक, दुर्जन, दुर्मनुष्य, यह बात ठीक नहीं। माना कि आर्य चारुदत्त अब निर्धन हो गए हैं परंतु उनके गुणों से उज्जयिनी की जो श्रीवृद्धि हुई है, उसे क्या भूला जा सकता है? तु उनके घर में प्रवेश करके उनकी एक परिचारिका के साथ इस तरह का व्यवहार कर रहा है?

किसी की हीनता को देखकर उसका तिरस्कार करना ठीक नहीं—
यमराज के यहाँ धन की हीनता नहीं गिनी जाती।

वहाँ जानेवाला चाहे कितना भी धनाढ्य हो,

यदि वह चरित्र से हीन है तो उसे हीन गति ही प्राप्त होगी।

विट : (लज्जित भाव से) क्षमा कर महाब्राह्मण! किसी अन्य के भ्रम यह घटना हुई। दर्प के कारण नहीं। देख,
खोज रही है हमारी कामनी...

विदूषक : किसे? इसे?

विट : ऐसी पाप की बात मत कह। मैं सर्वथा तेरे सामने विनत हूँ।

तलवार छोड़कर हाथ जोड़े हुए
उसके पैरों पर पड़ता है।

विदूषक : उठो-उठो, तुम बहुत भले आदमी हो। मैंने अनजाने में तुमसे बुरा-भला कह दिया। अब मुझे पता चल गया है, इसलिए तुम्हारे सामने मैं विनत होता हूँ।

विट : नहीं-नहीं, विनत तो मैं ही हूँ। अब मैं उठूँगा एक आश्वासन पाकर।

विदूषक : क्या आश्वासन?

विट : कि यह बात आर्य चारुदत्त के कानों तक नहीं पहुँचेगी।

विदूषक : अच्छा, नहीं पहुँचेगी।

विट : ब्राह्मण,

तू निःशस्त्र है और हम लोग सशस्त्र हैं।

फिर भी तूने अपने गुणों से हमें जीत लिया है।

तेरी यह अनुकंपा

मैं सिर पर धारण करता हूँ।

शकार : (सक्रोध) क्यों पंडित, इश तरह हाथ जोड़कर इश दुष्ट ब्राह्मण के पैरों पर गिर रहे हो?

विट : मुझे डर लगता है।

शकार : किशिशे डर?

विट : आर्य चारुदत्त के गुणों से।

शकार : क्या गुण हैं उसमें? घर में खाना तक तो है नहीं।

विट : यह बात नहीं।

हमारे जैसे लोगों पर कृपा करने से

वह व्यक्ति धनहीन हो गया है—

धन रहते उसने किसी की अवमानना नहीं की।

याचकों की तृष्णा मिटाकर अब वह ऐसे सूख गया है

जैसे भरा हुआ सरोवर ग्रीष्म की धूप में सूख जाता है।

शकार : अरे, वह जन्मदाशी का पुत्र है कौन?

वीर पराक्रमी पांडव, या राधा का पुत्र श्वेतकेतु?

राम और कुंती की शंतानु अश्वत्थामा, या धर्मपुत्र जटायु?

विट : मूर्ख, वह आर्य चारुदत्त है।

निर्धनों की कामनाएँ पूरी करनेवाला कल्पवृक्ष,

सज्जनों का कुटुंबी, शिक्षितों का आदर्श,

सच्चरित्र की कसौटी तथा सदाचार का सागर।

एक वही है जो सब गुणों का आश्रय तथा हृदय से इतना

सीधा और

उदार है।

वह अकेला ही वास्तव में जी रहा है—

और लोग तो बस साँस ही लेते हैं।

तो आ, इधर से चलें।

शकार : वशंतसेना को साथ लिये बिना ही?

विट : वसंतसेना चली गई है।

शकार : कैशे?

विट : अंधे की दृष्टि की तरह, रोगी की शक्ति की तरह,

मूर्ख की बुद्धि की तरह और आलसी की वृद्धि की तरह;

तेरे हाथ में आकर भी

शत्रु की प्रीति की तरह
वह निकलकर चली गई है।

शकार : मैं वशंतशेना को साथ लिये बिना नहीं जाऊँगा।

विट : तो ठीक है, मैं जाता हूँ।

चला जाता है।

शकार : पंडित की तो इति हो गई। (विदूषक से) अरे काकपादमशतक, दुष्ट
ब्राह्मण, यहाँ नीचे बैठ।

विदूषक : हमें तो पहले ही नीचे बिठा दिया है।

शकार : किशने बिठाया है?

विदूषक : भाग्य ने।

शकार : तो जल्दी से उठ जा।

विदूषक : हाँ, उठेंगे।

शकार : कब?

विदूषक : जब फिर भाग्य साथ देगा।

शकार : तो शुन, तू अब रो दे।

विदूषक : हमें तो पहले ही रोना पड़ रहा है।

शकार : कौन रुला रहा है?

विदूषक : हमारी दुर्गति।

शकार : तो तू जल्दी शे हँश दे।

विदूषक : हँसेंगे।

शकार : कब?

विदूषक : जब आर्य चारुदत्त के अच्छे दिन फिर आएँगे।

शकार : अरे दुष्ट वटुक! जा मेरी ओर शे उश कँगले चारुदत्त शे कह दे कि शोने
और शुवर्ण के आभूषणों शे लदी हुई, नया-नया नाटक देखकर आई हुई
शूत्रधारी-जैशी वह वशंतशेना तुम पर अनुरक्त है। अभी-अभी हम
उशशे अनुनय कर रहे थे कि वह तुम्हारे घर में प्रवेश कर गई। उसे यदि
श्वयं लाकर मेरे हाथों में शौप दो, तो मैं न्यायालय में अभियोग भी नहीं
करूँगा और आपश में तुम्हारा-हमारा प्रेम-शंबंध भी स्थापित हो जाएगा।
यदि ऐशा नहीं करोगे, तो मृत्युपर्यंत हम एक-दूसरे के शत्रु रहेंगे। यह
श्मरण रखो कि

गोबर से लथपथ कुम्हड़ा,

शूखा शान, तला हुआ मांश और हेमंत की रात का पका

हुआ भात—

बहुत समय बीतने पर भी ये बाशी नहीं होते।
 ठीक शे कहना हॉ, और अधिक समय नहीं लेना। और ऐशे कहना
 जिशशे राजप्राशाद के नए हाथी के हौदे में बैठा-बैठा मैं शब शुन शक्कू।
 यदि नहीं कहेगा, तो मैं तेरा शिर इस तरह मशल दूँगा जैशे किवाड़ के
 नीचे कैथ का फल मशला जाता है।

विदूषक : मैं कह दूँगा।

शकार : चेट, पंडित शचमुच चला गया?

चेट : हॉ, चला गया।

शकार : आ, हम लोग भी शीघ्रता शे निकल चलें।

चेट : तो भट्टारक, आप यह तलवार ले लें।

शकार : इशे तू अपने पाश रख।

चेट : यह आपकी तलवार है भट्टारक! इसे आप ही रखें।

शकार : (तलवार उल्टी पकड़कर)

मूली की तरह शफेद और उजली, कोश में बंद,

तलवार लिये कंधे पर

इश तरह भाग रहा हूँ मैं

जैशे भागता है गीदड़

कुत्ते-कुत्तियों के पीछे शे भौंकने पर।

चेट के साथ घूमकर निकल जाता है।

विदूषक : देखो रदनिके, आर्य चारुदत्त से अपने इस अपमान की बात न कहना।
 अपनी दुरवस्था से वह पहले ही दुःखी हैं, इससे उनका दुःख और भी
 बढ़ जाएगा।

रदनिका : आर्य मैत्रेय, आप जानते हैं रदनिका वाणी पर संयम रख सकती है।

विदूषक : हॉ-हॉ, जानता क्यों नहीं?

चारुदत्त : (वसंतसेना को लक्ष्य करके) रदनिके, देखो रोहसेन वायु-सेवन के लिए
 बाहर निकला है, संध्या उतर आने से उसे ठंड न लग जाए। जाकर
 उसे अंदर ले आओ और यह उत्तरीय उसे लपेट दो।

वसंतसेना : (स्वगत) क्या मुझे अपनी परिचारिका समझ रहे हैं?

(उत्तरीय लेकर सूँघती हुई स्पृहापूर्वक) इसमें तो चमेली के फूलों की गंध
 बसी हुई है। तो अभी तक इनका यौवन उदासीन नहीं हुआ।

चारुदत्त : रदनिका, मैंने कहा है रोहसेन को लेकर अंदर चली जाओ।

वसंतसेना : (स्वगत) आपके घर के अंदर प्रवेश करने की अधिकारिणी मैं नहीं हूँ।

चारुदत्त : क्या बात है, रदनिके? उत्तर भी नहीं देती...ओह!

दैवदश व्यक्ति का भाग्य जब क्षीण हो जाता है,
तो उसके मित्रों की मित्रता नहीं रहती,
और दिनों से अनुरक्त लोगों का अनुराग भी छूट जाता है।

विदूषक : (रदनिका के समीप जाकर) मित्र, यह रही रदनिका।

चारुदत्त : रदनिका यह है तो वह दूसरी कौन है?

अपरिचिता वह

जिसे अपना पहना हुआ वस्त्र देकर

मैंने दूषित कर दिया है—

वसंतसेना : (स्वगत) दूषित नहीं भूषित।

चारुदत्त : और जो लग रही है

शरत्कालीन मेघ से ढकी हुई चंद्रलेखा-जैसी!

परंतु परायी स्त्री की ओर देखना उचित नहीं।

विदूषक : मित्र, तुम किसी परायी स्त्री की ओर नहीं देख रहे। यह तो वसंतसेना है।

चारुदत्त : अरे, यह वसंतसेना है?

(स्वगत) वैभव विनाश के समय

इसने हृदय में जो कामना जगा दी है

वह मेरे अंगों में उसी तरह मुरझाई जाती है

जैसे एक असमर्थ व्यक्ति की क्रोध भावना।

विदूषक : मित्र, राजा के साले ने एक बात कही है।

चारुदत्त : क्या बात?

विदूषक : उसने कहा है कि, सोने और सुवर्ण के आभूषणों से लदी हुई नया-नया नाटक देखकर आई हुई सूत्रधारी-जैसी वसंतसेना तुम्हारी ओर आई है। अभी-अभी हम लोग उससे अनुनय कर रहे थे कि वह तुम्हारे घर में प्रवेश कर गई।

...उसे यदि स्वयं लाकर मेरे हाथों में सौंप दो, तो मैं न्यायालय में अभियोग भी नहीं करूँगा और आपस में तुम्हारा-हमारा प्रेम-संबंध भी स्थापित हो जाएगा। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो मृत्युपर्यंत हम एक-दूसरे के शत्रु रहेंगे।

चारुदत्त : (अवज्ञापूर्वक) मूर्ख है वह! (स्वगत) सचमुच देवता की तरह उपासना के योग्य है वह युवती। उस समय मैंने घर के अंदर जाने को कहा, तो भी मेरी भाग्यदशा को देखकर यह अंदर नहीं गई।

(प्रकट) वसंतसेने, अनजाने में तुमसे परिचारिका का-सा व्यवहार करने के कारण मैं अपराधी हूँ, इसलिए सिर झुकाकर खेद प्रकट करता हूँ।
वसंतसेना : आर्य, अपराधिनी मैं हूँ जो बिना अधिकार के यह देहली लाँघ आई हूँ। इसलिए मैं सिर झुकाकर क्षमा चाहती हूँ।

विदूषक : भाई वाह! एक-दूसरे को प्रणाम करने में दोनों के सिर ऐसे मिल गए जैसे धान के साथ धान की मेड़ें। तो लीजिए मैं भी ऊँट के कूबड़-जैसे अपने सिर से आप दोनों को प्रणाम करता हूँ। (उठ खड़ा होता है)

चारुदत्त : आप यह विनम्रता छोड़िए।

वसंतसेना : (स्वगत) इनके शब्दों में कितनी चातुरी और मधुरता है! परंतु आज इस परिस्थिति में यहाँ अधिक ठहरना उचित नहीं। तो यह बात कह सकती हूँ। (प्रकट) आर्य, आप मुझ पर अनुग्रह कर सकें, तो मैं यह आभूषण आपके यहाँ छोड़ जाना चाहती हूँ। इन आभूषणों के लिए ही वे दुष्ट मेरा पीछा कर रहे थे।

चारुदत्त : परंतु धरोहर के लिए यह घर उचित स्थान नहीं है।

वसंतसेना : यह आपने ठीक नहीं कहा, आर्य! धरोहर व्यक्ति को सौंपी जाती है, घर को नहीं।

चारुदत्त : मैत्रेय, आभूषण ले ले।

वसंतसेना : मैं बहुत अनुगृहीत हूँ।

आभूषण देती है।

विदूषक : (आभूषण लेकर) तुम्हारा कल्याण हो।

चारुदत्त : छि: मूर्ख! यह तो धरोहर है।

विदूषक : (अलग से) यदि ऐसा है, तो इसे चोर ही ले जाएँ तो अच्छा है।

चारुदत्त : बहुत शीघ्र ही यह होना चाहिए...

विदूषक : ...कि इसे...इस धरोहर को...?

चारुदत्त : कि इस धरोहर को आप लौटा ले जाएँ।

वसंतसेना : आर्य, मैं चाहूँगी कि ये आर्य साथ चलकर मुझे घर तक पहुँचा जाएँ।

चारुदत्त : मैत्रेय, जा इनके साथ चला जा।

विदूषक : देखो, इसके साथ चलते राजहंस-जैसे तुम्हीं शोभा पाते हो। मैं ब्राह्मण हूँ। चौक में जाने किस-किसने क्या-क्या चढ़ा रखा होगा! मैं वह सब खा-खाकर कुत्ते की मौत मर जाऊँगा।

चारुदत्त : तो ठीक है। मैं ही जाकर इन्हें छोड़ आता हूँ। ऐसी दीपिकाएँ जला दे जो राजमार्ग में भी जलती रह सकें।

चेट* : (अलग से) दीपिकाएँ क्या बिना तेल के ही जल जाएँगी?
 विदूषक : (अलग से) बंधु, अपनी दीपिकाओं में अब उतना स्नेह नहीं है।
 चारुदत्त : रहने दे मैत्रेय, दीपिकाओं की आवश्यकता नहीं। देख न
 नक्षत्रों से घिरा हुआ चाँद
 राजमार्ग को प्रदीप्त करता हुआ उदित हो आया है।
 इसकी गौर किरणें
 अँधेरे में इस तरह फैल रही हैं
 जैसे सूखे पंक में
 दूध की धाराएँ।
 (अनुरागपूर्ण स्वर में) वसंतसेने, वह आपका घर है। आप अंदर चली
 जाएँ।

वसंतसेना अनुरागपूर्ण दृष्टि से उसे
 देखती हुई चली जाती है।

मित्र, वसंतसेना चली गई। तो चल, हम भी घर लौट चलें।
 राजमार्ग सूना है
 केवल प्रहरी आ-जा रहे हैं।
 हमें चोरों से बचना चाहिए
 क्योंकि रात्रि में कुछ भी अनर्थ हो सकता है।
 (घूमकर) इस स्वर्णाभूषण की रखवाली रात को तुझे करनी
 होगी और दिन में वर्द्धमानक को।

विदूषक : जैसी आपकी आज्ञा।

दोनों चले जाते हैं।

मृच्छकटिक के अंतर्गत अलंकार विन्यास नामक प्रथम अंक।

* चारुदत्त का चेहरे वर्द्धमानक जिसके प्रवेश या उपस्थिति का पहले संकेत नहीं है। सुविधा की दृष्टि से यह वाक्य रदनिका से बुलवाया जा सकता है। —(अनु.)

अंक : दो

हिंदी : कवि

चेटी : (आती हुई) माँ ने संदेश देकर आर्या के पास भेजा है। तो अंदर आर्या के पास चलूँ। (घूमकर और देखकर) आर्या ये बैठी हैं। मन लगाए जाने क्या लिख रही हैं! तो पास चलूँ।

उत्कंठित भाव से आसन पर बैठी
वसंतसेना का प्रवेश। पास
में मदनिका बैठी है।

वसंतसेना : हाँ, फिर क्या हुआ?

चेटी

(मदनिका*) : आर्ये, आप बात तो कुछ करती नहीं, बस 'फिर क्या हुआ' कहे जाती हैं।

वसंतसेना : क्या कहा है मैंने?

चेटी

(मदनिका) : 'फिर क्या हुआ'?

वसंतसेना : (भौंहें तिरछी करके) हाँ, ऐसा?

पहली चेटी : (पास आकर) आर्ये, माँ ने आदेश दिया है कि स्नान करके आप देव-पूजा कर लें।

वसंतसेना : दासी, माँ से कह दे कि मैं आज स्नान नहीं करूँगी। वे ब्राह्मण से पूजा करा लें।

चेटी : जैसी आज्ञा।

चली जाती है।

मदनिका : आर्ये, मैं आपको दोष नहीं देती, केवल स्नेहवश पूछती हूँ कि आपको क्या हुआ है?

वसंतसेना : क्यों? तुझे क्या दिखाई देता है?

मदनिका : आपकी अन्यमनस्कता में तो लगता है कि आपका हृदय किसी की कामना में डूबा हुआ है।

वसंतसेना : तेरा अनुमान ठीक है। तू मदनिका है न—दूसरों के हृदय की बात परख लेती है।

* कोष्ठ अनुवादक की ओर से।

मदनिका : तब तो यह बहुत प्रसन्नता की बात है। तो बताइए वह कौन है जिस पर इस बार के महोत्सव में आपकी कृपा हुई है? किसी राजा की सेवा करने जा रही हैं या राजवल्लभ की?

वसंतसेना : मेरी इच्छा सेवा की नहीं है।

मदनिका : तो क्या विशेष विद्या पाकर आए हुए किसी ब्राह्मण युवक के प्रति आप आकृष्ट हुई हैं?

वसंतसेना : ब्राह्मण मेरे लिए पूजनीय हैं।

मदनिका : तो क्या नगर-नगर घूमकर संपत्ति का विस्तार करके आया हुआ कोई वणिक्पुत्र है?

वसंतसेना : नहीं-नहीं। वणिक्पुत्र तो स्नेह-पारावार को भूलकर विदेश चले जाते हैं।

मदनिका : तो न राजा है, न राजवल्लभ। न ब्राह्मण है, न वणिक्पुत्र! फिर वह है कौन जिसके लिए आपके मन में अभिलाषा जागी है?

वसंतसेना : तू मेरे साथ कामदेवायतनोद्यान में गई थी न...!

मदनिका : तो मैं समझ गई।

वसंतसेना : फिर इस तरह तटस्थ होकर मुझसे क्यों पूछ रही है?

मदनिका : अब समझ लिया न! ये वही तो हैं जिन्होंने आपको अपनी शरण में लिया था!

वसंतसेना : अच्छा, तू नाम बता।

मदनिका : वही जो श्रेष्ठियों के चत्वर में रहते हैं।

वसंतसेना : मैं नाम पूछ रही हूँ।

मदनिका : स्वनामधन्य आर्य चारुदत्त।

वसंतसेना : (सोल्लास) सच मदनिके, कितना सही अनुमान है तेरा!

मदनिका : (स्वगत) तो यह बात है! (प्रकट) परंतु आर्य, वे तो सुना है कि सर्वथा निर्धन हैं।

वसंतसेना : यही तो मेरी कामना का कारण है। निर्धन व्यक्ति पर आसक्ति रखने से मैं निंदनीय नहीं समझी जाऊँगी।

मदनिका : परंतु आर्य, आम के बौर छूट जाने पर क्या मधुकरियाँ उस पर मँडराती हैं?

वसंतसेना : इसीलिए तो उन्हें मधुकरियाँ कहते हैं।

मदनिका : तो आप उनसे मिलने क्यों नहीं जातीं?

वसंतसेना : सोचती हूँ कि इस प्रकार जाने से यह न हो कि प्रतिदान की शक्ति न होने से वे आगे स अपना मुँह भी न दिखाएँ।

मदनिका : तो क्या इसीलिए अपना आभूषण उनके पास छोड़ आई थीं?

वसंतसेना : तेरा यह अनुमान भी सही है।

नेपथ्य में : भट्टारक! भट्टारक! दस स्वर्ण-मुद्राओं के लिए रोककर रखा हुआ जुआरी भाग निकला है। पकड़ो, पकड़ो। ठहर...ठहर तू! मैं दूर से ही तुझे देख रहा हूँ।

उसी यवनिका पर संवाहक का प्रवेश;

वह बहुत घबराया हुआ है।

संवाहक : जुआ खेलने में सौ विपत्तियाँ हैं! आश्चर्य है कि

कौड़ी ने आज मुझे ऐसी मार दी है

जैसे बंधन से नई-नई खुली हुई

गधी ने दुलती झाड़ दी हो।

कर्ण की शक्ति ने जैसे घटोत्कच का संहार किया था।

वैसे ही आज शुक्ति ने मेरा संहार कर दिया है।

द्यूताध्यक्ष को गणना में लगे देखकर

मैं झट से वहाँ से भाग निकला।

अब मार्ग तक तो पहुँच गया हूँ—

आगे किसकी शरण जाऊँ!

जब तक ये द्यूताध्यक्ष और द्यूतकर मुझे अन्यत्र ढूँढ़ रहे हैं, तब तक मैं उलटे पैरों शून्य-मंदिर में प्रवेश करके देवी का रूप ग्रहण कर लेता हूँ।

कई तरह नाट्य करके उस स्थिति में

खड़ा हो जाता है। मायुर

तथा द्यूतकर का प्रवेश

मायुर : भट्टारक! भट्टारक! दस स्वर्ण-मुद्राओं के लिए रोका हुआ जुआरी भाग निकला है। पकड़ो, पकड़ो। ठहर...ठहर तू! मैं दूर से ही तुझे देख रहा हूँ।

द्यूतकर : पाताल में चला जा

या इंद्र के शरण में;

द्यूताध्यक्ष के अतिरिक्त

शिव भी तेरी रक्षा नहीं कर सकते।

मायुर : द्यूताध्यक्ष को ठगकर

भय से काँपता हुआ

तू कहाँ-कहाँ जाएगा?

पग-पग पर फिसलता हुआ

कुल की कीर्ति को क्यों कलंकित कर रहा है?

धूतकर : (पदचिह्न देखकर) यहाँ तक पदचिह्न हैं, आगे नहीं हैं।

माथुर : (देखकर सोचता हुआ) अरे उलटे पदचिह्न! मंदिर तो प्रतिमा-शून्य है।
(निश्चय पर पहुँचकर) वह धूर्त जुआरी उलटे पैरों मंदिर में प्रवेश कर गया है।

धूतकर : तो चलो पीछे चलें।

माथुर : आओ।

दोनों मंदिर में प्रवेश करने का अभिनय करते हैं। फिर देखकर एक-दूसरे को संकेत करते हैं।

धूतकर : यह क्या काठ की प्रतिमा है?

माथुर : अरे नहीं, पत्थर की है। (उसे तरह-तरह से हिलाकर और निश्चय पर पहुँचकर) हाँ, ठीक है। आओ, हम लोग जुआ खेलें।

जुआ खेलने लगते हैं।

संवाहक : (खेलने की इच्छा को कठिनाई से रोके हुए, स्वगत) अरे!

नगाड़े का शब्द

जिस तरह राजच्युत राजा के मन को विचलित कर देता है,
उसी तरह

कौड़ियों का शब्द

धनहीन जुआरी के मन में हलचल भर देता है।

जानता हूँ खेलना असंभव है

क्योंकि वह होगा सुमेरु के शिखर से नीचे गिरने की तरह।

फिर भी कोयल के शब्द की तरह मीठा

कौड़ियों का शब्द

मन को दोलायित कर रहा है।

धूतकर : अब दाँव मेरा है।

माथुर : नहीं, मेरा है।

संवाहक : (सहसा पास आकर) नहीं-नहीं, मेरा है।

धूतकर : लो पकड़ लिया इसे।

माथुर : (पकड़कर) अरे भगोड़े, अब तू पकड़ा गया। अब दे मेरी दस स्वर्ण-मुद्राएँ।

संवाहक : आज दे दूँगा।

माथुर : अभी दे न!

संवाहक : कह रहा हूँ दे दूँगा, मान जाओ।

माथुर : अभी दे, इसी समय।

संवाहक : लो, मैं अपना सिर तुम्हारे पैरों में रखता हूँ।

नीचे पड़ जाता है। दोनों उसे मारते हैं।

माथुर : तू जुआरियों की मंडली के नियमों से बँधा है।

संवाहक : (उठकर विषादपूर्वक) जुआरियों की मंडली के नियमों से। हाँ, हम जुआरी इन नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते। परंतु मैं मुद्राएँ दूँ कहाँ से?

माथुर : तो थोड़ी-थोड़ी करके दे।

संवाहक : यह बात ठीक है। (धूतकर के पास जाकर) आधी मुद्राएँ मैं दे देता हूँ, आधी तुम छोड़ दो।

धूतकर : अच्छी बात है, ला।

संवाहक : (माथुर के पास जाकर) आधी मुद्राएँ देने के लिए मैं वचन दे रहा हूँ, आधी तुम छोड़ दो।

माथुर : अच्छा कोई बात नहीं, ऐसा ही सही।

संवाहक : (प्रकट) आधी मुद्राएँ तुमने छोड़ दीं?

माथुर : हाँ, छोड़ दीं।

संवाहक : (धूतकर से) आधी तुमने छोड़ दीं?

धूतकर : हाँ, छोड़ दीं।

संवाहक : तो मैं अब चलता हूँ।

माथुर : अरे दस मुद्राएँ निकाल, जाता कहाँ है?

संवाहक : देखो सज्जनो! अभी-अभी आधी मुद्राएँ देने का मैंने वचन दिया है और आधी इन्होंने छोड़ दी हैं। फिर भी जाने क्यों मुझे रोक रहे हैं?

माथुर : (पकड़कर) धूर्त, मैं माथुर हूँ। इतना कच्चा नहीं हूँ। मैं इस समय तेरे साथ धूर्तता नहीं कर रहा। तू दंड की दस मुद्राएँ मुझे दे दे।

संवाहक : पर दूँ कहाँ से?

माथुर : चाहे जाकर अपने पिता को बेच, कैसे भी दे।

संवाहक : पर मेरा पिता कहाँ है?

माथुर : तो जाकर माता को बेच।

संवाहक : माता भी कहाँ है?

माथुर : तो अपने-आपको बेच।

संवाहक : ठीक है। कृपा करके मुझे राजमार्ग पर ले चलिए।

माथुर : चल।

संवाहक : चलिए। (धूमकर) सज्जनो! दस मुद्राएँ देकर इस धूताध्यक्ष से मुझे मोल ले लीजिए। (आकाश की ओर देखकर) क्या कहा? 'क्या काम करेगा?'

घर का सब काम करूँगा। अरे, बिना उत्तर दिए ही चल दिए? अच्छा, तो दूसरे से पूछता हूँ। लो ये भी उपेक्षा दिखाकर चले गए। आज आर्य चारुदत्त के पास धन नहीं है, इसलिए मुझ मंद-भाग्य की यह दशा है।

माथुर : अब दे न!

संवाहक : कहाँ से दूँ?

नीचे पड़ जाता है। माथुर उसे
खींचने लगता है।

संवाहक : बचाओ लोगो, बचाओ!

दर्दुरक का प्रवेश

दर्दुरक : जुआ खेलना बिना सिंहासन के राज्य पा लेना है।
किसी द्वारा अनादर की चिंता नहीं,
प्रतिदिन कितना ही धन आता है और चला जाता है।
हर समय और धन पाने की इच्छा है,
और बड़े-बड़े धनिक आसपास घूमते रहते हैं—
फिर जुआरी राजा नहीं तो क्या है?

एवं

पैसा मिला जुए में!
मित्र मिले जुए में!
खाया-पिया जुए में!
और सबकुछ खोया जुए में!

एवं

तिकड़ी ने सबकुछ छीन लिया
और दुकड़ी ने लहू ही सुखा दिया।
अपनी शपथ से टूटा हुआ
जीतनेवाले से जान छुड़ाकर
किसी तरह मैं बचकर आया हूँ।

(आगे देखकर) यह अपना पुराना द्यूताध्यक्ष माथुर इधर को
आ रहा है। अब भाग तो नहीं सकता, यहीं छिपकर खड़ा हो रहता हूँ।

छिपने का नाट्य करके खड़ा हो जाता है।

(अपने उत्तरीय को देखकर)

तार-तार यह वस्त्र
सौ-सौ छिद्रों से आभूषित है।
शरीर ढकने में असमर्थ

यह तह किया ही अच्छा है!
 यों यह बेचारा करेगा भी क्या?
 एक पैर धरती पर रखे, दूसरा आकाश में उठाए
 सूर्यास्त होने तक
 मैं लंबा होकर खड़ा रह सकता हूँ।

माथुर : दे न!
 संवाहक : कहाँ से दूँ?

माथुर उसे खींचता है।

दुर्दुरक : अरे, यह सामने क्या हो रहा है? (आकाश की ओर देखकर) क्या कहा?
 कि 'धूताध्यक्ष इस जुआरी की दुर्गति कर रहा है और कोई उसे छुड़ाता
 नहीं?' तो मैं दुर्दुरक जाकर उसे छुड़ाता हूँ। (पास जाकर) हटिए, हटिए!
 (देखकर) अरे, यह तो धूर्त माथुर है और यह है बेचारा संवाहक!

वह दुबला और कोमलकाय व्यक्ति
 क्या जुआ खेलेगा
 जो नतमस्तक हो
 सूर्यास्त होने तक
 एक पैर पर खड़ा नहीं रहा,
 जिसकी पीठ
 नुकीले पत्थरों पर घसीटे जाने से
 बार-बार छिली नहीं गई,
 और जिसकी जाँघों का मांस कितनी ही बार—
 कुत्तों ने काट-काटकर नहीं खाया?
 अच्छा, माथुर को तो शांत करूँ। (पास जाकर) प्रणाम करता हूँ माथुर!
 माथुर भी अभिवादन करता है।

यह क्या हो रहा है?

माथुर : इसकी ओर मेरी दस मुद्राएँ निकलती हैं।
 दुर्दुरक : यह तो बहुत ही तुच्छ राशि है।
 माथुर : (दुर्दुरक की काँख से उत्तरीय खींचकर) सज्जनो! फटे चीथड़े पहने यह
 व्यक्ति दस मुद्राओं को तुच्छ राशि बताता है।
 दुर्दुरक : अरे मूर्ख, तेरी ये दस मुद्राएँ मेरे ऊपर नहीं। जिसके पास धन होता
 है, वह उसे गोदी में तो नहीं लिये फिरता!
 दस मुद्राओं के लिए तेरा यह व्यवहार
 जैसे कि तू मरा जा रहा है!

और पूरी पाँच इंद्रियों से युक्त,
एक पुरुष की तू जान ले रहा है!

माथुर : भगवन्, आपके लिए दस मुद्राएँ तुच्छ हैं। मेरी तो वे पूरी संपत्ति हैं।

दर्दुरक : तो ऐसा कर, कि इसे दस मुद्राएँ और दे दे जिससे यह तेरे साथ जुआ खेल सके।

माथुर : इससे क्या होगा?

दर्दुरक : जीत जाएगा तो तेरी मुद्राएँ दे देगा।

माथुर : और नहीं जीतेगा तो?

दर्दुरक : तो नहीं देगा।

माथुर : यह बक-झक मत कर। इतनी बातें जो कर रहा है, तो तू ही क्यों नहीं दे देता? मेरा नाम माथुर है। यों ही जुआ नहीं खेलता। और मैं किसी अच्छे-भले व्यक्ति से भी नहीं डरता, तू तो है ही चरित्रहीन।

दर्दुरक : कौन चरित्रहीन है?

माथुर : तू चरित्रहीन है।

दर्दुरक : चल-चल चरित्रहीन कहनेवाला!

संवाहक से निकल जाने के लिए
संकेत करता है।

माथुर : अरे चतुर! तू इसी तरह जुआ खेलता है?

दर्दुरक : हाँ, मैं इसी तरह जुआ खेलता हूँ।

माथुर : देख संवाहक, मेरी दस मुद्राएँ दे दे।

संवाहक : जब कह दिया है कि आज दे दूँगा, तो दे ही दूँगा।

माथुर उसे खींचता है।

दर्दुरक : देख, आँख की ओट में तू चाहे जो कर, मेरे सामने तू यह व्यवहार नहीं कर सकता।

माथुर संवाहक को खींचकर उसकी नाक पर
मुक्का मारता है। संवाहक के लहू निकल

आता है और वह मूर्च्छा का अभिनय
करता हुआ गिर जाता है। दर्दुरक दोनों के
बीच में आ जाता है। माथुर दर्दुरक को

मारने लगता है। दर्दुरक उसे मारने लगता है।

माथुर : नीच! अधम! देखना तुझे इसका क्या फल मिलता है!

दर्दुरक : अरे तूने आज मुझे यहाँ रास्ते में मार लिया है, कल न्यायालय में मारे
तो देखना।

माथुर : देख लूँगा।

दर्दुरक : देख लेगा! कैसे देख लेगा?

माथुर : (आँख फाड़कर) ऐसे!

दर्दुरक माथुर की आँखों में धूल डाल देता है
और संवाहक को भाग जाने के लिए संकेत
करता है। माथुर आँख पर हाथ रखे हुए
नीचे गिर जाता है। संवाहक भाग जाता है।

दर्दुरक : (स्वगत) आज प्रधान द्यूताध्यक्ष ने माथुर से झगड़ा मोल ले लिया। अब
यहाँ रहना उचित नहीं। मेरे प्रिय मित्र शर्विलक ने कहा था, ज्योतिषियों
का कहना है कि ग्वालों का बालक आर्यक राजा बनेगा। इसलिए
हम-जैसे सब लोग उसका अनुसरण कर रहे हैं। तो मैं भी उसी के पास
चलता हूँ।

चला जाता है।

संवाहक : (भयपूर्वक इधर-उधर घूमकर और आगे देखकर) सामने किसी के घर
का द्वार खुला है। इसके अंदर चला जाता हूँ। (प्रवेश करने का अभिनय
करके और वसंतसेना को देखकर) आर्ये, मैं आपकी शरण में हूँ।

वसंतसेना : शरणागत को कोई भय नहीं होना चाहिए। दासी, पक्षद्वार बंद कर दे।
मदनिका द्वार बंद कर देती है।

तुझे किससे भय है?

संवाहक : धनिक से।

वसंतसेना : दासी, द्वार में साँकल लगा दे।

संवाहक : (स्वगत) क्या मेरी तरह यह भी धनिकों से डरी हुई है? सच तो है
यदि व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार भार उठाकर चले
तो न तो उसे गिरना पड़ता है
और न ही दुर्गम मार्गों में जाकर उसका विनाश होता है।
लगता है यहाँ भी मुझे देख लिया गया है।

माथुर : (आँखें मलकर द्यूतकर से) अरे, मेरी मुद्राएँ।

द्यूतकर : स्वामी, दर्दुरक जब हमसे कलह कर रहा था, तो वह व्यक्ति भाग गया।

माथुर : मेरे मुक्के से उसकी नाक फूट गई थी। तो आओ, लहू की बूँदों के
पीछे-पीछे चलते हैं।

द्यूतकर : (पीछे-पीछे चलता हुआ) स्वामी, वह वसंतसेना के घर में चला गया है।

माथुर : तब तो अपनी मुद्राएँ गई।

द्यूतकर : तो न्यायालय में जाकर सूचना दें?

माधुर : वह धूर्त तब तक यहाँ से निकलकर कहीं और चला जाएगा। चलकर वसंतसेना से प्रार्थना करके उसे पकड़ लेते हैं।

वसंतसेना मदनिका को संकेत करती है।

मदनिका : आप कहाँ से आए हैं, आर्य? कौन हैं आप? किसके संबंधी हैं आप? आपकी आजीविका क्या है? आपको भय किससे है?

संवाहक : सुनिए आर्य! मैं पाटलिपुत्र का रहनेवाला हूँ। गृहस्थ की संतान हूँ। संवाहक* का कार्य करता हूँ।

वसंतसेना : बहुत सुकुमार कला सीखी है आपने।

संवाहक : सीखी थी तब कला थी, अब तो आजीविका है।

मदनिका : आपने बहुत खेद के साथ यह बात कही है। हाँ, और?

संवाहक : अपने यहाँ पर्यटकों के मुँह से इस अद्भुत प्रदेश की प्रशंसा सुनकर देखने के लिए कुतूहल से यहाँ चला आया था। यहाँ उज्जयिनी में आकर एक ऐसे सज्जन की सेवा करता रहा जो देखने में जितने सुंदर हैं, उतने ही प्रियवादी भी हैं। दान देकर कभी चर्चा नहीं करते और कोई उनका बुरा भी करे, तो झट भूल जाते हैं। अधिक क्या कहूँ—उदारता उनमें इतनी है कि अपनी आत्मा को भी दूसरों की ही वस्तु समझते हैं। कोई भी शरण में आ जाए, तो उसकी रक्षा करते हैं।

मदनिका : ऐसा कौन है जो आर्या के मनोनीत व्यक्ति के गुणों को चुराकर उज्जयिनी की शोभा बढ़ा रहा है?

वसंतसेना : ठीक बात सोची तूने दासी! मेरा हृदय भी यही बात कह रहा था।

मदनिका : हाँ, तो आर्य, आगे...?

संवाहक : आर्य, अब वे उदारतापूर्वक लोगों को दान दे-देकर...

वसंतसेना : धनहीन हो गए हैं?

संवाहक : बिना कहे ही आपने कैसे जान लिया?

वसंतसेना : इसमें जानने को क्या है? जहाँ गुण हैं, वहाँ धन नहीं रहता। पानी से वही सरोवर भरे रहते हैं जहाँ कोई पीनेवाला न आता हो।

मदनिका : आर्य, उन महानुभाव का नाम क्या है?

संवाहक : आर्य, उस पृथ्वी के चंद्रमा का नाम कौन नहीं जानता! श्रेष्ठियों के चत्वर में वे रहते हैं और उनका सम्मानित नाम है आर्य चारुदत्त।

वसंतसेना : (आसन से उतरकर सहर्ष) यह घर आपका अपना ही है। दासी, इन्हें आसन दे दे और पंखे से हवा कर। ये बहुत थके हुए हैं।

मदनिका आदेश का पालन करती है।

* शरीर सम्पर्क : मालिश करनेवाला।

संवाहक : अरे! आर्य चारुदत्त का नाम लेते ही मेरा आदर होने लगा! धन्य हैं आप आर्य चारुदत्त! संसार में जीवित केवल आप ही हैं, शेष लोग तो केवल साँस ही लेते हैं। (वसंतसेना के चरणों पर गिरकर) बहुत हुआ आर्य, अब और रहने दें। आप आसन ग्रहण करें।

वसंतसेना : (आसन पर बैठकर) आर्य, वह धनिक कहाँ है?

संवाहक : वास्तव में धनिक वह सज्जन है
जिसके पास सत्कार का धन है
चलाचल संपत्ति किसके पास नहीं रहती?
जो सत्कार करना जानता है,
सत्कार के उपकरणों का भी उसी को पता रहता है।

वसंतसेना : हाँ, तो आप कह रहे थे कि...?

संवाहक : उन्होंने वेतन पर अपने यहाँ मुझे परिचारक के रूप में रख लिया। परंतु जब उनके पास केवल चरित्र का धन ही शेष रह गया, तो मैं जुआ खेलकर अपना निर्वाह करने लगा। परंतु भाग्य प्रतिकूल था। जुए में दस स्वर्ण-मुद्राएँ हार गया।

माथुर : हाय, मैं मारा गया! मुझे ठग लिया गया!

संवाहक : ये द्यूताध्यक्ष और द्यूतकर मुझे खोजते हुए आ रहे हैं। मैंने आपको सबकुछ बता दिया है। अब आप जैसा उचित समझें, वैसा करें।

वसंतसेना : मदनिके, आँधी जब पेड़ को उखाड़ देती है, तो उस पर रहनेवाले पक्षी भी असह्य होकर इधर-उधर भटकने लगते हैं। तू जा और जाकर यह कंगन द्यूताध्यक्ष और द्यूतकर को दे दे। कहना कि यह इन्होंने दिया है।
हाथ से कंगन उतारकर देती है।

मदनिका : (कंगन लेकर) जैसी आज्ञा।

चली जाती है।

माथुर : हाय मैं मारा गया! मुझे ठग लिया गया!

मदनिका : ये दोनों जिस प्रकार ऊपर देख रहे हैं, लंबी-लंबी साँसें ले रहे हैं और द्वार पर आँखें गड़ाए परस्पर बातें कर रहे हैं, उससे लगता है कि द्यूताध्यक्ष और द्यूतकर यही हैं। (पास जाकर) आर्य, प्रणाम करती हूँ।

माथुर : सुखी रहो।

मदनिका : आर्य, आपमें से द्यूताध्यक्ष कौन है?

माथुर : कौन हो तन्वंगि तुम? देखो, मेरे पास देने-लेने को कोई उपहार नहीं है, तुम किसी और के पास जाओ।

मदनिका : तुम जो इस प्रकार की बात कह रहे हो, इससे निश्चय ही द्यूतकर तुम

नहीं हो। किसी पर तुम्हारा कुछ ऋण निकलता है क्या?

माथुर : हाँ, एक व्यक्ति पर दस मुद्राएँ निकलती हैं। परंतु तुम उसकी बात क्यों कर रही हो?

मदनिका : उसकी ओर से आर्या ने एक कंगन दिया है। नहीं-नहीं, उसने स्वयं ही यह कंगन दिया है।

माथुर : (कंगन लेकर सहर्ष) देखो, उस कुलीन से कहना कि उसका ऋण उतर गया है, अब वह फिर खेलने के लिए आया करे।

मदनिका : (वसंतसेना के पास जाकर) आर्ये, धूताध्यक्ष और धूतकर संतुष्ट होकर चले गए हैं।

वसंतसेना : ठीक है। हमारे बंधु अब आश्वस्त हो रहें।

संवाहक : आर्ये, यदि आप यह चाहती हैं, तो मुझे अवसर दें कि मैं आपकी कुछ सेवा कर सकूँ।

वसंतसेना : आर्य, आपने जिनकी पहले सेवा की है, उन्हीं की सेवा अब भी कीजिए।

संवाहक : (स्वगत) आर्या ने किस चतुराई से मना किया है! तो मैं इनके उपकार का प्रतिदान कैसे दूँ? (प्रकट) आर्ये, धूतकर ने मेरा जो अपमान किया है, उसके कारण मैं अब बौद्ध भिक्षु बन जाऊँगा। आप इस बात का स्मरण रखें कि जुआरी संवाहक बौद्ध भिक्षु बन गया था।

वसंतसेना : नहीं, आपको ऐसा नहीं करना चाहिए।

संवाहक : नहीं आर्ये, मैंने निश्चय कर लिया है।

(धूमकर)

जुआ खेलने से मेरा

सारे संसार के सामने अपमान हुआ।

अब सिर मुड़ाकर, निर्भीक,

मैं राजमार्ग पर घूमूँगा।

नेपथ्य में कोलाहल।

संवाहक : (सुनकर) अरे! यह क्या? (आकाश की ओर देखकर) क्या कहा? वसंतसेना का खुंटमोड़क नामक दुष्ट हाथी बिगड़ उठा है? तो चलकर उस मतवाले हाथी को देखूँ! परंतु मुझे क्या लेना है? मुझे अपने पहले के निश्चय का पालन करना चाहिए।

चला जाता है। उसी यवनिका पर कर्णपूरक का प्रवेश। उसकी उज्ज्वल वेशभूषा में एक विकटता भी है।

कर्णपूरक : आर्या किधर हैं? किधर हैं आर्या?

मदनिका : दुर्जन, तू इस तरह घबराया हुआ क्यों है? आर्या सामने बैठी हैं, और तुझे वे दिखाई नहीं दे रहीं?

कर्णपूरक : (देखकर) आर्ये, प्रणाम करता हूँ।

वसंतसेना : क्या बात है, कर्णपूरक? बहुत प्रसन्न लग रहा है?

कर्णपूरक : (विस्मय के स्वर में) आर्ये, आपने कर्णपूरक का पराक्रम नहीं देखा, तब तो आपने कुछ भी नहीं देखा।

वसंतसेना : बता तो सही, क्या बात है?

कर्णपूरक : सुनिए। आपका वह दुष्ट हाथी है न खुंटमोडक...वह आलान के खंभे को तोड़कर, प्रधान हस्तिपाल को मारकर, बहुत उपद्रव करता हुआ राजमार्ग पर जा पहुँचा। उसे देखकर लोग चिल्लाने लगे—

बालकों को हटा लो,

वृक्ष या प्रासाद

जो सामने मिले, उस पर चढ़ जाओ।

तुम्हें दिखाई नहीं देता

कि विगड़ा हुआ हाथी सामने से आ रहा है?

एवं

सहसा दो-दो नूपुर छनकने लगे,

और मणियों से गुँथी हुए मेखलाएँ

तथा नन्हें-नन्हें रत्नों से जड़े हुए कंगन

टूट-टूटकर गिरने लगे।

वह दुष्ट हाथी तब अपनी सूँड, पैरों तथा दाँतों से इस तरह सारी उज्जयिनी को हिलाने लगा जैसे एक खिली हुई कमलिनी से अधिक कुछ न हो। फिर एक संन्यासी को उसने दबोच लिया। संन्यासी के दंड-कमंडलु दूर जा गिरे। उसे हाथी के टपकते हुए दाँतों में जकड़े देखकर लोग फिर चिल्लाने लगे कि 'हाय संन्यासी' मारा गया।'

वसंतसेना : कैसी अनर्थ की बात है!

कर्णपूरक : आप ऐसे उद्विग्न न हों और मेरी बात पूरी सुनें। जब इस कर्णपूरक ने...नहीं-नहीं, आपके अन्न से पले हुए इस दास ने देखा कि हाथी ने अपनी शृंखलाएँ तोड़-फोड़ दी हैं और संन्यासी को दाँतों में लेकर ऊपर उठा लिया है, तो बाईं ओर जाकर इसने संन्यासी बने हुए जुआरी को ढाँढ़स बाँधाया और एक दुकान से लोहे का डंडा लेकर हाथी के सामने जा पहुँचा।

वसंतसेना : फिर?

कर्णपूरक : विंध्यपर्वत के शिखर-जैसे

उस हाथी को मेरे क्रोध ने मार दिया,
फँसे हुए संन्यासी का उद्धार कर दिया।

वसंतसेना : बहुत अच्छा किया। फिर क्या हुआ?

कर्णपूरक : फिर तो चारों ओर लोग ऊँचे स्वर में कहने लगे कि 'वाह कर्णपूरक, वाह!' सारी उज्जयिनी इस तरह उस ओर झुक आई जैसे भरी हुई नाव का सारा भार एक ही ओर को उलट गया हो। तभी एक व्यक्ति ने अपने आभूषण पहनने के स्थान को छूकर देखा और उन्हें सूने पाकर एक लंबी साँस ली और यह उत्तरीय मेरे ऊपर फेंक दिया।

वसंतसेना : देखना कर्णपूरक, इस उत्तरीय में चमेली के फूलों की गंध तो नहीं बसी हुई?

कर्णपूरक : आर्ये, मेरी नाक में तो हाथी के मूत्र की गंध इस तरह समाई हुई है कि और किसी गंध का मुझे पता ही नहीं चलता।

वसंतसेना : तो यही देख कि इस पर नाम किसका है?

कर्णपूरक : देखिए, यह नाम है, आप ही पढ़ लें।

उत्तरीय उसके पास ले जाता है।

वसंतसेना : आर्य चारुदत्त का ही नाम है।

पढ़कर अभिलाषा के साथ
उत्तरीय को ओढ़ लेती है।

कर्णपूरक : आपके शरीर पर यह उत्तरीय बहुत सुंदर लगता है।

वसंतसेना : कर्णपूरक, यह ले तू अपना पुरस्कार!

उसे एक आभूषण देती है।

कर्णपूरक : (आभूषण को सिर से लगाकर तथा प्रणाम करके) यह उत्तरीय अब आपके शरीर पर अब और भी सुंदर लगता है।

वसंतसेना : कर्णपूरक, इस समय आर्य चारुदत्त किस ओर गए हैं?

कर्णपूरक : इसी मार्ग से अपने घर की ओर गए हैं।

वसंतसेना : दासी, चल डयोढ़ी के ऊपर से हम उन्हें देखें।

सबका प्रस्थान।

धूतकर संवाहक नामक दूसरा अंक।

अंक : तीन



[Faint, illegible text visible through the paper, likely bleed-through from the reverse side.]

चेट का प्रवेश ।

चेट : सहृदय और दयावान स्वामी

धनहीन भी हो तो अच्छा है ।

उस स्वामी की सेवा करना कठिन और परिणाम में कष्टदायक है,

जो धन पर गर्व करता हो और स्वभाव का अच्छा न हो ।

एवं

शाली का भूखा बैल हटाए नहीं हटता ।

जुए में लगा जुआरी हटाए नहीं हटता ।

स्वभाव का कोई भी दोष हटाए नहीं हटता ।

आर्य चारुदत्त को संगीत सुनने के लिए गए बहुत समय हो गया । आधी रात बीत चली, अभी तक लौटकर नहीं आए । तो बाहर के चौबारे में चलकर सो रहूँ ।

वैसा ही करता है । विदूषक के साथ

चारुदत्त का प्रवेश ।

चारुदत्त : अहा ! कितना सुंदर गाता है रेभिल ! वीणा समुद्र से नहीं निकली, फिर भी वह एक रत्न ही है ।

उत्कठित व्यक्ति के लिए वह एक मनोनुकूल मित्र है;

प्रिय के आने में विलंब होने पर

मनोविनोद का सुंदर साधन है ।

विरह-व्याकुल व्यक्ति को धैर्य देने में अनुपम है ।

तथा अनुरागी हृदय में अनुराग बढ़ा दे,

एक ऐसा सुखद यंत्र है ।

विदूषक : मित्र, चलो घर चलें ।

चारुदत्त : सचमुच कितना अच्छा था गायक रेभिल का संगीत !

विदूषक : सुनो । स्त्री तो करे संस्कृत का पाठ और पुरुष गाए काकली—मुझे दोनों को सुनकर हँसी आती है । स्त्री जब संस्कृत पढ़ती है तो वह नई

नकछेदी और अभी की ब्यायी हुई गाय की तरह सूँ-सूँ करती है। और पुरुष जब काकली गाता है तो वह सूखे फूलों की माला पहने बुड़े पुरोहित की तरह मंत्र जपने लगता है। मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता।

चारुदत्त : अरे मित्र, आज तो कलाकार रेभिल ने सचमुच बहुत अच्छा गाया है! तुम्हें फिर भी संतोष नहीं हुआ?

इतना अनुरागवर्द्धक, मधुर, सम और स्पष्ट था वह संगीत—

इतना भावपूर्ण, कोमल तथा मनोहारी—

कि उसकी प्रशंसा में कुछ भी कहना असंगत है।

गायक सामने न रहता तो यही लगता है कि कंठ किसी नारी का है।

एवं

गीत रुक चुका है

परंतु मेरे कानों में उसकी झंकार अब भी गूँज रही है।

मैं अब भी सुन रहा हूँ

वही स्वरों का संचार,

कंठ की कोमलता, वीणा का शब्द,

मूर्च्छना के अंतर्गत वाणी का आरोह और कोमल अवरोह

हिलोरें लेते हुए स्वर का संयम

तथा राग की लय का फिर-फिर आलाप।

विदूषक : देखो, मार्ग की गलियों में कुत्ते भी सुख से सो गए हैं, अब तो घर चलें। (आगे देखकर) देखो, अंधकार को अवसर देने के लिए ही जैसे आकाश की अट्टालिका से चाँद नीचे उतर रहा है।

चारुदत्त : ठीक कहते हो तुम।

आकाश के शिखर तक जाकर

अँधेरे को अवसर देने के लिए ही चाँद

अब अस्त हो रहा है;

उसका आकार

जलमग्न हाथी के

बाहर को निकले हुए

तीखे दाँत-जैसा लग रहा है।

विदूषक : लो, यह रहा अपना घर!...वर्द्धमानक! द्वार खोलना वर्द्धमानक!

चेट : यह आर्य मैत्रेय का स्वर लगता है। तो आर्य चारुदत्त लौट आए!

उठकर द्वार खोल दूँ। (द्वार खोलकर) आर्य, प्रणाम करता हूँ। आपको भी प्रणाम करता हूँ, आर्य मैत्रेय! यह आसन बिछा है, आप लोग यहाँ बैठें।

दोनों प्रवेश का नाट्य करते हैं
और बैठ जाते हैं।

विदूषक : वर्द्धमानक, पैर धोने के लिए रदनिका को बुला ला।

चारुदत्त : (दयापूर्ण स्वर में) नहीं-नहीं, नींद से किसी को जगाने की आवश्यकता नहीं।

चेट : आर्य मैत्रेय, मैं पानी उठा लेता हूँ, आप पैर धो दें।

विदूषक : (क्रोध के साथ) देखो मित्र, यह दासी का पुत्र आप तो पानी उठाएगा और मुझ ब्राह्मण से पैर धुलवाएगा।

चारुदत्त : नहीं मैत्रेय, तुम पानी उठाओ, वर्द्धमानक पैर धो देगा।

चेट : आर्य मैत्रेय, पानी डालिए।

विदूषक पानी डालता है। चेट चारुदत्त के पैर धोकर हट जाता है।

चारुदत्त : इस ब्राह्मण के पैर भी धो दे।

विदूषक : मैं क्या पैर धुलाऊँगा? पिटे हुए गधे की तरह यहाँ भूमि पर ही तो लोटता हूँ।

चेट : आर्य मैत्रेय, आप ब्राह्मण होकर ऐसी बात कहते हैं!

विदूषक : जैसे साँपों में पानी का साँप, वैसे ही ब्राह्मणों में मैं ब्राह्मण!

चेट : फिर भी आर्य मैत्रेय, लाइए मैं धो देता हूँ। (पैर धोकर) आर्य मैत्रेय, इस स्वर्णपात्र की रखवाली दिन को मेरे ऊपर है, रात को आपके ऊपर। इसे ले लीजिए।

स्वर्णपात्र उसे देकर चला जाता है।

विदूषक : (स्वर्णपात्र को लिये हुए) अभी तक यह ज्यों-का-त्यों ही रखा है। इस उज्जयिनी में चोर क्या मर गए हैं जो कोई भी इस दासी के पुत्र नींद के चोर को उठाकर नहीं ले जाता? देखो मित्र, मैं इसे अंदर के चौबारे में रख आता हूँ।

चारुदत्त : ब्राह्मण,

यह धरोहर है

अंदर के चौबारे में नहीं ले जाई जा सकती।

जब तक यह लौटाई नहीं जाती,

तब तक तुम्हें इसे अपने हाथ में ही रखना होगा।

निद्रा का नाट्य करता हुआ फिर मुँह में
बोलने लगता है :
'गीत रुक चुका है...।'

विदूषक : आपको नींद आ गई?

चारुदत्त : हाँ, आ ही गई।

आँखों को मूँदती हुई अदृश्य और अस्थिर नींद
माथे से धीरे-धीरे उतरकर नीचे आ रही है;
तथा बुढ़ापे की तरह शक्तियों को पराजित करती हुई
मुझे अपने अधिकार में ले रही है।

विदूषक : तो दोनों सो जाते हैं!

निद्रा का नाट्य करता है।
शर्विलक का प्रवेश।

शर्विलक : केंचुल छोड़ते हुए साँप की तरह
शरीर को समेटकर
तथा धरती पर घिसटने से
पाश्वर्षी में रगड़ सहकर,
अपने अभ्यस्त तथा बलवान हाथों से लगाई हुई सेंध से
ठीक से अपने को अंदर लाकर
अब मुझे अपने कार्य में प्रवृत्त होना है
(आकाश की ओर देखकर हर्षसहित) अरे, भगवान शशांक अस्त हो
चले! कहना चाहिए कि
राजा के प्रहरी जिससे शक्ति रहते हैं
और जिसकी एकमात्र कला है दूसरों के घरों को छेदना—
ऐसा हूँ मैं; और यह रात
सारे पदार्थों को घने अँधेरे की चादर से ढकती हुई
माँ की तरह
मुझे भी उसमें छिपाए ले रही है।
वृक्षवाटिका के घेरे में सेंध लगाकर उसके रास्ते अंदर तो आ गया हूँ।
अब चौबारे में सेंध लगाऊँ!
लोग भले ही कहें
कि नींद में पड़े हुए, वेसुध व्यक्तियों को ठगकर
उनका अपमान करना
चोरी है, पराक्रम नहीं।

परंतु निंदनीय होने पर भी यह कर्म
 स्वाधीन तो है।
 इसमें किसी की सेवा में
 हाथ बाँधकर खड़े तो नहीं रहना पड़ता।
 और फिर यह मार्ग नया नहीं—
 युधिष्ठिर की सोई हुई सेना की हत्या कर
 अश्वत्थामा पहले ही इसका मार्ग दिखा चुके हैं।
 तो कहाँ संध लगाऊँ?
 कौन-सा ऐसा स्थान है जो
 पानी की मार से शिथिल पड़ चुका है
 और जहाँ आघात करने से अधिक शब्द नहीं होगा;
 जहाँ दीवार सामने नहीं पड़ती
 और बड़ी-सी संध लगाने में कोई भय नहीं है;
 जहाँ घर की मिट्टी नमक से खाई जाकर
 ढेले की तरह भुरभुरी हो गई है;
 जहाँ स्त्रियों का आना-जाना नहीं होता
 और मेरा कार्य ठीक से हो सकता है?

(दीवार को छूकर) यह स्थल है जो नमक का खाया हुआ-सा है। लगता
 है प्रतिदिन सूर्योदय के समय यहाँ जल चढ़ाया जाता है। चूहों ने भी
 यहीं मिट्टी खोद रखी है। वाह! अब तो मेरा काम बन गया! चोरों के
 लिए यही तो सफलता का शकुन है। अब किस तरह की संध लगाकर
 कार्य आरंभ करूँ? भगवान् कनकशक्ति ने संध लगाने का चार नियम
 बताए हैं—अर्थात् पक्की ईंटों को खींचकर निकालो, कच्ची ईंटों में छेद
 करो, मिट्टी के लोंदों को पानी से गलाओ और काठ हो तो उसे आरी
 से चीरो। यहाँ पक्की ईंटें हैं, इसलिए इन्हें खींचकर निकालना पड़ेगा।

खिले हुए कमल का संपुट, सूर्य या अर्द्ध चंद्र,
 विस्तृत सरोवर या स्वस्तिक या पूर्ण कुंभ—
 कैसी आकृति में और कहाँ अपनी कला का प्रकाश करूँ
 कि नगर के निवासी कल देखें और आश्चर्य करें!
 यहाँ पक्की ईंटों में पूर्ण कुंभ की रचना ही अच्छी लगेगी। तो उसी रूप
 में खोदूँ।

रात के समय और भी जहाँ-कहीं
 खोखली दीवारों की तोड़-फोड़ करने में

मैंने अपनी विशेष प्रतिभा दिखाई है,
 उसे देखकर प्रातःकाल
 नगर के निवासी
 एक मुँह से चोरी की निंदा करते हुए,
 दूसरे मुँह से
 मेरे हस्तलाघव की प्रशंसा भी करते हैं।

तो, नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय,
 देवव्रताय, नमो भास्करनंदिने, नमो योगाचार्याय*...योगाचार्य...जिनका
 मैं पहला शिष्य हूँ। उन्होंने ही प्रसन्न होकर मुझे यह योग-लेप दिया है।

इसे शरीर पर मल लेने से
 प्रहरी मुझे नहीं देख पाएँगे;
 और शस्त्र का आघात होने पर
 शरीर पर घाव भी नहीं आएँगे।

लेप शरीर पर मल लेता है।

छिःछिः! नापने का डोरा तो मैं भूल ही आया। (सोच कर) तो इस
 जनेऊ से डोरे का काम लिया जाए। जनेऊ ब्राह्मण के लिए बहुत ही
 उपयोगी वस्तु है; विशेष रूप से मेरे-जैसे ब्राह्मण के लिए। क्योंकि
 सेंध लगाने में यह नापने के काम आ सकता है।

और आभूषण शरीर से जुड़े हों, तो उन्हें इससे उतारा जा
 सकता है।

जहाँ द्वार साँकल से बंद हों वहाँ इससे उन्हें खोला जा
 सकता है।

और यदि कभी कीड़ा या साँप काट खाए तो यह बाँधने
 के काम आ सकता है।

तो नापकर काम आरंभ करूँ। (नापकर ईंटें निकालते हुए दीवार को
 देखकर) अब इस सेंध में एक ईंट निकालना ही शेष रह गया है।...
 हाय-हाय! साँप ने डस लिया!

**जनेऊ से उँगली बाँधकर ऐसे नाट्य
 करता है जैसे विष चढ़ रहा हो।
 साथ ही उपचार भी करता है।**

अब ठीक हो गया।

* कार्तिकेय को नमस्कार, कनकशक्ति को नमस्कार, भास्करनंदी को नमस्कार, योगाचार्य को नमस्कार।

फिर काम पूरा करके अंदर देखता है।

अंदर दीया जल रहा है!

सोने की-सी पीली यह दीये की लौ

संध के मार्ग से बाहर की भूमि पर पड़ रही है।

आसपास के अंधकार से घिरी हुई,

यूँ लगती है जैसे

कसौटी पर खिंची हुई

सोने की रेखा हो!

(काम पूरा करके) संध तो पूरी हो गई। अब अंदर चलूँ। या स्वयं न जाकर पहले अपने प्रतिपुरुष को भेजूँ। (वैसा करके) अरे! यहाँ तो कोई नहीं है। नमः कार्तिकेयाय! अंदर जाकर और देखकर) अरे! दो व्यक्ति सो रहे हैं। तो आत्मरक्षा के लिए द्वार खोल लूँ। घर इतना जीर्ण-शीर्ण है कि किवाड़ भी खुलने में रूँ-रूँ करते हैं। कहीं से पानी ढूँँ!...यहाँ कहाँ होगा पानी?

इधर-उधर ढूँँकर पानी ले आता है

और उसे द्वार पर छिड़कता है।

(शंकित स्वर में) पानी के गिरने से शब्द न हुआ हो।

पीठ की ओर से प्रतीक्षा करके

फिर किवाड़ खोल देता है।

हाँ पहले जाँच कर लेनी चाहिए। जाने दोनों सचमुच सोए हैं या यूँ ही आँखें मूँदकर पड़े हुए हैं।

उन्हें डराने की चेष्टा करता है

और फिर जाँच करता है।

लगता है दोनों सचमुच सोए हैं।

इनके श्वास निश्चित अंतर से आ रहे हैं।

और उनमें आशंका का स्पर्श नहीं है।

आँखें ठीक से मुँदी हुई हैं।

और अंदर से पुतलियाँ अस्थिर नहीं हैं।

अंगों के जोड़ ढीले हो रहे हैं।

और शरीर बिछावन से बाहर को बिखर रहे हैं!

यदि इनकी नींद कपट की नींद हो,

तो सामने दीये की लौ इनसे सही न जाए?

(चारों ओर देखकर) अरे! यह मृदंग पड़ा है! यह दर्दुर रखा है। यह ढोल, यह वीणा और ये बाँसुरियाँ! यहाँ पुस्तकें रखी हैं। यह किसी

नाट्याचार्य का घर तो नहीं? मैं तो बाहर से भवन को देखकर ही चला आया। क्या सचमुच किसी कंगाल का घर है? कहीं राजा और चोरों के डर से इसने धन धरती में तो नहीं गाड़ रखा? परंतु गड़ा हुआ धन क्या शर्विलक से छिपा रह सकता है? अभी बीज फेंककर देखता हूँ। (बीज फेंककर) फेंका हुआ बीज कहीं नहीं बढ़ा। यह तो सचमुच कोई कंगला ही है!... तो चलूँ यहाँ से।

विदूषक : (स्वप्न देखता हुआ) मित्र, मुझे सेंध-सी दिखाई पड़ती है। सामने लगता है चोर खड़ा है।...यह स्वर्णपात्र तुम सँभाल लो।

शर्विलक : इसे पता चल गया है कि मैं यहाँ हूँ, और अपनी निर्धनता के कारण यह मेरा उपहास कर रहा है? तो इसे मार दूँ? संभव है छोटा आदमी है, इसलिए सपना देख रहा है। (देखकर) अरे! फटे हुए अँगोछे में यह तो सचमुच सजावट का स्वर्णपात्र बँधा है जो दीये की लौ में चमक रहा है। इसे छीन लूँ! परंतु नहीं। अपने-जैसे सज्जन को दुःख देना ठीक नहीं। चलना ही चाहिए।

विदूषक : मित्र, तुम्हें गौ और ब्राह्मण की सौगंध जो तुम यह स्वर्णपात्र न ले लो तो...!

शर्विलक : अरे रे रे रे! गोमाता और ब्राह्मण की सौगंध का कैसे उल्लंघन किया जा सकता है? अब तो यह लेना ही पड़ेगा। दीया जल रहा है!...परंतु दीया बुझाने के लिए मेरे पास पतंगा जो है!...यह छोड़ दिया पतंगा कि दीये के आसपास तरह-तरह से मँडराने लगा। छिः! धिक्कार है इस भद्रपीठ को। दो पंखों की हवा से दीया बुझाकर इसने कैसे अंधकार कर दिया है! परंतु धिक्कार मुझे नहीं जिसने ब्राह्मण वंश में ही अंधकार कर रखा है? चारों वेदों के ज्ञाता और कभी किसी से दान न लेनेवाले पिता का पुत्र ब्राह्मण शर्विलक यह कैसा काम कर रहा है!... इस ब्राह्मण की कृपा स्वीकार कर ही लूँ!

स्वर्णपात्र लेने का प्रयत्न करता है।

विदूषक : मित्र, तुम्हारी उँगलियाँ बहुत ठंडी हैं।

शर्विलक : कैसी भूल हो गई! पानी छिड़कने से उँगलियाँ ठंडी हो गई हैं। इन्हें काँख में दबाकर गरम कर लूँ।

दायाँ हाथ गरम करने का नाट्य करके
विदूषक से स्वर्णपात्र ले लेता है।

विदूषक : ले लिया?

शर्विलक : ब्राह्मण की कृपा को क्या छोड़ा जा सकता है?...हाँ, ले लिया।

विदूषक : तो मैं अब माल बेचकर आए हुए व्यापारी की तरह सुख की नींद सो सकता हूँ।

शर्विलक : तू सौ बरस तक सोया रह महाब्राह्मण!...हा-हा! मैंने सारे ब्राह्मण-कुल को अंधकार में धकेल दिया। या मैंने केवल अपने को ही धकेला है!

धिकार है निर्धनता को

जो व्यक्ति के पौरुष के लिए अवकाश नहीं रहने देती।

जानता हूँ कि यह काम धिनौना है,

इसलिए इसकी निंदा भी करता हूँ, मगर साथ किए भी जाता हूँ।

(धूमकर और देखकर) अरे! पैरों का शब्द सुनाई दे रहा है! कहीं प्रहरी तो नहीं आ रहे? अच्छा यहाँ जड़ होकर खड़ा हो जाता हूँ। परंतु मुझे—शर्विलक को—प्रहरियों से क्या भय है? मैं तो

दवे-दवे चलने में बिलाव हूँ, भागने में हिरण और झपटने में बाज़!

सोए और जागते हुए व्यक्तियों की शक्ति को परखने में श्वान!

रेंगने में साँप, रूप और वेश बदलने एवं विभिन्न भाषाएँ बोलने में माया रूप!

रात के समय दीपक, संकट के समय शृंगाल,
सूखी धरती पर चलने में घोड़ा तथा जल के बीच चलने में नाव!

एवं

मैं हूँ गति में साँप

स्थिरता में पहाड़ और यात्रा में गरुड़

एक दृष्टि में सारे संसार को देख लेने में खरहा,

पकड़ में भेड़िया एवं शक्ति में सिंह!

रदनिका : (आती हुई) हाय-हाय! वर्द्धमानक बाहर के चौबारे में सोया था, वह भी दिखाई नहीं दे रहा।...तो आर्य मैत्रेय को पुकारूँ!

धूमती है। शर्विलक रदनिका को मारने के लिए उद्यत हो जाता है।

शर्विलक : (देखकर) अरे, यह तो स्त्री है!...तो चलूँ।

चला जाता है।

रदनिका : (अंदर जाकर डरे हुए स्वर में) हाय रे! चोर हमारे घर में संध लगाकर

भागा जा रहा है। आर्य मैत्रेय, उठो-उठो। देखो, चोर हमारे घर में सेंध लगाकर भागा जा रहा है!

विदूषक : (उठकर) क्या कहती है री तू दासी की पुत्री! हमारे घर में चोर लगाकर सेंध भागा जा रहा है!

रदनिका : हाय-हाय, तुम्हें हँसी सूझ रही है! क्या तुम्हें कुछ भी दिखाई नहीं देता?

विदूषक : अरी दासी की पुत्री! क्या कह रही है तू? हैं! यह तो जैसे किसी ने घर में दूसरा द्वार ही बना दिया है! मित्र चारुदत्त, उठो-उठो। हमारे घर में सेंध लगाकर चोर भागा जा रहा है।

चारुदत्त : छोड़ो मित्र, इस परिहास में क्या रखा है?

विदूषक : परिहास नहीं है, बंधु, तुम देखो तो सही!

चारुदत्त : किधर देखूँ?

विदूषक : इधर यहाँ!

चारुदत्त : (देखकर) अरे! सचमुच किसी ने कितनी सुंदर सेंध लगाई है!

ऊपर और नीचे से ईंटें हटाकर बनाया गया,

ऊपर से छोटा तथा बीच से बड़ा यह छेद,

इस घर के हृदय की तरह है

जो एक अनधिकारी व्यक्ति के अंदर आने से जैसे फट गया है।

इस काम में भी किसी ने क्या कला दिखाई है!

विदूषक : मित्र, यह सेंध दो में से एक ने लगाई होगी—या तो किसी बाहर से आए व्यक्ति ने, या किसी इस काम के विद्यार्थी ने! नहीं तो उज्जयिनी में कौन हमारे घर की स्थिति को नहीं जानता?

चारुदत्त : हाँ, या तो किसी विदेशी ने

या किसी इस कला का अभ्यास करनेवाले ने ही इस घर में आकर यह काम किया है।

उसे यह पता नहीं था—

धन न रहने से हम लोग यहाँ निश्चित होकर सोए हैं।

पहले के बने इस विशाल भवन को देखकर

उसके मन में न जाने क्या-क्या आशाएँ जागी होंगी!

परंतु देर तक श्रम करके सेंध लगाने के बाद

दुःखी और निराश होकर बेचारा लौटकर चला गया होगा!

जाकर अपने मित्रों से बेचारा क्या कहेगा? कि सार्थवाह के पुत्र के घर में जाकर भी कुछ नहीं मिला!

विदूषक : वाह मित्र, वाह! तुम्हें उस बेचारे चोर की ही चिंता सता रही है! उसने सोचा होगा कि इतना बड़ा घर है, यहाँ से कोई रत्नपात्र या स्वर्णपात्र मिलेगा। (सहसा याद हो आने से विषादपूर्ण स्वर में, स्वगत) अरे! वह स्वर्णपात्र कहाँ गया? (फिर और याद हो आने से, प्रकट) देखो मित्र, तुम सदा कहा करते हो कि मैत्रेय मूर्ख है, अज्ञानी है, यह है, वह है। अब बताओ, मैंने अच्छा किया कि नहीं जो वह स्वर्णपात्र तुम्हें सौंप दिया, नहीं तो वह दासी का पुत्र उसे चुराकर ले गया होता।

चारुदत्त : अब यह परिहास छोड़ो...!

विदूषक : अरे मित्र, मैं क्या इतना ही मूर्ख हूँ जो परिहास का समय और स्थान नहीं जानता?

चारुदत्त : मुझे तुमने वह कब दिया था?

विदूषक : जब मैंने तुमसे कहा था कि तुम्हारी उँगलियाँ ठंडी हैं।

चारुदत्त : संभव है तुमने दिया हो। (चारों ओर देखकर हर्ष के साथ)
मित्र, एक बहुत ही प्रिय समाचार है।

विदूषक : उसे चोर नहीं ले गया न?

चारुदत्त : ले गया है।

विदूषक : तो प्रिय समाचार क्या है?

चारुदत्त : यह कि वह खाली हाथ नहीं गया।

विदूषक : परंतु वह तो धरोहर थी!

चारुदत्त : धरोहर थी?

मूर्च्छित हो जाता है।

विदूषक : अरे बंधु, धीरज रखो! धरोहर की वस्तु को चोर ले गया, तो तुम क्यों मूर्च्छित हुए जाते हो?

चारुदत्त : (कुछ आश्वस्त होकर) मित्र,

सत्य पर कौन विश्वास करेगा?

सब लोग मुझ पर लौछन लगाएँगे।

अपने में कुठित निर्धनता ही ऐसे अवसर पर

संदेह का विषय बन जाती है।

कितने दुःख की बात है!

पहले तो भाग्य ने धन का अपहरण कर लिया,

और आज उस कठोर ने मेरे चरित्र पर भी लौछन लगा दिया।

विदूषक : तुम देखना, मैं कह दूँगा कि किसने रखी थी धरोहर? किसके पास रखी थी? इसका साक्षी कौन है?

चारुदत्त : तो अब मैं झूठ भी बोलूँगा?
 भिक्षा माँगकर ही क्यों न हो,
 धरोहर का मूल्य मैं अवश्य चुकाऊँगा।
 ऐसा झूठ मैं नहीं कहूँगा
 जिससे चरित्र और हीन हो जाए।

रदनिका : मैं जाकर आर्या धूता को बता दूँ!

चली जाती है और पुनः चारुदत्त की
 पत्नी के साथ प्रवेश करती है।

धूता* : (आकुल भाव से) अरी, सच बता, आर्यपुत्र या आर्य मैत्रेय के शरीर
 को तो चोट नहीं पहुँची?

रदनिका** : सच कहती हूँ, स्वामिनी! परंतु वसंतसेना का वह स्वर्णपात्र था न, उसे
 चोर ले गया है।

धूता मूर्च्छा का नाट्य करती है।

रदनिका : धीरज रखो आर्या!

धूता : (कुछ आश्वस्त होकर) क्या कहा तूने दासी? कि आर्यपुत्र के शरीर पर
 चोट नहीं आई?...शरीर पर चोट नहीं आई, परंतु चरित्र तो बचा नहीं
 रहा। उज्जयिनी में सब लोग अब यही कहेंगे कि निर्धन होने के कारण
 उन्होंने यह काम किया है। (ऊपर की ओर देखकर तथा निःश्वास
 छोड़कर) कमलपत्र पर पड़ी हुई वर्षा की बूंद की तरह चंचल निर्धन
 व्यक्तियों के भाग्य से तुम इस तरह खिलवाड़ किया करते हो दैव!...माँ
 के घर से मिली हुई यह एक रत्नावली ही मेरे पास शेष है। परंतु
 अतिशय उदारता के कारण स्वामी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। दासी, तू
 मैत्रेय को बुला!

रदनिका : जैसी आर्या की आज्ञा! (विदूषक के पास जाकर) आर्य मैत्रेय, आर्या
 तुम्हें बुला रही हैं।

विदूषक : कहाँ हैं वे?

रदनिका : यहाँ हैं, इधर आओ।

विदूषक : (पास जाकर) कल्याण हो!

धूता : प्रणाम आर्य!...आप मेरी ओर मुँह करके खड़े हों।

विदूषक : लीजिए, यह आपकी ओर मुँह कर लिया।

धूता : यह आप ले जाइए।

*-** मूल पुस्तक में क्रमशः 'वधू' तथा 'चेटी'।

विदूषक : यह क्या है?

धूता : मैंने रत्नपट्टी ब्रत किया था। उसमें अपनी सामर्थ्य के अनुसार ब्राह्मण को दान देना होता है जो मैंने नहीं दिया। उस प्रसंग में आप यह रत्नावली ले जाएँ।

विदूषक : (रत्नावली लेकर) कल्याण हो! मैं जाकर अपने प्रिय मित्र को बता दूँ।

धूता : यह बात कहकर लज्जित न करो, आर्य मैत्रेय!

चली जाती है।

विदूषक : (विस्मित भाव से) कितना महान है इनका हृदय!

चारुदत्त : मैत्रेय को विलंब हो रहा है। क्लेश के मारे कहीं कोई अनकरनी न कर ले...मैत्रेय!

विदूषक : (पास आकर) बस आ गया। यह लीजिए (रत्नावली उसे दिखाता है।)

चारुदत्त : यह क्या है?

विदूषक : आपने जो अपने अनुकूल पत्नी चुनी है, उसका फल।

चारुदत्त : तो ब्राह्मणी ने यह मेरे ऊपर कृपा की है?...ओह! तब तो आज मैं सचमुच ही निर्धन हो गया हूँ।

भाग्य की मार से अपना धन खोकर -
जब पुरुष स्त्री के धन का उपहार पाता है,
तो यह परिस्थिति पुरुष को नारी
और नारी को पुरुष बना देती है।

परंतु मैं निर्धन कैसे हूँ?

निर्धन व्यक्ति को कहाँ यह सुलभ है
कि पत्नी उसकी स्थिति के अनुसार चले,
तुम्हारे-जैसा मित्र सुख-दुःख में उसके साथ रहे
और वह अपने सत्य की रक्षा कर सके?

मैत्रेय, यह रत्नावली लेकर तुम वसंतसेना के पास चले जाओ। मेरी ओर से कहना कि वह स्वर्णपात्र हमने अपना समझकर जुए में हार दिया है। उसके स्थान पर यह रत्नावली दे रहे हैं।

विदूषक : न उसे खाया, न पीया। मूल्य भी उसका कितना होगा! और फिर उसे ले भी गया चोर! अब उसके बदले में चार समुद्रों का सार यह रत्नावली दे दी जाएगी?

चारुदत्त : ऐसा न कहो मित्र!

जिस विश्वास का आधार लेकर
उसने हमारे पास अपनी धरोहर रखी थी,

उस महान विश्वास का ही मूल्य
इस रत्नावली के रूप में दिया जा रहा है।
तो मित्र, तुम्हें मेरे शरीर को छूकर सौगंध खानी होगी कि इसे दिए बिना
लौटकर नहीं आओगे...वर्द्धमानक!

ईंटों को सँजोकर
शीघ्र ही इस सेंध को भर देना।
बात फैलने में यूँ ही अपवाद होता है,
अतः क्यों न पहले ही इसकी रक्षा कर ली जाए?
और तुम मैत्रेय, देखो वहाँ जाकर खुले चित्त से और उदार भाव से सब
बात करना।

विदूषक : निर्धन व्यक्ति और बात करे उदार भाव से—यह कैसे हो सकता है?

चारुदत्त : मैं आज निर्धन नहीं हूँ, मित्र!

निर्धन व्यक्ति को कहाँ यह सुलभ है
कि पत्नी उसकी स्थिति के अनुसार चले,
तुम्हारे-जैसा मित्र सुख-दुःख में उसके साथ रहे
और वह अपने सत्य की रक्षा कर सके?
तुम चलो। मैं तब तक निवृत्त होकर संध्योपासना कर लूँ।

सब चले जाते हैं।

संधिच्छेद नामक तीसरा अंक।

अंक : चार

चेटी का प्रवेश।

चेटी : माँ ने आदेश देकर आर्या के पास भेजा है।...आर्या चित्रफलक पर दृष्टि गड़ाए मदनिका के साथ परामर्श करती हुई यहाँ बैठी हैं। तो पास चलूँ।

उपरोक्त स्थिति में मदनिका के साथ
वसंतसेना का प्रवेश।

वसंतसेना : मदनिके, यह चित्रगत आकृति क्या आर्य चारुदत्त से मिलती है?

मदनिका : बहुत मिलती है।

वसंतसेना : तू कैसे कह सकती है?

मदनिका : आपकी दृष्टि जिस स्नेह से इस पर झुकी हुई है, उसे देखकर...

वसंतसेना : तेरा यह कहना क्या केवल चतुराई ही नहीं है?

मदनिका : क्या चतुराई से कही हुई सब बातें झूठी ही होती हैं?

वसंतसेना : चतुराई में झूठ आ ही जाता है, है न!

मदनिका : तो आर्या की दृष्टि और हृदय जो इस चित्र में संलग्न हो रहते हैं, उसका और क्या कारण है, जान सकती हूँ?

वसंतसेना : कारण यह है कि मैं स्वयं वहाँ जाकर सखियों की उपहास-पात्र बनने से बची रहना चाहती हूँ।

मदनिका : क्यों? स्त्रियाँ तो अपनी सखी के हृदय की बात को बहुत मानती हैं।

चेटी : (पास जाकर) आर्ये, माँ ने आदेश दिया है कि पार्श्वद्वार के पास परदेवाली गाड़ी तैयार खड़ी है। आप चलें।

वसंतसेना : क्या आर्य चारुदत्त ने बुलाया है?

चेटी : नहीं, जिसने गाड़ी के साथ दस सहस्र मुद्राओं के मूल्य के आभूषण की भेंट भेजी है, उसने।

वसंतसेना : कौन है वह?

चेटी : राजा का श्यालक-संस्थानक!

वसंतसेना : (क्रोधपूर्वक) जा यहाँ से। फिर ऐसी बात मुझसे न कहना।

चेटी : बुरा न मानें। मैं तो संदेश लाई हूँ।

वसंतसेना : मुझे ऐसा संदेश भी बुरा लगता है।

मोहन राकेश रचनावली-11 / 71

चेटी : तो जाकर माँ से क्या कहूँ?

वसंतसेना : कहना कि वह मुझे जीवित देखना चाहती है, तो ऐसा संदेश फिर मेरे पास न भेजें।

चेटी : जैसी आपकी इच्छा।

चली जाती है। शर्विलक आता है।

शर्विलक : रात्रि पर निंदनीयता का दोष लगाकर,
और नींद तथा राजा के प्रहरियों को जीतकर
रात्रि के अवसान के समय,
अपने को मैं
सूर्योदय में मंदकांति
चंद्र-सा पाता हूँ।

एवं

शीघ्रता से जाता हुआ कोई व्यक्ति
अस्थिर दृष्टि से यदि मेरी ओर देख लेता है
या मुझे खड़े देखकर
कोई शीघ्रता से मेरी ओर आता है,
तो मेरी अपराधिनी अंतरात्मा शंकित हो उठती है।
अपने ही अंतर का अपराध
व्यक्ति को कैसे कंपित कर देता है?

मदनिका के लिए मैंने कितने दुःसाहस का काम किया है।
किसी घर में इसलिए नहीं गया
कि घर का पुरुष अपने परिवार से बातें कर रहा था।
कहीं केवल स्त्रियाँ ही थीं,
इसलिए उस घर को छोड़ दिया।
राजा के सैनिक पास आए, तो
काठ की तरह स्थिर होकर खड़ा हो गया—
इस तरह न जाने किस-किस आयास से
मैंने रात को दिन कर दिया।

घूमता है।

वसंतसेना : दासी, यह चित्रफलक मेरी शय्या पर रखकर और पंखा लेकर शीघ्र लौट
आ।

मदनिका : जैसी आज्ञा।

चित्रफलक लेकर चली जाती है।

शर्विलक : यह रहा वसंतसेना का घर। अब अंदर चलूँ। (अंदर जाकर) मदनिका कहाँ होगी?

हाथ में पंखा लिये मदनिका का प्रवेश।

(देखकर) यह रही मदनिका। मदनिके!

मदनिका : (देखकर) अरे शर्विलक! स्वागत है, शर्विलक! कैसे आए हो?

शर्विलक : अभी बताता हूँ।

दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं।

वसंतसेना : मदनिका विलंब कर रही है। कहाँ चली गई वह? (गवाक्ष से देखकर) वह वहाँ किसी पुरुष से बात कर रही है। ऐसी स्थिर दृष्टि से उसे देख रही है जैसे उसे आँखों में समो जाएगी। क्या यह व्यक्ति इसे दासी-कर्म से मुक्त करा लेना चाहता है?...तो दोनों को परस्पर देखने दूँ—किसी की प्रीति में बाधा नहीं डालनी चाहिए। अभी इसे बुलाऊँगी भी नहीं।

मदनिका : तो शर्विलक, बताओ न!

शर्विलक शंकित दृष्टि से
इधर-उधर देखता है।

क्या बात है? इस तरह घबराए-से क्यों हो?

शर्विलक : तुझसे एक गुप्त बात कहनी है। यहाँ एकांत है न!

मदनिका : हाँ-हाँ।

वसंतसेना : क्या कोई बहुत गुप्त बात है? तब मुझे नहीं सुननी चाहिए।

शर्विलक : यह बता मदनिका कि क्या धन देने से वसंतसेना तुझे मुक्त कर देंगी?

वसंतसेना : मेरे ही विषय में बात है। तब तो इस गवाक्ष के पीछे छिपकर सुनना अनुचित नहीं।

मदनिका : मैंने आर्या से पूछा था शर्विलक! वे कहती थीं कि मुझे स्वतंत्रता हो, तो मैं अपनी सब दासियों को बिना धन लिये ही मुक्त कर दूँ। परंतु शर्विलक, तुम्हारे पास इतना धन कहाँ से आ गया कि तुम मुझे उनसे छुड़ाकर ले जा सको?

शर्विलक : निर्धनता के वशीभूत
और प्रेम के अधीन
आज रात्रि को मैंने
एक अपराध कर डाला है।

वसंतसेना : यूँ तो प्रसन्नमुख व्यक्ति है, परंतु अपराध की चेतना ने इसे उद्विग्न कर रखा है।

मदनिका : एक स्त्री के लिए तुमने दोनों को ही संकट में डाल लिया है, शर्विलक!

शर्विलक : किन दोनों को?

मदनिका : अपने शरीर और चरित्र को।

शर्विलक : तू मूर्खा है। संपत्ति साहसी व्यक्ति को ही प्राप्त होती है।

मदनिका : तुम्हारा चरित्र आज तक निर्दोष रहा है, शर्विलक? मेरे कारण ऐसा साहस करके तुमने क्या बहुत बुरा काम नहीं किया?

शर्विलक : कोई अबला

खिली हुई लता की तरह सजी हुई हो,

तो भी उसका धन मैं नहीं छीनता।

ब्राह्मण का धन, या यज्ञ के लिए संचित द्रव्य,
मैं कभी नहीं लेता।

धन की आकांक्षा से

धाय की गोद से

किसी बालक को मैं कभी नहीं चुराता।

चोरी मैं करता हूँ,

परंतु

अच्छे और बुरे का विवेक

मैं कभी नहीं छोड़ता।

इसलिए तू वसंतसेना से कह देना कि

यह आभूषण

जो जैसे उनके आकार को देखकर ही बनाया गया है,

मेरे स्नेह के कारण वे

इसे धारण करें और गुप्त भी रखें।

मदनिका : आभूषण को छिपाकर रखना उचित नहीं। लाओ मैं देखूँ तो कैसा आभूषण है!

शर्विलक : यह रहा वह आभूषण!

शंकित भाव से आभूषण उसके
हाथ में दे देता है।

मदनिका : यह आभूषण तो परिचित-सा लगता है। तुम्हें यह कहाँ मिला?

शर्विलक : तुझे इससे क्या है? तू इसे रख ले।

मदनिका : (रोषपूर्वक) यदि तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं है, तो मुझे मुक्त ऐसे ही कराना चाहते हो?

शर्विलक : प्रभात के समय श्रेष्ठियों के चत्वर में मैंने सुना था कि यह सार्थवाह चारुदत्त का है।

वसंतसेना और मदनिका मूर्च्छा का
नाट्य करती हैं।

शर्विलक : धैर्य रख मदनिके! तुझे
दासीत्व से मुक्त होने में
प्रसन्न होना चाहिए था, किंतु
तेरे अंग शोक से काँपने लगे
और आँखों में भय की व्याकुलता भर आई।

मदनिका : (कुछ आश्वस्त होकर) दुःसाहसी! मेरे कारण यह अकार्य करते हुए
तुमने उस घर में किसी के शरीर या प्राणों को क्षति तो नहीं पहुँचाई?

शर्विलक : मदनिके, डरे और सोए हुए व्यक्ति पर शर्विलक प्रहार नहीं करता। मैंने
वहाँ किसी के शरीर या प्राणों को क्षति नहीं पहुँचाई।

मदनिका : सच कहते हो?

शर्विलक : हाँ, सच कहता हूँ।

वसंतसेना : (सचेत होकर) ओह! मुझे तो जैसे फिर से प्राण मिल गए।

मदनिका : सच, कितना प्रिय समाचार है यह!

शर्विलक : प्रिय समाचार? क्यों मदनिके!

अच्छे सद्वंश में जन्म लेकर भी

स्नेहवश

मैंने यह अकार्य कर डाला है।

कामना ने चाहे मेरे गुणों को नष्ट कर दिया है, फिर भी
अपने गौरव की रक्षा मैंने की ही है।

और तू है

कि मुँह से तो-मुझे अपना मित्र बताती है

परंतु हृदय से भी क्या ऐसा ही समझती है?

वसंतसेना : (मुसकराकर) बेचारा बिना कारण ही उद्धिग्न हो रहा है।

शर्विलक : सचमुच

स्त्री और संपत्ति—

जो भी इनमें विश्वास करे,

वह मूर्ख है;

स्त्री और संपत्ति

इन दोनों की गति

साँपिन की-सी होती है।

कुछ पग चलता है।

मोहन राकेश रचनावली-11 / 75

मदनिका : (उसका आँचल पकड़कर) अरे झक्की, क्यों तुम बिना बात के ही क्रोध कर रहे हो?

शर्विलक : बिना बात के कैसे?

मदनिका : यह आभूषण आर्या वसंतसेना का है।

शर्विलक : उससे क्या हुआ?

मदनिका : यह आर्य चारुदत्त के पास रखा गया था।

शर्विलक : किसलिए?

मदनिका : (कान में) इसलिए।

शर्विलक : (लज्जा और आश्चर्य के साथ) कितने दुःख की बात है!

ग्रीष्म से संतप्त होकर

छाया के लिए जिस शाखा का मैंने आश्रय लिया,

अपने अज्ञान में

उसी के पते मैंने छेद दिए।

वसंतसेना : बेचारा कितना दुःखी हो रहा है! अनजाने में ही इसने यह काम कर डाला है।

शर्विलक : मदनिके, बता अब मुझे क्या करना चाहिए?

मदनिका : यह सोचना तो तुम्हारे-जैसे पंडित का ही काम है।

शर्विलक : नहीं, ऐसा नहीं। देख—

जिन्हें स्त्रियाँ कहते हैं

स्वभाव से वही पंडित हैं!

पुरुषों का पांडित्य—

बस शास्त्रों की ही बात है।

मदनिका : तुम मेरी बात मानो, तो जाकर यह उन्हीं को लौटा आओ।

शर्विलक : वे यदि न्यायालय में सूचना दे दें?

मदनिका : चंद्रमा कभी किसी को ताप नहीं देता।

वसंतसेना : कितनी अच्छी बात कही है तूने, मदनिका!

शर्विलक : मदनिके,

इस कार्य के लिए वहाँ जाने में

मेरे मन में विषाद या भय नहीं है।

उस महान व्यक्ति के गुणों की चर्चा भी निरर्थक है।

परंतु जो अकार्य मुझसे हुआ है,

उसकी लज्जा ही मुझे रोक रही है—

यूँ न्यायालय मेरे-जैसे धूर्त का

क्या कर सकता है?

फिर भी यह बात नीति के अनुकूल नहीं। इसलिए और कोई उपाय सोचो।

मदनिका : एक उपाय और है...।

वसंतसेना : यह और क्या उपाय बताएगी?

मदनिका : आर्य चारुदत्त के संबंधी बनकर यह आभूषण आर्या वसंतसेना के पास ले जाओ।

शर्विलक : उससे क्या होगा?

मदनिका : तुम चोर नहीं रहोगे, आर्य चारुदत्त के सिर पर ऋण नहीं रहेगा, और आर्या का आभूषण उन्हें वापिस मिल जाएगा।

शर्विलक : यह बहुत दुःसाहस का काम है।

मदनिका : तुम आभूषण ले चलो। दुःसाहस न ले जाने में ही है।

वसंतसेना : कितनी अच्छी बात कही है तूने, मदनिका!...कोई दासी ऐसी बात नहीं कहती।

शर्विलक : तेरे अनुराग से
 मुझे सद्बुद्धि प्राप्त हुई है।
 अमावस की रात में
 मार्गदर्शक का मिलना सुलभ नहीं।

मदनिका : तो तुम क्षण-भर यहाँ ठहरो। मैं जाकर आर्या को तुम्हारे आने की सूचना दे दूँ।

शर्विलक : अच्छी बात है।

मदनिका : (वसंतसेना के पास जाकर) आर्ये, आर्य चारुदत्त के पास से एक ब्राह्मण आया है।

वसंतसेना : यह तूने कैसे जाना कि उनके पास से आया है?

मदनिका : अपने संबंधी को भी मैं नहीं पहचानूँगी?

वसंतसेना : (मुसकराकर सिर हिलाती हुई, स्वगत) हाँ, क्यों नहीं।
(प्रकट) जा, उसे ले आ।

मदनिका : जैसी आज्ञा। चले आएँ आर्य शर्विलक!

शर्विलक : (पास आकर सलज्ज भाव से) कल्याण हो!

वसंतसेना : आर्य मेरा प्रणाम स्वीकार करें। यह आसन ग्रहण करें।

शर्विलक : सार्थवाह ने संदेश दिया है कि घर जर्जर होने से हम इस स्वर्णपात्र को सुरक्षित नहीं रख सकते, अतः इसे आप अपने पास रख लें।

स्वर्णपात्र मदनिका को देकर चल देता है।

वसंतसेना : आर्य, आप मेरी ओर से संदेश के बदले में कुछ लेते जाइए।

शर्विलक : (स्वगत) लेकर वहाँ जाएगा कौन? (प्रकट) कहिए, क्या ले जाना होगा?

वसंतसेना : यह मदनिका है न...इसे आप अपने साथ ले जाएँ।

शर्विलक : देखिए...मैं समझ नहीं सका।

वसंतसेना : मेरा समझना ही पर्याप्त नहीं?

शर्विलक : परंतु आप क्या समझकर...?

वसंतसेना : आर्य चारुदत्त ने मुझसे कहा था कि जो कोई यह आभूषण लेकर आए, मदनिका को उसे सौंप देना। इसलिए आप समझिए कि मदनिका उन्हीं की ओर से आपको सौंपी जा रही है।

शर्विलक : (स्वगत) इन्हें अवश्य पता चल गया है। (प्रकट) आर्य चारुदत्त, सचमुच कितने अच्छे हैं आप!

मनुष्य को चाहिए कि

अपने में गुणों के विकास का प्रयत्न करे।

गुणवान निर्धन भी

गुणहीन धनाधीशों से कहीं अच्छा है!

एवं

चाहिए कि मनुष्य अपने में गुणों का विकास करे;

गुणों के रहते संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं।

गुणों का ही प्रभाव है कि चंद्रमा

शंकर के अलंघ्य मस्तक का लंघन कर पाया है।

वसंतसेना : कोई गाड़ीवान है यहाँ?

गाड़ीवान के साथ चेट का प्रवेश।

चेट : आर्य, गाड़ी तैयार है।

वसंतसेना : मदनिके, मुझे अच्छी तरह देख ले। तू दूसरे को सौंप दी गई है। जाकर गाड़ी में बैठ जा। मुझे कभी-कभी याद कर लिया करना।

मदनिका : (रोती हुई) तो आर्या ने मेरा परित्याग कर दिया है?

वसंतसेना के पैरों को छूती है।

वसंतसेना : अब तो तुझे प्रणाम किया जाना चाहिए। जा, गाड़ी में बैठ जा। मुझे भूल नहीं जाना, हाँ!

शर्विलक : आपका कल्याण हो! देख मदनिके—

इन्हें इस समय अच्छी तरह देख ले

और सिर झुकाकर इनकी वंदना कर ले!

असंभव होते हुए भी तुम्हें इन्हीं के कारण

‘बहू’ शब्द का आवरण प्राप्त होनेवाला है।

मदनिका के साथ गाड़ी में बैठकर

जाने के लिए प्रस्तुत होता है।

नेपथ्य में : ...जो-जो भी जहाँ हों, वे सब सुन लें। सिद्धों की यह भविष्यवाणी जानकर कि ‘ग्वाले का पुत्र आर्यक राजा होगा’ राज पालक ने उसे घर से लाकर कारागार में डाल दिया है। आप सब लोग अपने-अपने स्थान पर सावधान रहें।

शर्विलक : (सुनकर) राजा पालक ने मेरे प्रिय मित्र आर्यक को कारागार में डाल दिया है? और मैंने ऐसे समय एक स्त्री का भार अपने ऊपर ले लिया! कितने दुःख की बात है! किंतु

मित्र और नारी

दोनों व्यक्ति को बहुत प्रिय होते हैं।

परंतु मित्र का स्थान

अन्य सबसे कहीं ऊँचा होता है।

इसलिए यहीं उतर जाता हूँ।

उतर पड़ता है।

मदनिका : (आँखों में आँसू भरकर और हाथ जोड़कर) आप ठीक कर रहे हैं। परंतु मुझे पहले गुरुजनों के पास पहुँचा देते।

शर्विलक : बहुत ठीक कहा तूने प्रिये! मेरे हृदय में भी यही बात थी। (चेट की ओर देखकर) भद्र, तुम सार्धवाह रेभिल का घर जानते हो?

चेट : जानता हूँ।

शर्विलक : इन्हें वहाँ पहुँचा दो।

चेट : जैसी आज्ञा।

मदनिका : मैं आपकी आज्ञा से जा रही हूँ। आप अपना ध्यान रखिएगा।

चली जाती है।

शर्विलक : मैं अब

उदयन के अमात्य यौगंधरायण की तरह

अपने मित्र के उद्धार के लिए

अपने संबंधियों को,

अपने भुजबल से ख्याति-प्राप्त विदों को,

और राजा द्वारा अपमानित तथा उस पर कुपित राज-कर्मचारियों को

भड़काने का प्रयत्न करूँगा।

एवं

राहु के मुख में चंद्रमा की तरह

मेरा मित्र

इस समय नीच आत्मशंकित शत्रुओं के अधिकार में है।

मैं इस समय तुरंत

उसके उद्धार का उपाय करता हूँ।

चला जाता है। चेटी आती है।

चेटी : (वसंतसेना के पास आकर) आर्ये, बधाई हो! आर्य चारुदत्त के पास से एक ब्राह्मण आया है।

वसंतसेना : सच, कितना सुंदर है आज का दिन! जा दासी, बंधुल के साथ उसे आदरपूर्वक अंदर ले आ।

चेटी : जैसी आज्ञा।

चली जाती है, फिर विदूषक तथा

बंधुल के साथ प्रवेश करती है।

विदूषक : वाह-वाह-वाह! राक्षसराज रावण ने तप करके चरणों को कितना कष्ट दिया, तब कहीं उसे पुष्पक विमान में यात्रा का सुख प्राप्त हुआ। यहाँ मैं ब्राह्मण बिना तप किए और बिना चरणों को कष्ट दिए एक नर और नारी के साथ यात्रा का सुख प्राप्त कर रहा हूँ।

चेटी : आर्य देखिए, यह हमारे घर का द्वार है।

विदूषक : (देखकर विस्मय के साथ) अहा! कितना रमणीय है वसंतसेना के घर का द्वार! पहले पानी छिड़ककर इसे बुहारा गया है, फिर हरा लेप किया गया है। तरह-तरह के सुगंधित फूलों से भूमि को जैसे चित्रांकित कर दिया गया है। सिर ऐसे ऊँचा उठा है जैसे उत्सुक होकर यह आकाश की शोभा देख रहा हो। इधर-उधर भटकती हुई मल्लिका की मालाएँ हवा में हिलती हैं तो यूँ लगता है जैसे ऐरावत झूमता हुआ अपनी सूँड हिला रहा हो। ऊपर को उठे हुए हाथी-दाँत के तोरण भी कितने सुंदर हैं! जहाँ-तहाँ सजाई गई मूल्यवान रत्नों से जड़ी पताकाएँ हवा में हिलती हैं तो लगता है जैसे हाथ हिला-हिलाकर मुझे बुला रही हों। तोरण बाँधने के लिए बनाई गई स्तंभवेदिका के दोनों ओर सुंदर स्फटिक के मंगलकलश ऐसे चमक रहे हैं जैसे आम की हरी-हरी पत्तियाँ हों। बड़े-बड़े असुरों के वक्षःस्थल की तरह दुर्भेद्य सोने के किवाड़ हैं जिन पर वज्र की कीलें लगी हैं। देखकर मेरे-जैसे छोटे व्यक्ति की अभिलाषाएँ मन में व्याकुल होने लगती हैं।

चेटी : इधर आइए आर्य! अब इस पहले प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक : (अंदर आकर इधर-उधर देखता हुआ) अहा-हा-हा-हा! इस पहले प्रकोष्ठ में कितनी सुंदर अट्टालिकाएँ है! चाँद, शंख और मृणाल-जैसी। चारों ओर मुट्ठियाँ भर-भरकर फैलाए गए चंदन के चूरे ने इन्हें कितना शुभ्र बना रखा है! सोने की सीढ़ियाँ तरह-तरह के रत्नों से जड़ी हैं। विल्लौरी झरोखों पर मोतियों की मालाएँ लटकती देखकर लगता है जैसे सजी हुई दुलहिनें अपने चाँद-जैसे मुखड़ों से उज्जयिनी की शोभा देख रही हों। द्वारपाल वेद-पाठी ब्राह्मण की तरह बैठा सुख की नींद ले रहा है। दही-भात की बलि का लोभ रखनेवाले कौए अमृत के भुलावे में उसे खा नहीं रहे हैं। हाँ, अब आगे चलिए।

चेटी : इधर आइए आर्य! अब इस दूसरे प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक : (अंदर आकर इधर-उधर देखता हुआ) अहा-हा! यहाँ दूसरे प्रकोष्ठ में गाड़ियों के वेल बँधे हैं। पास में रखे घास और भूसे का कलेवा कर-करके ये कैसे मोटे हो रहे हैं! तेल से चिकने इनके सींग कैसे चमक रहे हैं! यह एक भैंसा इधर बैठा इस तरह लंबी-लंबी साँसें ले रहा है जैसे कोई कुलीन कहीं से अपमानित होकर आया हो। इधर युद्ध से भागकर आए हुए योद्धा की तरह इस भेड़े की गरदन मली जा रही है! इधर घोड़ों का केश-शृंगार हो रहा है! इधर के तबेले में यह बंदर चोर की तरह बँधा है। (दूसरी ओर देखकर) और इधर हस्तिपाल इस हाथी को धान के पिंड खिला रहे हैं और उनमें से तेल निचुड़ रहा है!...हाँ, अब आगे चलिए।

चेटी : इधर आइए आर्य! अब इस तीसरे प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक : (अंदर आकर इधर-उधर देखता हुआ) अहा! यहाँ तीसरे प्रकोष्ठ में कुलीन व्यक्तियों के बैठने के आसन रखे हैं। जुआ खेलने के चौखटे पर आधी पड़ी हुई पुस्तक पड़ी है। इस चौखटे पर मणियों के गोठ रखे हैं।...अब आगे चलिए।

चेटी : इधर आइए आर्य! अब इस चौथे प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक : (अंदर आकर इधर-उधर देखता हुआ) अहा-हा-हा-हा-हा! इस चौथे प्रकोष्ठ में युवतियों के हाथों से बजाए जा रहे मृदंग गंभीर मेघ-गर्जन-सा शब्द कर रहे हैं। काँसे की खड़ताल ऐसे नीचे को आते हैं जैसे पुण्य क्षीण होने से तारे आकाश से टूट रहे हों। बाँसुरी बजती है, तो लगता है जैसे भौरे गुँजार कर रहे हों। खेल में रूठे बच्चे-जैसी इस वीणा को गोद में लेकर उँगलियों के स्पर्श से प्रसन्न किया जा रहा है। इधर

मकरंद रस से मत्त मधुकरियों-सी कन्याएँ गीत गाती हुई नृत्य और अभिनय का अभ्यास कर रही हैं। झरोखों में रखी हुई पानी की गगरियाँ जैसे वायु सेवन कर रही हैं। अब आगे चलिए।

चेटी : इधर आइए आर्य! अब इस पाँचवें प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक : (अंदर आकर और इधर-उधर देखकर) अहा-हा! यहाँ पाँचवें प्रकोष्ठ में हींग और तेल की ऐसी गंध आ रही है कि किसी भी कँगले के मुँह में पानी भर आए। पाकगृह के विभिन्न द्वारों से सुगंधित धुआँ इस तरह बाहर निकल रहा है जैसे अंतस्ताप से बेचारा निःश्वास छोड़ रहा हो। तरह-तरह के पकवानों की गंध तो मुझे बहुत ही व्याकुल कर रही है। वह सुंदर बालक मांस को ऐसे धो रहा है जैसे वह फटा हुआ कपड़ा हो। इधर पाचक तरह-तरह के व्यंजन बना रहा है। लड्डू बाँधे जा रहे हैं, पुए पकाए जा रहे हैं। (स्वगत) यहाँ इतना कुछ है, कोई आकर मुझसे कहे खा, तो क्या पैर धोने के लिए पानी भी मिल जाएगा? (दूसरी ओर देखकर) यहाँ तरह-तरह के आभूषणों से सजी हुई स्त्रियों और पुरुषों को घूमते देखकर लगता है जैसे यह स्थान स्वर्ग हो और ये लोग गंधर्व और देवता हों। कौन लोग हैं ये!

चेटी : इधर आइए आर्य! अब इस छठे प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक : (अंदर आकर और इधर-उधर देखकर) अहा! इस छठे प्रकोष्ठ में ये सोने और मणियों के कामदार तोरण हैं। बीच-बीच में नीले रत्न जुड़े होने से ये इंद्रधनुष-से लग रहे हैं। मणियों के पारखी वैदूर्य, मोती, मूँगा, पुष्पराग, इंद्रनील, कर्कंतरक, पद्मराग तथा मरकत आदि मणियों को लेकर विमर्श कर रहे हैं। सोने में मानिक जड़े जा रहे हैं, लाल धागे से सोने के हार पिरोए जा रहे हैं, और मोती गूँथ-गूँथकर आभूषण बनाए जा रहे हैं। कहीं वैदूर्य मणियों को धीरे-धीरे घिसा जा रहा है, कहीं शंखों में छेद किए जा रहे हैं, कहीं मूँगे सान पर घिसे जा रहे हैं और कहीं गीले कुंकुम-पत्थर सुखाए जा रहे हैं। कहीं कस्तूरी इकट्ठी की जा रही है, कहीं चंदन को विशेष रूप से घिसा जा रहा है, कहीं सुगंधित लेप मले जा रहे हैं। कहीं चितवन दिखाई देती है, कहीं हँसी गूँजती है और कहीं कोई पेय पीने का सत्कार होता है। यहाँ चेट चले जा रहे हैं, वहाँ चेटियाँ!...अब आगे चलिए।

चेटी : इधर आइए आर्य! अब इस सातवें प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक : (अंदर आकर और इधर-उधर देखकर) अहा-हा-हा-हा-हा! इस सातवें प्रकोष्ठ में कबूतरों के जोड़े सुंदर पालकियों में सुख से पड़े चोंच-से-चोंच

मिलाकर विश्राम कर रहे हैं। इधर पिंजरे में तोता दही-भात खाकर तृप्त ब्राह्मण की तरह सूत्रपाठ कर रहा है। यह मैना ऐसे कुरकुर कर रही है जैसे स्वामी की सिर पर चढ़ाई हुई दासी करती है। तरह-तरह के फलों के स्वाद से गला मीठा करके कोयल इस तरह कूक रही है जैसे कोई संगीत-कला-विशारदा कूकती है। इधर खूंटियों पर पिंजरों की कतारें लटक रही हैं। कहीं लावक लड़ रहे हैं, कहीं पालतू तीतर अपना राग अलाप रहे हैं और कहीं पालतू कबूतरों को संदेश देकर भेजा जा रहा है। प्रसन्न होकर नाचते हुए मोर को देखकर लगता है जैसे यह मणियों से जड़ा हो; अपने पंखों की हवा से यह जैसे धूप से तपे हुए भवन को ठंडा कर रहा है। (दूसरी ओर देखकर) राजहंसों के जोड़े-पुंजीभूत चंद्रकिरणों से गति की शिक्षा लेते हुए-से उनके पीछे-पीछे चल रहे हैं। सारस घर के पूज्य वृद्धों की तरह मुँह उठाए इधर-उधर घूम रहे हैं!...अहा-हा-हा-हा! वसंतसेना ने इस घर में इतने और इतनी तरह के पक्षी इकट्ठे कर रखे हैं कि मुझे यह घर नंदन-वन लग रहा है। चलिए, आगे चलिए।

चेटी : इधर आइए आर्य! अब इस आठवें प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक : (अंदर आकर देखता हुआ) सुनिए, वह व्यक्ति कौन है, वह जो रेशमी वस्त्र पहने है और तरह-तरह के अनेक अद्भुत आभूषणों से अलंकृत है, और इधर-से-उधर डगमगाता और हाथ-पैर पटकता हुआ घूम रहा है?

चेटी : आर्य, यह आर्या वसंतसेना का भाई है।

विदूषक : कितना तप किया होगा इसने जो वसंतसेना का भाई बन सका है! परंतु नहीं। चाहे यह इतना सुंदर, रूपवान और सुगंधियों से सना हुआ है, फिर भी श्मशान की गली में उत्पन्न चंपक के वृक्ष की तरह संसार के लिए इसका संपर्क वर्जित है।...और देखिए, यह कौन है जो फूलदार चादर ओढ़े और तेल से चिकने पाँव खड़ाऊँ में डाले ऊँचे आसन पर बैठी है?

चेटी : यहाँ आर्या वसंतसेना की माता हैं।

विदूषक : अच्छा! इसे महादेव की तरह क्या शोभा के लिए ही यहाँ बिठाया गया है?

चेटी : कलमुँहे, हमारी माँ के लिए इस प्रकार के हल्के बोल बोलता है? ये चौथिया के ज्वर से पीड़ित हैं।

विदूषक : (परिहास के स्वर में) हे चौथिया जवर महाराज! इस ब्राह्मण पर भी अपनी ऐसी ही कृपादृष्टि करना।

चेटी : कलमुँहे, मर जाएगा तू।

विदूषक : (परिहास के स्वर में) अरी दासी की पुत्री! ऐसी भरित-पोषित काया हो, तो व्यक्ति को मर ही जाना चाहिए। अच्छा बताइए, आप लोगों की कुछ बाहिकाएँ भी चलती हैं?

चेटी : नहीं तो।

विदूषक : अरे, मैं भी क्या पूछ रहा हूँ? वसंतसेना के आठ प्रकोष्ठों के इस भवन में विभिन्न क्रिया-व्यापारों को देखकर मुझे लग रहा है कि मैंने तीनों लोक एक साथ एक ही स्थान पर देख लिये हैं। मेरी वाणी में इतनी शक्ति नहीं कि मैं इसकी प्रशंसा कर सकूँ। समझ में नहीं आता कि यह आर्या का घर है या कुबेर के घर का एक भाग। हाँ, तो आर्या वसंतसेना कहाँ हैं?

चेटी : वह इधर वृक्षवाटिका में हैं। आप अंदर चलें।

विदूषक : (अंदर आकर और देखकर) अहा-हा! कैसी सुरम्य वाटिका है! तरह-तरह के पेड़ों पर फूलों के गुच्छे कितने सुंदर ढंग से खिले हैं! घने वृक्षों पर झूले डाले गए हैं। चारों ओर स्वर्णयूथिका, शेफाली, मालती, मल्लिका, नवमल्लिका, कुरवक तथा माधवी के फूल अपने-आप झड़कर ऐसे बिखरे हैं कि नंदन-वन की सुंदरता मंद पड़ रही है। (दूसरी ओर देखकर) उदय काल के सूर्य की तरह चमकते हुए लाल कमलों से यह वापी जैसे संध्यार्चन कर रही है।

और

नए-नए फूलों और किसलयों से सजे हुए

अशोक वृक्ष को देखकर यूँ लगता है

जैसे लहू के घने कीचड़ से लथपथ

कोई योद्धा

समरांगण में खड़ा हो।

हाँ, तो कहाँ है तुम्हारी आर्या वसंतसेना?

चेटी : आप अपनी दृष्टि कुछ नीची करें तो वह आपको दीख जाएँगी।

विदूषक : (देखकर और पास जाकर) कल्याण हो!

वसंतसेना : अरे मैत्रेय! (उठकर) स्वागत हो! यह आसन ले लीजिए।

विदूषक : आप बैठिए।

दोनों बैठ जाते हैं।

वसंतसेना : सार्थवाहपुत्र सकुशल हैं न?

विदूषक : हाँ, सकुशल हैं।

वसंतसेना : आर्य मैत्रेय, अब भी क्या

उस सुंदर वृक्ष पर

जिसके पत्ते गुणों के हैं और शाखाएँ विनय की,

मूल विश्वास का है, फूल गौरव के,

और फल जिस पर अपने आचरण के आते हैं—

आज भी उस वृक्ष पर

क्या वे पक्षी—उनके मित्र—

पहले की तरह विश्राम पाने आते हैं?

विदूषक : (स्वगत) आर्या तो सबकुछ जानती हैं। (प्रकट) हाँ-हाँ, क्यों नहीं?

वसंतसेना : अच्छा बताइए, आप कैसे आए हैं?

विदूषक : बताता हूँ। आर्य चारुदत्त ने अंजलि सिर पर रखकर निवेदन किया है...

वसंतसेना : (हाथ जोड़कर) क्या आज्ञा की है उन्होंने?

विदूषक : कि भ्रम से आपका स्वर्णपात्र अपना समझकर उन्होंने जुए में हार दिया है। वह द्यूताध्यक्ष राजा का संदेश लेकर न जाने कहाँ चला गया है।

चेटी : बधाई हो आर्य! आर्य चारुदत्त जुआ खेलने लगे हैं।

वसंतसेना : (स्वगत) चोरी चले जाने पर भी उनकी उदारता यह कहती है कि जुए में हार दिया है! इसीलिए तो मन में उनके लिए इतनी उत्कट कामना है।

विदूषक : अतः उसके स्थान पर आप यह रत्नावली स्वीकार करें।

वसंतसेना : (स्वगत) क्या वह पात्र इस व्यक्ति को दिखला दूँ? (सोचकर) नहीं, ऐसा नहीं करूँगी।

विदूषक : क्या आप यह रत्नावली स्वीकार नहीं करेंगी?

वसंतसेना : (हँसकर और चेटी की ओर देखकर) स्वीकार क्यों नहीं करूँगी, आर्य मैत्रेय? रत्नावली लेकर रख लेती है।

(स्वगत) क्या मंजरियों से रहित आम के वृक्ष से भी मकरंद की बूँदें टपकती हैं? (प्रकट) आर्य, द्यूतकार आर्य चारुदत्त से मेरी ओर से कह दें कि संध्या के समय मैं उनसे मिलने के लिए आऊँगी।

विदूषक : (स्वगत) क्यों नहीं? वहाँ जाकर अभी और कुछ ठगना होगा। (प्रकट) हाँ-हाँ, मैं अवश्य कह दूँगा। (स्वगत) कह दूँगा कि तुमसे दूर ही रहें, तो अच्छा है।

चला जाता है।

वसंतसेना : यह आभूषण ले ले, दासी! आर्य चारुदत्त से मिलने के लिए...हम इसी समय चलेंगी।

चेटी : आर्ये, देखिए, असमय ही कैसी काली घटाएँ उठ रही हैं!
वसंतसेना : उठने दे घटाएँ

उतरने दे रात और धारासार वर्षा होने दे।

हृदय के पग बढ़ चुके हैं, तो

ये सब आपदाएँ मेरे लिए कुछ भी नहीं।

तू हार ले ले और शीघ्र चली आ।

दोनों का प्रस्थान।

मदनिका-शर्विलक नामक चौथा अंक।

अंक : पाँच



द्विप - ३१८

उत्कंठित मनःस्थिति में आसन पर
बैठे हुए चारुदत्त का प्रवेश।

चारुदत्त : (ऊपर की ओर देखकर) आज असमय ही काली घटाएँ उठ रही हैं।

उत्कंठित मयूर
पंख फैलाए देख रहे हैं;
यायावर हंस
उन्मन और उदास हो गए हैं।
असमय उठती हुई काली घटाएँ
आकाश के साथ-साथ
उत्कंठित हृदयों में भी घिरी आ रही हैं।

एवं

नीला मेघ!
भीगे महिषोदर और भौर का वर्ण!
विद्युत् पीतांबर—
और बगुलों का शंख!
वामन है यह
जो आकाश का अतिक्रमण कर रहा है!

एवं

तिरछी बकुलपंक्ति का शंख
और विद्युत् का कौशेय।
चक्रधर विष्णु-सा नीलवर्ण मेघ
आकाश में छा रहा है।

एवं

फटे हुए अंबर के धागों-जैसी
पिघली हुई चाँदी की धाराएँ
बादलों के गर्भ से
वेगपूर्वक उतर रही हैं।

विद्युत् की दीपशिखा में
पल-भर झिलमिलाकर
अँधेरे में डूब जाती हैं।

एवं

मिलते हुए चक्रवाक,
उड़ते हुए हंस
समुद्र से उठे हुए
मीन और मकर-समूह!
ऊँचे-ऊँचे प्रासाद—
कितनी-कितनी आकृतियाँ हैं!
हवा में उड़ते हुए मेघों ने
आकाश को चित्रलिखित-सा कर दिया है।
मेघों के घिर आने से
आकाश में
धृतराष्ट्र के राज्य-सा अंधकार छा गया है!
अपने बल पर गर्वित दुर्योधन की तरह
मयूर प्रमुदित होकर बोल रहा है;
जुए में हारे युधिष्ठिर की तरह
कोयल का स्वर मौन है,
और पांडवों की तरह हंस
अज्ञातवास में चले गए हैं।

(सोचते हुए) मैत्रेय को वसंतसेना के पास गए बहुत समय हो गया,
अभी तक लौटकर नहीं आया!

विदूषक : (आता हुआ) देख लिया स्त्री का लोभ और छोटापन! कोई बात ही नहीं
की। बिना कुछ कहे उदासीन भाव से रत्नावली रख ली। इतनी संपत्ति
है, फिर भी यह नहीं कहा कि आर्य मैत्रेय, कुछ देर विश्राम कर लो,
एक कटोरा पानी ही पीकर जाओ। मैं उस वसंतसेना का अब कभी
मुँह भी नहीं देखूँगा। (दुःखी स्वर में) सच ही कहते हैं कि कमलिनी
के मूल न हो, बनिया ठगी न करे, सुनार चोरी न करे, ग्रामीणों के समागम
में झगड़ा न हो और स्त्री को धन का लोभ न हो, यह असंभव है। तो
चलकर प्रिय मित्र को वसंतसेना से बचाने का प्रयत्न करूँ। (घूमकर
और चारुदत्त को देखकर) मित्र तो यहीं वृक्ष-वाटिका में बैठे हैं। तो पास
चलूँ। (चारुदत्त के पास जाकर) कल्याण हो! बहुत-बहुत उन्नति हो!

चारुदत्त : (देखकर) तो मित्र मैत्रेय लौट आया! स्वागत हो मित्र! बैठो!

विदूषक : यह लो बैठ गया।

चारुदत्त : तो हाँ, क्या कर आए?

विदूषक : सब चौपट हो गया।

चारुदत्त : उसने रत्नावली नहीं ली?

विदूषक : अपना ऐसा भाग्य कहाँ है! नए कमल-जैसी कोमल अंजलि से मस्तक को छुआ और ले ली।

चारुदत्त : फिर यह क्यों कह रहे हो कि सब चौपट हो गया?

विदूषक : चौपट नहीं हुआ? जिसे न खाया न पिया और जिसे उठाकर ले गए चोर, उस साधारण स्वर्णपात्र के लिए चार समुद्रों की सारभूत अपनी रत्नावली चली गई!

चारुदत्त : ऐसा न कहो मित्र

जिस विश्वास के सहारे

उसने यह धरोहर हमारे पास रखी थी,

उसी महान विश्वास का मूल्य

हम इस रूप में चुका रहे हैं।

विदूषक : देखा मित्र, मुझे एक और बात का भी बहुत दुःख है। सखियों को जाने संकेत से क्या कहकर और आँचल से मुँह ढककर उसने मेरा उपहास भी उड़ाया है। मैं ब्राह्मण हूँ, फिर भी सिर के बल होकर आपसे प्रार्थना करता हूँ कि अपनी आत्मा को आर्या की छाया से बचाइए। इसमें सब बाधाएँ-ही-बाधाएँ हैं। वह एक बार जीवन में आ जाएगी तो पादुका में घुसे कंकड़ की तरह निकलने का नाम नहीं लेगी।

चारुदत्त : तुम अकारण ही निंदा कर रहे हो मित्र! मेरी अवस्था ही मुझे उससे दूर रखे हुए है। देखो

प्राण थके हुए हों और चरण चल न सकें

तो दौड़ना चाहकर भी अश्व से दौड़ा नहीं जाता।

मनुष्य की मनोकामनाएँ चाहती तो सभी कुछ हैं

परंतु अंत में थकी हुई वे हृदय में ही खो रहती हैं।

मैं आज धन-विहीन हूँ

अतः वह मुझसे क्या पाएगी?

विदूषक : (नीचे देखता हुआ, स्वगत) ये ऊपर की ओर देखकर जैसे लंबी-लंबी साँसें भर रहे हैं, उससे तो लगता है कि मेरे रोकने से इनकी उत्कंठा और भी बढ़ रही है। (प्रकट) उसने कहा था, चारुदत्त से कह देना कि

विद्युत् की दीपशिखा में
पल-भर झिलमिलाकर
अँधेरे में डूब जाती हैं।

एवं

मिलते हुए चक्रवाक,
उड़ते हुए हंस
समुद्र से उठे हुए
मीन और मकर-समूह!
ऊँचे-ऊँचे प्रासाद—
कितनी-कितनी आकृतियाँ हैं!
हवा में उड़ते हुए मेघों ने
आकाश को चित्रलिखित-सा कर दिया है।
मेघों के घिर आने से
आकाश में
धृतराष्ट्र के राज्य-सा अंधकार छा गया है!
अपने बल पर गर्वित दुर्योधन की तरह
मयूर प्रमुदित होकर बोल रहा है;
जुए में हारे युधिष्ठिर की तरह
कोयल का स्वर मौन है,
और पांडवों की तरह हंस
अज्ञातवास में चले गए हैं।

(सोचते हुए) मैत्रेय को वसंतसेना के पास गए बहुत समय हो गया,
अभी तक लौटकर नहीं आया!

विदूषक : (आता हुआ) देख लिया स्त्री का लोभ और छोटापन! कोई बात ही नहीं
की। बिना कुछ कहे उदासीन भाव से रत्नावली रख ली। इतनी संपत्ति
है, फिर भी यह नहीं कहा कि आर्य मैत्रेय, कुछ देर विश्राम कर लो,
एक कटोरा पानी ही पीकर जाओ। मैं उस वसंतसेना का अब कभी
मुँह भी नहीं देखूँगा। (दुःखी स्वर में) सच ही कहते हैं कि कमलिनी
के मूल न हो, बनिया ठगी न करे, सुनार चोरी न करे, ग्रामीणों के समागम
में झगड़ा न हो और स्त्री को धन का लोभ न हो, यह असंभव है। तो
चलकर प्रिय मित्र को वसंतसेना से बचाने का प्रयत्न करूँ। (घूमकर
और चारुदत्त को देखकर) मित्र तो यहीं वृक्ष-वाटिका में बैठे हैं। तो पास
चलूँ। (चारुदत्त के पास जाकर) कल्याण हो! बहुत-बहुत उन्नति हो!

चारुदत्त : (देखकर) तो मित्र मैत्रेय लौट आया! स्वागत हो मित्र! बैठो!

विदूषक : यह लो बैठ गया।

चारुदत्त : तो हाँ, क्या कर आए?

विदूषक : सब चौपट हो गया।

चारुदत्त : उसने रत्नावली नहीं ली?

विदूषक : अपना ऐसा भाग्य कहाँ है! नए कमल-जैसी कोमल अंजलि से मस्तक को छुआ और ले ली।

चारुदत्त : फिर यह क्यों कह रहे हो कि सब चौपट हो गया?

विदूषक : चौपट नहीं हुआ? जिसे न खाया न पिया और जिसे उठाकर ले गए चोर, उस साधारण स्वर्णपात्र के लिए चार समुद्रों की सारभूत अपनी रत्नावली चली गई!

चारुदत्त : ऐसा न कहो मित्र

जिस विश्वास के सहारे

उसने यह धरोहर हमारे पास रखी थी,

उसी महान विश्वास का मूल्य

हम इस रूप में चुका रहे हैं।

विदूषक : देखा मित्र, मुझे एक और बात का भी बहुत दुःख है। सखियों को जाने संकेत से क्या कहकर और आँचल से मुँह ढककर उसने मेरा उपहास भी उड़ाया है। मैं ब्राह्मण हूँ, फिर भी सिर के बल होकर आपसे प्रार्थना करता हूँ कि अपनी आत्मा को आर्या की छाया से बचाइए। इसमें सब बाधाएँ-ही-बाधाएँ हैं। वह एक बार जीवन में आ जाएगी तो पादुका में घुसे कंकड़ की तरह निकलने का नाम नहीं लेगी।

चारुदत्त : तुम अकारण ही निंदा कर रहे हो मित्र! मेरी अवस्था ही मुझे उससे दूर रखे हुए है। देखो

प्राण थके हुए हों और चरण चल न सकें

तो दौड़ना चाहकर भी अश्व से दौड़ा नहीं जाता।

मनुष्य की मनोकामनाएँ चाहती तो सभी कुछ हैं

परंतु अंत में थकी हुई वे हृदय में ही खो रहती हैं।

मैं आज धन-विहीन हूँ

अतः वह मुझसे क्या पाएगी?

विदूषक : (नीचे देखता हुआ, स्वगत) ये ऊपर की ओर देखकर जैसे लंबी-लंबी साँसें भर रहे हैं, उससे तो लगता है कि मेरे रोकने से इनकी उत्कंठा और भी बढ़ रही है। (प्रकट) उसने कहा था, चारुदत्त से कह देना कि

आज संध्या के समय मैं मिलने आऊँगी। मुझे लगता है कि रत्नावली से उसको संतोष नहीं हुआ, इसलिए कुछ और लेने के लिए आ रही है।

चारुदत्त : आने दो मित्र! यहाँ से वह असंतुष्ट नहीं जाएगी।

चेत : (आकर) सुनो सज्जनो!

ज्यों-ज्यों बरसता है बादल

त्यों-त्यों भीगता है चाम!

ज्यों-ज्यों लगती है ठंड

त्यों-त्यों काँपता है मन!

(हँसकर) मैं

सात छेदों की बाँसुरी

और सात तारों की वीणा बजा सकता हूँ।

गधे के स्वर में मैं

सुंदर गीत भी गा सकता हूँ।

नारद और तुंबुरु

ये दोनों मेरे सामने क्या हैं?

आर्या वसंतसेना ने आदेश दिया है कि कुंभीलक, जाओ, जाकर आर्य चारुदत्त को मेरे आने की सूचना दे दो। तो आर्य चारुदत्त के घर के अंदर चलूँ। (धूमकर और देखकर) आर्य चारुदत्त यहाँ वृक्ष-वाटिका में बैठे हैं। वह दुष्ट ब्राह्मण भी यहीं है। तो पास चलूँ। अरे! वृक्ष-वाटिका का द्वार बंद क्यों है?...तो इस दुष्ट ब्राह्मण को संकेत से बुलाता हूँ।

कंकड़ फेंकता है।

विदूषक : अरे कौन है जो दीवार से धिरे हुए कैथ की तरह मुझ पर कंकड़ फेंक रहा है?

चारुदत्त : उद्यान-भवन की वेदी से कबूतरों ने गिराए होंगे, मित्र!

विदूषक : अरे दासी के पुत्र दुष्ट कबूतर! तू ठहर तो जा! अभी पके हुए आम की तरह तुझे अपने इस डंडे से नीचे गिराता हूँ।

डंडा उठाकर भागने लगता है।

चारुदत्त : (उसे यज्ञोपवीत से पकड़कर) बैठ जाओ मित्र! क्या रखा है इसमें? बेचारे कबूतर को विश्राम करने दो।

चेत : तो इन्हें कबूतर ही दिखाई देते हैं, मैं दिखाई नहीं देता! अच्छा, फिर और कंकड़ फेंकता हूँ।

कंकड़ फेंकता है।

विदूषक : (इधर-उधर देखकर) अरे! यह तो कुंभीलक है! तो इसके पास चलूँ। (पास जाकर और द्वार खोलकर) स्वागत है, कुंभीलक! आओ, अंदर आओ।

चेत : (अंदर आकर) आर्य, प्रणाम करता हूँ।

विदूषक : ऐसे अँधेरे दुर्दिन में कैसे चले आए?

चेत : वही आई है।

विदूषक : कौन?

चेत : वही!

विदूषक : दासी के पुत्र! अकाल के समय बूढ़े कंगाल की तरह मुँह बाए 'वही-वही' किए जाते हो?

चेत : और तुम भी तो यज्ञवलि के भूखे कौए की तरह 'कौन-कौन' की रट लगाए हो!

विदूषक : तो बात तो बताओ।

चेत : (स्वगत) इसे इस तरह बताऊँ। (प्रकट) देखो, मैं तुमसे एक प्रश्न पूछता हूँ।

विदूषक : और मैं पैर से तुम्हारा सिर फोड़ता हूँ।

चेत : यह बताओ कि आम में मंजरियाँ किस ऋतु में आती हैं?

विदूषक : ग्रीष्म ऋतु में, दासी के पुत्र!

चेत : (हँसकर) नहीं, नहीं, नहीं।

विदूषक : (स्वगत) तो कब आती हैं? (सोचकर) जाकर चारुदत्त से पूछूँ! (प्रकट) अरे, पल-भर ठहर जा। (चारुदत्त के पास जाकर मित्र, आम पर मंजरियाँ किस ऋतु में आती हैं?)

चारुदत्त : मूर्ख, वसंत में!

विदूषक : (चेत के पास जाकर) मूर्ख, वसंत में।

चेत : अब तुमसे दूसरा प्रश्न पूछता हूँ। एक स्मृद्धिशाली ग्राम की रक्षा का भार किस पर रहता है?

विदूषक : गाँव की गली पर।

चेत : (हँसकर) नहीं, नहीं, नहीं।

विदूषक : इसने फिर संशय में डाल दिया। (सोचता हुआ) तो जाकर चारुदत्त से पूछूँ।

पहले की तरह चारुदत्त के पास जाकर पूछता है।

चारुदत्त : मित्र, सेना पर।

विदूषक : (चेत के पास आकर) दासी के पुत्र, सेना पर।

चेत : अब इन दोनों को मिलाकर एक साथ बोलो।

विदूषक : सेनावसंत ।

चेट : ऐसे नहीं, पलटकर बोलो ।

विदूषक : (अपना शरीर पलटकर) सेनावसंत ।

चेट : अरे मूर्ख ब्राह्मण, पद पलटकर बोलो ।

विदूषक : (अपने पैर पलटकर) सेनावसंत ।

चेट : नहीं मूर्ख, शब्द पलटकर ।

विदूषक : (सोचकर) वसंतसेना ।

चेट : हाँ, वही आई हैं ।

विदूषक : हाँ!! तो जाकर चारुदत्त को बता दूँ । (चारुदत्त के पास जाकर) मित्र चारुदत्त, तुम्हारे महाजन आए हैं ।

चारुदत्त : हमारे कुल में कौन महाजन है?

विदूषक : कुल में न हो, द्वार पर तो है!...वसंतसेना आई है ।

चारुदत्त : क्यों मुझे झुठलाते हो, मित्र?

विदूषक : मेरी बात पर विश्वास नहीं, तो कुंभीलक से पूछ लो । ओ दासी के पुत्र कुंभीलक, इधर तो आना!

चेट : (पास आकर) आर्य, प्रणाम करता हूँ ।

चारुदत्त : स्वागत हो, भद्र! क्या सचमुच वसंतसेना आई है?

चेट : जी हाँ । सचमुच वह आ रही हैं ।

चारुदत्त : (हर्षपूर्वक) भद्र, प्रिय समाचार देनेवाला मेरे पास से खाली हाथ नहीं जाता । यह लो पारितोषिक!

अपना उत्तरीय उसे दे देता है ।

उत्तरीय लेकर प्रणाम करता है ।

चेट : (पारितोष के स्वर में) जाकर आर्या को सूचित कर दूँ ।

चला जाता है ।

विदूषक : पता भी है कि ऐसे दुर्दिन में वह क्यों आई है?

चारुदत्त : मित्र, मैं ठीक नहीं कह सकता ।

विदूषक : मैं कह सकता हूँ । रत्नावली थोड़े मूल्य की है, स्वर्णपात्र अधिक मूल्य का था । इसलिए कुछ और लेने के लिए आई है ।

चारुदत्त : (स्वगत) तो असंतुष्ट नहीं जाएगी ।

छत्रधारिणी* और विट के साथ

उज्ज्वल वेश में वसंतसेना का प्रवेश ।

उसका भाव उत्कण्ठित है ।

* चेटी के प्रवेश का संकेत भी यहीं अपेक्षित है । (अनु.)

विट : (वसंतसेना को लक्ष्य करके)

देखा वसंतसेने!

रमणियों के वियोगी हृदयों की तरह मलिन,

शैल शिखरों पर झुके हुए मेघ

घोर गर्जन कर रहे हैं।

उस शब्द को सुनकर

मयूर चौंक उठे हैं

और मणिमय तालवृत्तों जैसे पंखों से

आकाश को व्यजन कर रहे हैं!

एवं

कीचड़ में सने हुए

धाराओं से आहत मेंढक

पानी पी रहे हैं!

चंचल-पद मयूर

उन्मुक्त कंठ से शब्द कर रहे हैं।

कदंब खिल उठे हैं

और संन्यासी चंद्रमा

कुल-कलंक व्यक्तियों-से मेघों से घिर गया है।

विक्षिप्त युवती-सी विद्युत्

यहाँ-से-वहाँ भटक रही है!

वसंतसेना : आप ठीक कह रहे हैं, आचार्य!

सपत्नी-सी रात

क्रोध से गरजती हुई

मार्ग रोक रही है,

बार-बार चाह रही है

कि मैं लौट जाऊँ!

विट : यदि ऐसा है, तो तुम इसे उलाहना दो।

वसंतसेना : इसे उलाहना देकर क्या होगा? मैं कहती हूँ कि

मेघ जी-भर बरस और गरज लें

और चाहे वज्र भी गिरा लें—

मैं अपने निश्चय से कदापि नहीं डिगूँगी।

विट : देखो वसंतसेने!

पवन की-सी गति

और स्थूल धाराओं के बाण,
 गर्जन का पटहनाद
 और विद्युत् की पताका—
 नृपति है यह मेघ!
 जिसने
 आकाश के नगर में
 तेजहीन शत्रु जैसे
 चंद्रमा की किरणों को
 पराजित कर डाला है!

वसंतसेना : आप ठीक कह रहे हैं।

गजेंद्र-से मलिन
 और जल-भार से झुके हुए,
 विद्युत् की रेखाओं से अंकित
 ये बगुलों-से चितकबरे मेघ
 हृदय को बींधने के लिए
 क्या पर्याप्त नहीं?

विट : तुम ठीक कह रही हो। देखो न
 बकपंक्ति का पांडुर उष्णीश
 और विद्युत् का झूलता हुआ चामर!
 आज आकाश
 मत्त वारण-सा झूल रहा है!

वसंतसेना : और देखिए आचार्य!
 गीले तमाल पत्रों के-से मलिन मेघों ने
 सूर्य को पी लिया है!
 वाणाहत हाथियों की तरह
 धाराओं से आहत वल्मीक
 गिर रहे हैं।
 स्वर्णदीपिका-सी विद्युत्
 अट्टालिकाओं पर मँडरा रही है।

विट : देखो वसंतसेने!
 बरसते हुए मेघ
 विद्युत् की डोर से बँधे हाथी हैं
 जो

इंद्र का आदेश पाकर
परस्पर प्रयत्न से
चाँदी की रस्सी से
धरती को उठा रहे हैं!

एवं

हवा से फूले हुए,
महिषों से नील वर्ण
और उमड़ते सागर की तरह व्याकुल मेघ
विद्युत् के चंचल पंखों पर उड़ते हुए,
अपनी गंध में डूबी,
हरे-हरे नए अंकुरों से लदी हुई
धरती को
मणिमय बाणों-जैसी धाराओं से
अनवरत वीध रहे हैं!

वसंतसेना : हाँ आचार्य!

मयूर केका-रव से इसे निमंत्रित कर रहे हैं
और उत्कंठित वकुल
वेग से उड़ते हुए इसका आलिङ्गन कर रहे हैं!
कमलों के पास से हटते हुए हंस
उद्विग्न होकर इसे देख रहे हैं!
चारों दिशाओं में अंजन बिखेरता हुआ मेघ
ऊपर को उठ रहा है!

बिट : सच बात है।

कमलों ने आँखें मूँद ली हैं
और रात-दिन का अंतर मिट गया है!
अँधेरा विद्युत् के प्रकाश में झिलमिला रहा है
और दिशाएँ मुँह ढककर सो गई हैं!
घिरे हुए बादलों के छत्र के नीचे
बरसती हुई धाराओं के भवन में
जगत् विश्राम की नींद सो रहा है।

वसंतसेना : हाँ आचार्य!

कृतघ्न के प्रति किए गए उपकारों की तरह
तारिकाएँ व्यर्थ हो गई हैं

दिशाएँ स्नेहहीन दीप की तरह श्रीहीन हैं।
इंद्र के वज्र की आग से तपा हुआ आकाश
पिघलकर
पानी के रूप में नीचे आ रहा है।

एवं

कभी सिर उठाता है,
कभी झुका लेता है,
गरजता और बरसता हुआ
कभी अंधकार फैला देता है।
मेघ नया-नया धनिक है
जो क्षण-क्षण में अपना रूप बदल लेता है।

विट : ठीक बात है।

विद्युत् से जलता हुआ
और बकुल पंक्तियों से हँसता हुआ आकाश
इंद्रधनुष से धाराओं के सौ-सौ बाण छोड़कर
युद्ध कर रहा है!
वज्रनाद से गरजता
और वायु के वेग से परिभ्रमण करता हुआ
जहरीले साँपों-जैसे काले मेघों से
चारों ओर सुगंधि-धूम फैला रहा है!

वसंतसेना : निर्लज्ज है तू मेघ

जो आर्य के घर जाने के समय
गरज-गरजकर मुझे भयभीत कर रहा है
और अपनी धाराओं के हाथों से छू रहा है।

हे इंद्र!

क्यों गरजता है मेघ?
मेरा मार्ग वर्षा से क्यों रोक रहा है?

एवं

इंद्र,
अहल्या के प्रेम में
तुमने अपने को गौतम बताया था,
आज मेरे दुःख को समझो
और इस मेघ को हटा लो!

एवं

गरज लो, बरस लो, या सौ-सौ वज्र गिरा लो इंद्र!
लेकिन आज मेरी राह
रोक पाना असंभव है।

एवं

मेघ बरसता है, बरसे
निष्ठुरता पुरुषों का स्वभाव ही है!
परंतु नारी हृदय का दुःख
विद्युत्,
क्या तू भी नहीं समझ पाती?

विट : न, अब इसे और उलाहना मत दो। यह उपकार भी तो कर रहा है।
ऐरावत के वक्ष की सुनहरी डोर
और पर्वत-शिखर की श्वेत पताका-जैसी विद्युत्
इंद्रभवन की दीपशिखा की तरह
आर्य के घर का मार्ग
तुम्हारे लिए आलोकित कर रही है।

वसंतसेना : आप ठीक कह रहे हैं, आचार्य! यह रहा उनका घर।

विट : देखो, तुम सब कलाओं में निष्णात हो, तुम्हें मैं क्या उपदेश दूँगा? फिर
भी स्नेहवश कह रहा हूँ। जाकर उन्हें क्रोध दिखलाओगी, परंतु अधिक
नहीं। तो अब अंदर चलो।...देखो भाई, आर्य चारुदत्त को सूचित कर दो।

चारुदत्त : (सुनकर) मित्र, देखो क्या बात है?

विदूषक : जैसी आज्ञा। (वसंतसेना के पास जाकर) कल्याण हो!

वसंतसेना : प्रणाम करती हूँ, आर्य! मेरा आना अच्छा तो लग रहा है?

(विट से) आचार्य, इस छत्रधारिणी को आप अपने साथ ले जाइए।

विट : (स्वगत) कितना अच्छा ढंग है मुझे यहाँ से भेजने का! (प्रकट) हाँ, ले
जाऊँगा। मैं चला, वसंतसेना!

विट का प्रस्थान।*

वसंतसेना : आर्य मैत्रेय, तुम्हारे वे जुआरी कहाँ हैं?

विदूषक : (स्वगत) अहा-हा! जुआरी कहकर मेरे मित्र की क्या शोभा बढ़ाई है!
(प्रकट) उधर बैठे हैं सूखी वृक्ष-वाटिका में।

वसंतसेना : क्यों आर्य, इस वृक्ष-वाटिका को आप सूखी क्यों कहते हैं?

विदूषक : क्योंकि इसमें मुझे कुछ न खाने को मिलता है, न पीने को।

* छत्रधारिणी के साथ (अनु.)।

वसंतसेना मुसकराती है।

वसंतसेना : आइए, अंदर चलिए। (अलग से) अंदर जाकर मुझे क्या कहना होगा?

चेटी : कहना जुआरी, तुम्हारी संध्या अच्छी तो बीत रही है?

वसंतसेना : यह मुझसे कहा जाएगा?

चेटी : अवसर अपने-आप कहला देगा।

विदूषक : आइए, आइए।

वसंतसेना अंदर आकर चारुदत्त
पर फूल फेंकती है।

वसंतसेना : जुआरी, तुम्हारी संध्या अच्छी तो बीत रही है?

चारुदत्त : (देखकर) आ गई तुम वसंतसेने! (उठकर हर्ष के साथ) स्वागत है! यह
आसन लेकर बैठ जाओ।

विदूषक : यह रहा आसन। इस पर बैठ जाइए।

वसंतसेना बैठ जाती है। और
सब भी बैठ जाते हैं।

चारुदत्त : देखो मित्र,

कान में टेंगे

कदंब के फूल ने

वर्षा का जल गिरा-गिराकर

इनका मानो अभिषेक कर दिया है।

देखो वसंतसेना के वस्त्र भीग गए हैं। इनके लिए एक जोड़ा सूखे वस्त्र
ला दो।

विदूषक : जैसी आज्ञा।

चेटी : ठहरो आर्य मैत्रेय! आर्या की सेवा मुझे करने दो।

तदनुसार कार्य करती है।

विदूषक : (अलग से) मित्र, कहो तो मैं इनसे एक बात पूछ लूँ?

चारुदत्त : हाँ-हाँ, क्यों नहीं?

विदूषक : (प्रकट) क्या मैं जान सकता हूँ कि ऐसे अँधेरे दुर्दिन में, जबकि न चाँद
है न चाँदनी, आप यहाँ कैसे आई हैं?

चेटी : कितना सीधा ब्राह्मण है!

वसंतसेना : यह कह कि कितना चतुर ब्राह्मण है!

चेटी : आर्या यह पूछने के लिए आई हैं कि उस रत्नावली का मूल्य क्या है?

विदूषक : (अलग से) क्यों मित्र, मैंने कहा था न कि रत्नावली थोड़े मूल्य की है,
स्वर्णपात्र अधिक मूल्य का था, इसलिए कुछ और लेने के लिए आई हैं?

चेटी : आर्या ने भ्रम से उसे अपनी समझकर जुए में हार दिया है। वह
धृताध्यक्ष राजा का संदेश लेकर न जाने कहाँ चला गया है!

विदूषक : आप मेरी कही हुई बात कह रही हैं!

चेटी : जब तक वह व्यक्ति नहीं मिलता, तब तक के लिए आप यह स्वर्णपात्र
अपने पास रख लें।

स्वर्णपात्र उसे दिखलाती है। विदूषक
सोच में पड़ जाता है।

आप सोच में पड़ गए? क्या यह स्वर्णपात्र आपने पहले कहीं देखा है?

विदूषक : इसका शिल्प बहुत अच्छा है, इसलिए आँखें इससे हटती नहीं।

चेटी : आपकी दृष्टि आपको धोखा दे रही है, आर्य! यह वही स्वर्णपात्र है।

विदूषक : (प्रसन्न होकर) देखा मित्र, यह वही स्वर्णपात्र है, जिसे हमारे घर से चोर
चुराकर ले गए थे।

चारुदत्त : मित्र,

धरोहर लौटाने का।

जो बहाना हमने किया था,

वही हमारे साथ किया जा रहा है।

किंतु यह क्या सचमुच वही पात्र है,

या हमारे साथ छल किया जा रहा है?

विदूषक : मैं अपने ब्राह्मणत्व की सौगंध खाता हूँ, यह वही पात्र है।

चारुदत्त : तब तो यह बहुत ही प्रिय सूचना है।

विदूषक : (अलग से) मैं इनसे पूछूँ कि यह इन्हें मिला कहाँ से है?

चारुदत्त : हाँ, पूछने में क्या हानि है?

विदूषक : (चेटी के कान में) देखो, बात यह है कि...

चेटी : (विदूषक के कान में) देखो, बात यह है कि...

चारुदत्त : तुम दोनों इस तरह क्यों बात कर रहे हो? हम लोग क्या बाहर के
व्यक्ति हैं?

विदूषक : (चारुदत्त के कान में) देखो, बात यह है कि...

चारुदत्त : भद्रे, क्या सचमुच यह वही स्वर्णपात्र है?

चेटी : जी हाँ, यह वही है।

चारुदत्त : प्रिय समाचार देनेवाला मेरे यहाँ से कभी खाली हाथ नहीं जाता। लो
यह अँगूठी।

उँगली में अँगूठी न होने से सहसा
लज्जित हो उठता है।

वसंतसेना : (स्वगत) इसीलिए तो मैं मन में तुम्हारी पूजा करती हूँ।

चारुदत्त : (अलग से) कितने दुःख का विषय है!

धनहीन व्यक्ति का जीवन
जन्म से ही निरर्थक है!
प्रतिकार में असमर्थ होने से
उसका क्रोध और अनुग्रह
दोनों व्यर्थ चले जाते हैं!

एवं

धनहीन व्यक्ति
पंखहीन पक्षी है
सूखा पेड़
जलहीन सरोवर
और बिना दाँत के साँप है!

एवं

सूना घर है धनहीन व्यक्ति
जलहीन कूप और पत्रहीन वृक्ष!

विदूषक : मित्र, इस तरह दुखी होना ठीक नहीं (प्रकट, परिहास के स्वर में) तो
देवी, मेरी स्नान की धोती लौटा दें।

वसंतसेना : आर्य चारुदत्त, रत्नावली भेजकर मुझे छोटा करना उचित नहीं था।

चारुदत्त : (सलज्ज भाव से मुसकराकर) देखो वसंतसेने,

सत्य पर कौन विश्वास करता?
सब लोग मुझे ही छोटा बताते!
निर्धनता में व्यक्ति का तेज इस तरह मंद पड़ जाता है
कि सब लोग उस पर संदेह करने लगते हैं!

विदूषक : मित्र, हम लोग सुख से न बैठ सकें, इसलिए बरसती हुई घटाएँ फिर
उमड़ आई हैं।

चारुदत्त : ठीक कहते हो मित्र!

पंक का वक्ष चीरकर
जिस तरह मृणाल की सुइयाँ फूटती हैं
उसी तरह
मेघों का वक्ष चीरकर
जलधाराएँ फूट रही हैं;
चाँद की विपत्ति में

मानो आकाश रो रहा है।

एवं

मेघ-हलधर के वस्त्र की तरह नील वर्ण!

वर्षा की धाराएँ—

अर्जुन के शरों की तरह चंड

और सज्जनों के हृदय की तरह निर्मल!

लगता है

इंद्र का मुक्तागार

आज चारों ओर लुटाया जा रहा है।

वसंतसेना शृंगार-भाव का नाट्य करती है।

चारुदत्त : (स्पर्श-पुलक का नाट्य करता हुआ)

और गंभीर गर्जन करो मेघ!

तुम्हारी ही कृपा है कि

मेरे अंग-प्रत्यंग

इस स्पर्श से पुलकित और रागमय होकर

कदंब के फूलों की तरह

खिल रहे हैं!

विदूषक : अरे दासी के पुत्र दुर्दिन! कितना बुरा है जो इस बेचारी को इस तरह बिजलियों से डरा रहा है!

चारुदत्त : तुम्हारा उलाहना उचित नहीं है मित्र! कहो कि

सौ बरस तक उठी रहें ये घटाएँ

और विद्युत् अनवरत इसी तरह कौंधती रहे!

ऐसे ही समय यह संभव था कि मैं

आर्या वसंतसेना का

नाट्य लास्य देख सकता!

वसंतसेने!

फटा हुआ वितान

वायु के आघात सह

वेदिका के खंभों पर

झूल-झूल जाता है;

और यह चित्रभित्ति—

सुधालेप के फट जाने से

वर्षा से गल-गलकर

ढही जा रही है।

(ऊपर की ओर देखकर) और देखो आर्ये! वह इंद्रधनुष!

विद्युत् की जिह्वा दिखाता हुआ,
इंद्रधनुष की विशाल बाँहें फैलाए
मेघों के दीर्घ श्मश्रुवाला आकाश
मुँह खोलकर जम्हाई ले रहा है।
तो आओ अंदर चलें।

उठकर घूमता है।

ताल वन में तार,
वृक्षों पर मंद्र
शिलाओं पर रुक्ष
और पानी पर चंड—
ताल के अनुसार
कई-कई स्वर उत्पन्न करती हुई वर्षा की धाराएँ
वीणा के संगीत का
अनुकरण कर रही हैं!

सबका प्रस्थान।

दुर्दिन नामक पाँचवाँ अंक।

अंक : छह



सुख : काह

चेटी का प्रवेश ।

चेटी : आर्या अभी तक नहीं जागीं । तो चलकर जगा दूँ ।

घूमती है । शरीर ढककर सोई हुई

वसंतसेना का प्रवेश

चेटी : (देखकर) अब उठ जाइए आर्ये ! प्रभात हो गया है ।

वसंतसेना : (जागकर) क्या रात में ही प्रभात हो गया ।

चेटी : आपके लिए रात होगी, हम लोगों के लिए तो यह प्रभात ही है ।

वसंतसेना : तुम लोगों के वे जुआरी कहाँ हैं ?

चेटी : वर्द्धमानक को आदेश देकर आर्य चारुदत्त जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान की ओर चले गए हैं ।

वसंतसेना : क्या आदेश देकर ?

चेटी : कि रात में वह गाड़ी तैयार रखे जिससे आप उसमें यात्रा कर सकें ।

वसंतसेना : कहाँ की यात्रा करनी होगी मुझे ?

चेटी : जहाँ आर्य चारुदत्त गए हैं ।

वसंतसेना : मैं प्रस्थान करने के लिए उद्यत हूँ ।...पर यह बता कि क्या मुझे अंदर के चौबारे में स्थान दिया गया है ?

चेटी : अंदर के चौबारे में ही नहीं, आप तो यहाँ सब लोगों के हृदय में स्थान पा गई हैं ।

वसंतसेना : मेरे अचानक उनका अतिथि बनने से किसी को दुःख तो नहीं हुआ ?

चेटी : दुःख तो उन लोगों को अब होगा ।

वसंतसेना : कब ?

चेटी : जब आप यहाँ से जाएँगी ।

वसंतसेना : उसमें तो मुझे भी दुःख होगा । (अनुनयपूर्वक) देख, यह रत्नावली तू मेरी दीदी, आर्या धूता के पास ले जा । उन्हें देकर कहना कि मैं आर्य चारुदत्त के गुणों की दासी हूँ, उस नाते उनकी भी दासी हूँ । यह रत्नावली वह अपने कंठ में धारण करें ।

चेटी : आर्य चारुदत्त इसके लिए उन पर क्रोध करें तो ?

वसंतसेना : तू जा। वह क्रोध क्यों करेंगे?

चेटी : (रत्नावली लेकर) जैसी आज्ञा।

जाकर लौट आती है।

आर्या धूता कहती हैं कि आर्य ने आपको यह उपहार दिया है; उनका इसे लेना ठीक नहीं। उनके लिए सर्वश्रेष्ठ आभूषण स्वयं आर्य चारुदत्त ही हैं।

बच्चों को साथ लिये रदनिका का प्रवेश।

रदनिका : आओ वत्स, इस गाड़ी से खेलें।

बच्चा : (रूठे हुए स्वर में) नहीं, मैं मिट्टी की गाड़ी से नहीं खेलूंगा। मुझे वही सोने की गाड़ी लाकर दो।

रदनिका : (दुःख के साथ निःश्वास छोड़कर) बेटे, हमारे यहाँ अब सोना कहाँ है? तेरे पिता के पास जब फिर धन आएगा, तब तू सोने की गाड़ी से खेलना।...इसका मन बहलाते हुए आर्या वसंतसेना के पास हो आऊँ। (वसंतसेना के पास जाकर) आर्य, प्रणाम करती हूँ।

वसंतसेना : स्वागत हो, रदनिका! यह बच्चा किसका है? शरीर पर आभूषण नहीं है, फिर भी इसका चाँद-सा मुख हृदय को आनंदित कर रहा है!

रदनिका : यह आर्य चारुदत्त का पुत्र रोहसेन है।

वसंतसेना : (बाँहें फैलाकर) इधर आओ बेटे! गले मिली! (उसे गोद में बिठाकर) रूप तो बिलकुल पिता का ही पाया है।

रदनिका : रूप ही नहीं, स्वभाव भी उनका है। आर्य चारुदत्त इसी के साथ अपना मन बहलाते हैं।

वसंतसेना : यह रो क्यों रहा है?

रदनिका : अभी-अभी पड़ोस के घर के बच्चे की सोने की गाड़ी से खेल रहा था। वह अपनी गाड़ी ले गया है। यह उसे ढूँढ़ रहा था, इसलिए मैंने इसे यह मिट्टी की गाड़ी बना दी है। परंतु कह रहा है कि मैं मिट्टी की गाड़ी से नहीं खेलूंगा, मुझे वही सोने की गाड़ी लाकर दो।

वसंतसेना : हाय, परायी संपत्ति के संताप का अनुभव इसे भी होता है। दैव! कमलपत्र पर पड़े जलबिंदु के समान मनुष्यों के भाग्य से तुम इस प्रकार क्यों खेला करते हो?...रो मत, बेटे! तुझे सोने की गाड़ी भी खेलने को मिलेगी।

बच्चा : ये कौन हैं, रदनिका?

वसंतसेना : तेरे पिता के गुणों की एक दासी।

रदनिका : बेटे, यह भी तेरी माँ के समान पूज्या हैं।

बच्चा : तू झूठ कहती है। ये मेरी माँ के समान पूज्या हैं, तो इनके शरीर पर इतने आभूषण कैसे हैं?

वसंतसेना : बेटे, अपने भोले मुँह से तू कितनी करुण बात कह रहा है!

(आभूषण उतारने का नाट्य करके अश्रुपूर्ण स्वर में) ले, अब तो तेरी माँ के समान पूज्या हो गई न! यह आभूषण ले ले और इससे तू सोने की गाड़ी बना ले।

बच्चा : हटो मैं नहीं लेता। तुम तो रो रही हो।

वसंतसेना : (आँसू पोंछकर) नहीं, रोती नहीं, बेटे! जा खेल तू! (गाड़ी को आभूषणों से भरकर) जा, जाकर इनसे सोने की गाड़ी बनवा ले।

रदनिका बच्चे को लिये हुए चली जाती है।

गाड़ी पर बैठे हुए चेत वर्द्धमानक का प्रवेश।

वर्द्धमानक : सुनो रदनिका! आर्या वसंतसेना से जाकर कह दो कि ढकी हुई गाड़ी पक्षद्वार के पास तैयार खड़ी है।

रदनिका : (अंदर आकर) आर्ये, वर्द्धमानक कह रहा है कि पक्षद्वार के पास गाड़ी तैयार खड़ी है।

वसंतसेना : पल-भर ठहर, मैं अपना प्रसाधन कर लूँ।

रदनिका : (बाहर आकर) वर्द्धमानक, पल-भर ठहर। आर्या अपना प्रसाधन कर रही हैं।

चेत : अरे वाह! मैं गाड़ी का आस्तरण तो भूल ही आया! तब तक जाकर ले आऊँ...ये बैल नाक की रस्सियाँ तुड़ाने को हो रहे हैं। तो गाड़ी से ही जाकर लौट आता हूँ।

चला जाता है।

वसंतसेना : दासी, मेरा प्रसाधन ले आ, मैं अपने शरीर को सजा लूँ।

शरीर-प्रसाधन में लग जाती है।

स्थावरक : राजा के साले संस्थानक ने मुझसे कहा है कि स्थावरक, गाड़ी लेकर शीघ्र ही जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान के पास पहुँच जाओ। तो उसी ओर चलूँ।...खींचो बलीवर्दी खींचो! (धूमकर और देखकर) गाँव की गाड़ियों ने मार्ग रोक रखा है। अब क्या करूँ? (ऐंठ के साथ) अरे भाई, हटो, रास्ता दो! (सुनकर) क्या कहा? किसकी गाड़ी है यह? यह गाड़ी राजा के साले संस्थानक की है। सो जल्दी से हट जाओ। (देखकर) अरे, यह एक व्यक्ति मुझे देखते ही अपने को छिपाकर ऐसे दूसरी ओर भाग गया जैसे द्यूतगृह से पलायन करके आया जुआरी द्यूताध्यक्ष को देखकर भागता है! कौन था यह?...परंतु मुझे क्या? मैं शीघ्रता से चलूँ। अरे गँवार लोगो, आगे से हट जाओ। क्या कहा? पल-भर रुक जाऊँ, तुम्हें गाड़ी निकाल लेने दूँ! अरे, मैं राजा के साले संस्थानक का वीर रथवाह

तुम्हें पहले गाड़ी निकालने दूँगा? परंतु यह बेचारा तो अकेला ही है। तो ऐसा करता हूँ—अपनी गाड़ी को आर्य चारुदत्त की वृक्ष-वाटिका के पक्षद्वार के पास रोक लेता हूँ। यह यहाँ रोक ली गाड़ी!

चेटी : आर्ये, धुरी का शब्द सुनाई दे रहा है। लगता है गाड़ी आ गई है।

वसंतसेना : चल! मेरा हृदय बहुत उत्सुक हो रहा है। बता पक्षद्वार किधर है?

चेटी : इधर से आइए आर्ये!

वसंतसेना : (घूमकर) दासी, तू यहाँ रुक जा।

चेटी : जैसी आज्ञा।

चली जाती है।

वसंतसेना : (गाड़ी पर चढ़ते हुए दाईं आँख फड़क उठने से) दाईं आँख क्यों फड़क रही है?...अच्छा, आर्य चारुदत्त के दर्शन से अनिष्ट अपने-आप दूर हो जाएगा।

स्थावरक : (आकर) जो गाड़ी मार्ग रोके थी, उसे तो हटा दिया। अब चलना चाहिए।

गाड़ी पर चढ़ने का नाट्य करता है।

(स्वगत) गाड़ी कुछ भारी लगती है या शायद उस गाड़ी को हटाने में थक गया हूँ, इसलिए यह गाड़ी भारी लग रही है। तो अब चला जाए।...चलो-चलो गोपुत्रो!

नेपथ्य में : सब द्वारपाल अपने-अपने स्थान पर सावधान हो जाएँ! वह ग्वाले का बेटा कारागार तोड़कर, रक्षक को मारकर तथा बंधन को काटकर निकल भागा है। पकड़ो, उसे पकड़ो!

स्थावरक : (स्वगत) नगर में बहुत आतंक फैला है। जल्दी-जल्दी निकल चलूँ।

चला जाता है।

आर्यक : बंधन तोड़कर भागे गजराज की तरह
एक पैर में बँधी शृंखला को घसीटता हुआ
कारागार की विपत्ति से भागकर
मैं एक महान समुद्र लॉघ आया हूँ।

सिद्धों की भविष्यवाणी से भयभीत राजा पालक ने अहीरों की बस्ती से लाकर मुझे बधिकों के घोर कारागार में डाल दिया था। प्रिय मित्र शर्विलक की कृपा से मैं उस बंधन से मुक्त हुआ हूँ।

अश्रुपूर्ण स्वर में :

यदि भाग्य ही यह है
कि मुझे राज्यपद प्राप्त होगा
तो उसमें मेरा दोष क्या है?

उसके लिए
क्यों मुझे
वन्य गज की तरह
बंधन में रहना पड़ रहा है?
माना कि
दैवी अनुशासन का
उल्लंघन असंभव है;
परंतु राजा बलवान है;
उससे विरोध रखकर
कैसे जिया जा सकता है?

तो मैं अभागा अब कहाँ जाऊँ? (सामने देखकर) यह किसी सज्जन के
घर का पक्षद्वार खुला हुआ है।

टूटा-फूटा घर है;
बड़े-बड़े किवाड़
जोड़ों से टूट रहे हैं;
और अर्गला भी नहीं लगी।
मेरे-जैसा ही कोई मंदभाग्य
इस घर का स्वामी है
जिसे विपत्ति ने इस दशा में ला दिया है।
तो यहीं छिपकर खड़ा हो रहूँ।

नेपथ्य में : चलो, गोपुत्रो चलो!

आर्यक : (सुनकर) लगता है कोई गाड़ी आ रही है।

संभव है कि यह
किन्हीं उच्छृंखल व्यक्तियों का
लाया हुआ यान हो,
अथवा किसी वधू की
विदाई के समय
या किसी कुलीन की
सुदूर यात्रा के लिए
लाया गया रथ हो!
परंतु संयोग से
इस समय यह खाली है।
लगता है कि भाग्य ने

मेरे ही लिए
इसे इस समय
यहाँ ला दिया है।

गाड़ी लिये हुए वर्द्धमानक का प्रवेश।

वर्द्धमानक : अरे वाह! मैं गाड़ी का आस्तरण भी ले आया! रदनिके, आर्या वसंतसेना से कहो कि गाड़ी तैयार है, चढ़कर जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान की ओर चलें।

आर्यक : (सुनकर) वसंतसेना की गाड़ी है और बाहर जा रही है। तो इसी में बैठ जाऊँ!

धीरे से गाड़ी की ओर बढ़ता है।

वर्द्धमानक : (शब्द सुनकर) नूपुरों का शब्द! इसका अर्थ है आर्या आ गई हैं। आर्ये, ये बैल नासिका की रस्सी से उतावले हो रहे हैं। आप पीछे से बैठ जाएँ।

आर्यक पीछे से बैठ जाता है।

पैर उठाने से जो नूपुर का शब्द हो रहा था वह रुक गया है, गाड़ी में भार बढ़ गया है, इसीलिए लगता है कि आर्या बैठ गई हैं। तो अब चला जाए।...चलो गोपुत्रो, चलो!

वीरक का प्रवेश।

वीरक : अरे जय, जयमान, चंदनक, मंगल, पुष्पभद्र प्रभृति प्रधान पुरुषों, सुनो!
तुम लोग यहाँ निश्चित पड़े हो?

वह ग्वाले का बेटा

जो कारागार में बंद था,

अपने बंधन के साथ-साथ

राजा के हृदय को तोड़कर

वहाँ से निकल भागा है!

तुम गली के पूर्वी द्वार पर ठहरो और तुम पश्चिमी द्वार पर। तुम दक्षिणी द्वार को सँभालो और तुम उत्तरी द्वार को। मैं चंदनक के साथ उस प्राकारखंड पर चढ़कर देखता हूँ। आओ चंदनक, तुम मेरे साथ आओ।

चंदनक घबराया हुआ आता है।

चंदनक : वीरक, विशल्य, भीम, अंगद, दंडकालक तथा दंडशूर प्रभृति वीर प्रमुखों, सुनो!

शीघ्रता करो—

विश्वास के साथ आओ प्रयत्न में जुट जाओ!

यह न हो

कि राजा की लक्ष्मी किसी और गोत्र में चली जाए!

एवं

खोजो उसे
उद्यान, सभा, मार्ग, नगर, हाट और घर—
सभी स्थानों पर
और अन्यत्र भी जहाँ-कहीं संभव हो।
बताओ वीरक!
कोई निश्चित बात या निश्चित चिह्न!
या केवल इतना ही
कि कौन था वह
जो ग्वाले के बेटे को छुड़ाकर ले गया है।
चंदनक के जीते-जी
कौन है जो ग्वाले के बेटे को छुड़ाकर ले जाए?
कौन है वह
जिसकी आठवीं राशि में सूर्य, चौथी में चाँद
छठी में शुक्र तथा तथा पाँचवीं में मंगल है?
कौन है
जिसके लग्न से छठे घर में बृहस्पति
तथा नवें घर में शनिश्चर है?

वीरक : वीर चंदनक!

आधा सूर्य निकला था जब
किसी ने उसे कारागार से मुक्त किया है।
तुम्हारे हृदय की सौगंध
वह उसे लेकर अभी दूर नहीं गया।

वर्द्धमानक : चलते चलो गोपुत्रो, चलते चलो।

चंदनक : (देखकर) अरे देखो-देखो!

वह ढकी हुई गाड़ी
राजमार्ग से जा रही है।
सोचकर बताओ
कि वह किसकी गाड़ी है?
और उसका गंतव्य क्या है?

वीरक : (देखकर) गाड़ीवान, गाड़ी को रोक लो! किसकी गाड़ी है यह, और
इसमें कौन कहाँ जा रहा है?

वर्द्धमानक : यह आर्य चारुदत्त की गाड़ी है। आर्या वसंतसेना इसमें बैठी हैं और

जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान की ओर जा रही हैं।

चंदनक : जाने दो।

वीरक : बिना देखे ही?

चंदनक : और क्या?

वीरक : परंतु किस विश्वास के बल पर?

चंदनक : आर्य चारुदत्त के विश्वास...।

वीरक : आर्य चारुदत्त कौन हैं? और वसंतसेना कौन हैं जो बिना देखे ही इन्हें जाने दिया जाए?

चंदनक : अरे तुम आर्य चारुदत्त को नहीं जानते! वसंतसेना को भी नहीं! यदि तुम आर्य चारुदत्त और वसंतसेना को नहीं जानते, तो तुम आकाश में चाँद और चाँदनी क्या है, यह भी नहीं जानते!

कौन नहीं जानता उसे!

गुणों में कमल है और शील में वह चंद्रमा है,
विपद्ग्रस्त व्यक्तियों के दुःख दूर करनेवाला
चारों समुद्रों का वह सारभूत रत्न है।

एवं

दो ही तो हैं इस नगरी में
जो पूजनीय और श्रेष्ठ हैं।
एक आर्या वसंतसेना—
और दूसरे धर्मधन चारुदत्त।

वीरक : सुनो चंदनक!

जानता हूँ चारुदत्त को;
वसंतसेना को भी भली-भाँति जानता हूँ।
परंतु राज्य-कार्य करने में
मैं अपने पिता को भी नहीं जानता।

आर्यक : (स्वगत) यह मेरा पहले का वैरी है और वह मेरा पहले का मित्र! क्योंकि आग वही है,
परंतु चिता और विवाह-मंडप में कार्य अलग-अलग करती है,
इन दोनों का नियोग एक ही है
परंतु स्वभाव में कितना-कितना अंतर है!

चंदनक : तुम राजा के विश्वासपात्र प्रधान सेनापति हो। मैं बैलों को पकड़ रहा हूँ, तुम देख लो।

वीरक : तुम भी राजा के विश्वासपात्र सेनापति हो। तुम्हीं न देख लो।

चंदनक : मेरा देखना और तुम्हारा देखना एक ही है?

वीरक : तुम्हारा देखना और राजा पालक का देखना एक है।

चंदनक : गाड़ीवान, भार ऊपर को करो।

वर्द्धमानक आदेश का पालन करता है।

आर्यक : (स्वगत) तो प्रहरी मुझे देखने जा रहे हैं। मुझ अभागे के पास अस्त्र भी नहीं है। अथवा

भीम का अनुकरण करूँगा

और भुजाओं के शस्त्र से लड़ जाऊँगा।

बंदी होकर जीवित रहने से

लड़ते हुए मर जाना कहीं अच्छा है।

परंतु यह साहस दिखाने का समय नहीं है।

चंदनक गाड़ी पर चढ़ने का अभिनय

करके अंदर देखता है।

(चंदनक से) मैं शरणागत हूँ।

चंदनक* : शरणागत को अभय हो!

आर्यक : शरणागत को जो शरण न दे

उसकी जय लक्ष्मी कभी नहीं रहती।

उसके मित्र और बांधव उसे छोड़ जाते हैं

और वह सदा के लिए उपहास-पात्र बना रहता है।

चंदनक : श्येन से डरे हुए पक्षी की तरह गोपालपुत्र आर्यक व्याध के हाथों में पड़ गए हैं। (सोचकर) ये हैं तो निरपराध और इस समय शरणागत भी हैं। आर्य शर्विलक ने मेरी प्राणरक्षा की थी और उनके ये मित्र हैं। आर्य चारुदत्त की गाड़ी में बैठकर जा रहे हैं। दूसरी ओर राजा का आदेश है। क्या करना चाहिए? परंतु जो हो सो हो, मैं पहले इन्हें अभयदान दे चुका हूँ।

कोई परोपकारी

किसी डरे हुए व्यक्ति को

अभयदान देकर

यदि नष्ट हो जाता है

तो सारे संसार में उसकी प्रशंसा की जाती है।

(भयभीत-सा गाड़ी से उतरकर) मैंने आर्य को...नहीं आर्या वसंतसेना को देख लिया है। वे कहती हैं कि यह बात उचित और शोभनीय नहीं कि उन्हें मार्ग में रोका जा रहा है।

* मूल में (संस्कृत का आश्रय लेकर) अनु.।

वीरक : चंदनक, मुझे इसमें संदेह है।

चंदनक : कैसा संदेह?

वीरक : अभी तुमने कहा

कि तुमने आर्य को देखा है।

फिर कहा कि नहीं

वसंतसेना को देखा है।

यह कैसी घबराहट है, मित्र

तुम्हारा कंठ रुक क्यों रहा है?

मुझे विश्वास नहीं होता।

चंदनक : अरे, अविश्वास की क्या बात है? हम दक्षिण के लोग ठीक बोल ही नहीं सकते। हम खस, खत्ति, खड़ा, खड़टो, विलय, कर्णाट, कर्ण, प्रावरण, द्रविड़, चोल, चीन, वर्वर, खेर, खान मुख तथा मधुघात प्रभृति म्लेच्छ जातियों के लोग सब भाषाएँ तो जानते नहीं। इसलिए 'आर्य' को 'आर्य' और 'देख लिया' को 'देख ली'—जैसा मुँह में आता है कह जाते हैं।

वीरक : तो मैं भी देख लूँ। राजा की आज्ञा ऐसी है और मैं राजा का विश्वासपात्र कर्मचारी हूँ।

चंदनक : तो अब मैं विश्वासपात्र नहीं रहा?

वीरक : मुझे स्वामी के आदेश का पालन करना है।

चंदनक : (स्वगत) यदि कह दूँ कि गोपालपुत्र आर्यक आर्य चारुदत्त की गाड़ी में बैठकर जा रहे हैं, तो आर्य चारुदत्त भी राजा की लपेट में आ जाएँगे। अब क्या कहूँ? (सोचकर) कर्णाट कलह का प्रयोग किया जाए। (प्रकट) देखो वीरक, चंदनक की देखी हुई गाड़ी को तुम फिर से देखोगे? तुम अपने को समझते क्या हो?

वीरक : तुम अपने को क्या समझते हो?

चंदनक : आज आदर और सम्मान मिलने लगा है, इसलिए अपनी जात भूल गए हो?

वीरक : (क्रोधपूर्वक) क्यों, मेरी जात क्या है?

चंदनक : उसका नाम कौन ले?

वीरक : नहीं, मैं नहीं लेता।

जानता हूँ तुम्हारी जाति

फिर भी शील के कारण कुछ नहीं कहता।

कैथ को फोड़ने से क्या निकलता है?

मैं उस रहस्य को मन में ही रखूँ तो अच्छा है।

वीरक : बताओ, बताओ तुम!

चंदनक संकेत से बताता है।

वीरक : यह क्या है?

चंदनक : हाथ में घिसी हुई सिल लिये
लोगों की दाढ़ी के बाल इकट्ठे करनेवाले!

कैंची चलाते-चलाते

आज तुम सेनापति हो गए?

वीरक : तुम्हें सम्मान मिला है, इसलिए तुम्हें भी तो अपनी जात याद नहीं रही।

चंदनक : अरे चाँद की तरह निर्मल चंदनक की क्या जात बताओगे!

वीरक : कौन उसका नाम ले!

चंदनक : तुम लो तो उसका नाम!

वीरक संकेत से बताता है।

क्या है यह?

वीरक : सुनो!

तुम्हारी जाति तो बहुत ऊँची है!

भेरी तुम्हारी माँ है; नगाड़ा तुम्हारा पिता

और करकट तुम्हारा भाई!

आज दुर्मुख, तुम भी सेनापति हो गए?

चंदनक : (क्रोधपूर्वक) मुझ चंदनक को तुम चमार बताते हो?...अच्छा देख लो
तुम गाड़ी।

वीरक : गाड़ीवान, गाड़ी घुमाओ, मैं देखता हूँ।

वर्द्धमानक आदेश का पालन करता है।

वीरक गाड़ी पर चढ़ने लगता है।

चंदनक उसे बालों से पकड़कर

खींच लेता है और पैर से

मारने लगता है।

अरे मैं... राजा का विश्वासपात्र...राजा की आज्ञा का पालन कर रहा

हूँ और तुम मुझे बालों से खींचकर पैर मारने लगे हो! तो सुन लो।

न्यायालय में तुम्हें चतुरंग दंड* न दिलाऊँ, तो मेरा नाम वीरक नहीं!

चंदनक : अरे तुम न्यायालय छोड़कर राजा के पास चले जाओ। तुम्हारे जैसे कुत्ते
को मैं क्या समझता हूँ?

* शिरोमुंडन, कशाघात, धनहरण तथा बहिष्करण। (अनु.)

वीरक : तो देख लेना!

चला जाता है।

चंदनक : (चारों ओर देखकर) गाड़ीवान, गाड़ी ले जाओ। कोई पूछे तो कह देना कि चंदनक और वीरक दोनों ने देख ली है। आर्ये वसंतसेने, यह स्मृति-चिह्न मैं आपको दे रहा हूँ।

अपनी तलवार देता है।

आर्यक : (तलवार लेकर)

शस्त्र हाथ में आते ही
दाईं भुजा फड़कने लगी।
अब सबकुछ मेरे अनुकूल है
और मैं सर्वथा सुरक्षित हूँ।

चंदनक : आर्ये!

निवेदन है
कि मुझ पर विश्वास रखें
और कभी-कभी चंदनक का स्मरण कर लिया करें।
किसी लोभ से मैं यह नहीं कहता,
केवल स्नेहवश ही निवेदन कर रहा हूँ।

आर्यक : चंद्र के समान सुखदायी चंदनक!

यह सौभाग्य है कि आज से तुम मेरे मित्र हो।
यदि सिद्धों की वाणी सार्थक सिद्ध हुई
तो मैं चंदनक को कदापि नहीं भूलूँगा।

चंदनक : ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सूर्य

सब तुम्हें अभयदान दें!
देवी ने जैसे शुंभ-निशुंभ का नाश किया था
वैसे ही तुम शत्रुपक्ष का नाश कर सको।

वर्द्धमानक गाड़ी लिये हुए चला जाता है।

चंदनक : (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे! ये निकलकर गए तो मेरा मित्र शर्विलक भी इनके पीछे-पीछे चल दिया! राजा के विश्वासपात्र प्रधान सेनापति वीरक को मैंने रुष्ट कर दिया है। तो पुत्र और भाई इत्यादि का साथ लेकर मैं भी इन्हीं लोगों के पीछे चलता हूँ।

चला जाता है।

प्रवहण-विपर्यय नामक छठा अंक।

अंक : सात

चारुदत्त और विदूषक का प्रवेश ।

विदूषक : देखो मित्र, यह जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान कितना सुंदर लग रहा है!

चारुदत्त : सच कहते हो मित्र! देखो न

वणिक हैं ये वृक्ष

जिन्होंने फूलों के हाट सजा रखे हैं।

और राजकर उगाहनेवाले भ्रमर

इनके चारों ओर मँडरा रहे हैं।

विदूषक : देखो, बिना बुहारे ही यह शिलातल कितना स्वच्छ है! आओ यहाँ बैठ जाओ।

चारुदत्त : (बैठकर) मित्र, वर्द्धमानक ने आने में बहुत समय लगा दिया है।

विदूषक : मैंने कहा था उससे कि वर्द्धमानक, वसंतसेना को लेकर शीघ्र ही आ जाना।

चारुदत्त : तो वह इतना समय क्यों लगा रहा है?

आगे-आगे कोई गाड़ी धीमी चाल से चल रही है

और उसे मार्ग नहीं मिल रहा?

या कि कोई चाक टूट गया है

और वह उसे बदलने के लिए रुक गया है?

या कहीं बैलों की रस्सी ही तो नहीं टूट गई?

संभव है रास्ते में लकड़ियाँ पड़ी हों और उसे दूसरी ओर से आना पड़ रहा हो।

या फिर कहीं ऐसा न हो कि बैलों को उनकी इच्छा पर छोड़कर

वह यूँ ही निश्चित भाव से धीरे-धीरे चला आ रहा हो?

आर्यक वाली गाड़ी को लिये हुए

वर्द्धमानक का प्रवेश।

वर्द्धमानक : चलो, गोपुत्रो चलो!

आर्यक : (स्वगत)

राजपुरुषों के दर्शन-मात्र से भयभीत

और पैर बँधे होने से ठीक से चलने में असमर्थ
अज्ञात रूप से उस सज्जन के वाहन में, मैं जा रहा हूँ।
मेरी स्थिति वही है

जो कौवे के घोंसले में कोयल के बच्चे की होती है।
नगर से बहुत दूर निकल आया हूँ। तो क्या गाड़ी से उतरकर वाटिका
के घने वृक्षों में छिप रहूँ? या कि गाड़ी के स्वामी से मिल लूँ? नहीं,
घने वृक्षों में छिपना ठीक नहीं। सुना है आर्य चारुदत्त शरणागत-वत्सल
हैं। उनसे मिलकर जाना ही उचित होगा।

शरणागत वत्सल वे
मुझे विपत्ति के समुद्र को लाँघकर आए देख
अवश्य सुख प्राप्त करेंगे।
मेरा यह शरीर
इस अवस्था को प्राप्त होकर भी
उन्हीं महात्मा के
गुणों से सुरक्षित है।

वर्द्धमानक : यह रहा उद्यान। तो अंदर चलूँ। (पास आकर)...आर्य मैत्रेय!

विदूषक : लो मित्र, प्रिय समाचार है। वर्द्धमानक बुला रहा है। आर्या वसंतसेना
आ पहुँची हैं।

चारुदत्त : यह तो सचमुच ही प्रिय समाचार है।

विदूषक : (वर्द्धमानक से) क्यों दासी के पुत्र, इतनी देर कहाँ कर दी?

वर्द्धमानक : क्रोध न करो आर्य मैत्रेय! गाड़ी का आस्तरण भूल आया था, इसलिए
जाने-आने में इतनी देर हो गई।

चारुदत्त : वर्द्धमानक, गाड़ी को घुमा लो। मैत्रेय, तुम वसंतसेना को उतार लो।

विदूषक : क्या इसके पैरों में बेड़ी पड़ी है जो इससे स्वयं नहीं उतरा जाता?

उठकर गाड़ी का परदा उठाकर देखता है।

विदूषक : मित्र, अंदर वसंतसेना तो नहीं है, कोई वसंतसेन बैठा है।

चारुदत्त : परिहास छोड़ो मित्र! हटो, मैं स्वयं उतार लेता हूँ।

आर्यक : (देखकर) तो यही हैं गाड़ी के स्वामी! इनकी कीर्ति ही सुंदर नहीं, शरीर
भी सुंदर है।...मुझे अब कोई भय नहीं।

चारुदत्त : (गाड़ी पर चढ़कर) अरे! ये कौन हैं?

हाथी की सूँड जैसी बाँहें

और सिंह-जैसे पीन और उन्नत स्कंध!

सम और विशाल वक्ष

तथा बड़ी-बड़ी चंचल ताँबई आँखें!
परंतु अपने इस महान व्यक्तित्व के प्रतिकूल
इनके एक पैर में शृंखला क्यों बाँधी है?
कौन हैं आप?

आर्यक : मैं ग्वालों के परिवार का आर्यक आपकी शरण में हूँ।

चारुदत्त : वही जिन्हें बस्ती से लाकर राजा पालक ने कारागार में बंद कर दिया था?

आर्यक : हाँ, वही।

चारुदत्त : हम लोगों का परिचय
विधि का विधान है।
मुझे चाहे प्राण देने हों,
मैं शरणागत की रक्षा करूँगा।

आर्यक प्रसन्न हो उठता है।

वर्द्धमानक, इनके पैरों से शृंखला निकाल दो।

वर्द्धमानक : जो आज्ञा। (आदेश का पालने करके) आर्य, शृंखला निकाल दी है।

आर्यक : परंतु उससे भी दृढ़ स्नेह की शृंखला बाँध दी है।

विदूषक : शृंखला साथ ले लो। ये तो मुक्त हो गए, अब अपनी बारी है।

चारुदत्त : छिः! चुप करो।

आर्यक : मित्र चारुदत्त, मैं स्वेच्छा से इस गाड़ी पर चढ़कर आ गया हूँ। इसके लिए क्षमा चाहता हूँ।

चारुदत्त : आपके स्वेच्छा-स्नेह से मैं अपने को धन्य समझता हूँ।

आर्यक : अब आपसे अनुमति लेकर मैं जाना चाहूँगा।

चारुदत्त : हाँ-हाँ, जाइए आप।

आर्यक : तो मैं गाड़ी से उतर जाऊँ?

चारुदत्त : नहीं-नहीं, उतरिए नहीं। आपकी शृंखला अभी-अभी निकाली गई है, इसलिए आप शीघ्र गति से नहीं चल सकेंगे। यहाँ आसपास राजपुरुष बहुत घूमते हैं। गाड़ी में जाने से कोई शंका नहीं करेगा, इसलिए आप गाड़ी में ही चले जाएँ।

आर्यक : आप जैसे उचित समझें।

चारुदत्त : अब आप कुशलतापूर्वक अपने बांधवों के पास जाएँ।

आर्यक : मेरे वास्तविक बांधव तो आज आप ही हैं।

चारुदत्त : कभी बातों-ही-बातों में मेरा स्मरण कर लीजिएगा।

आर्यक : क्या कभी अपनी आत्मा को भी व्यक्ति भूल सकता है?

चारुदत्त : जाते हुए मार्ग में देवता आपकी रक्षा करें।

आर्यक : रक्षा तो मेरी आपके हाथों ही हुई है।

चारुदत्त : वास्तविक रक्षक तो आपका भाग्य है।

आर्यक : परंतु उसमें भी कारण तो आप ही बने हैं।

चारुदत्त : पालक के उत्तेजित हो उठने से आप अब भी बहुत सुरक्षित नहीं हैं।
इसलिए शीघ्र ही यहाँ से निकल जाइए।

आर्यक : अच्छा फिर भेंट होगी।

चला जाता है।

चारुदत्त : राजा को प्रवंचित कर,

जब क्षण-भर भी यहाँ ठहरना असंगत है।

जाओ मैत्रेय, यह शृंखला पुराने कूप में डाल दो

गुप्तचरों की दृष्टि से राजा सबकुछ देखता है।

(बाई आँख का फड़कना सूचित करके) मित्र मैत्रेय, वसंतसेना कहाँ
गई? उसका समाचार लो।

बाई आँख फड़क रही है।

जाने कैसा अज्ञात भय है

जो हृदय को साल रहा है!

आओ, यहाँ से चलें। (घूमकर) अरे! चलते ही सामने बौद्ध भिक्षु का
दर्शन हो गया! अवश्य कुछ-न-कुछ अनिष्ट होगा। (सोचकर) यह इस
मार्ग से जा रहा है। हम भी इसी मार्ग से चलते हैं।

चला जाता है।

आर्यकापहरण नामक सातवाँ अंक।

अंक : आठ

हाथ में गीला चावर लिये भिक्षु का प्रवेश

भिक्षु : अबोध मनुष्यो, धर्म का संचय करो!

उदर को संयमित रखो

और ध्यानपटह सुनते हुए सदा सजग रहो!

इंद्रिय रूपी चोरों से सावधान रहो

जो कि चिर-संचित धर्म का अपहरण कर लेते हैं।

सबकुछ अनित्य है, यह जानकर मैं एकमात्र धर्म की शरण में आ गया हूँ।

पशुजनों की जिसने हत्या की है

और स्त्री को मारकर ग्राम की रक्षा की है

निर्वल चांडाल का जिसने ध्वंस कर दिया है

वह व्यक्ति अवश्य स्वर्ग में जाएगा।

सिर और मुँह का मुँडाना निरर्थक है

मन नहीं मुँडाय़ा तो वह सबकुछ भी नहीं।

सिर का मुँडाना तभी सार्थक है

जब पहले अपने मन को मुँडा लिया जाए।

चीवर गँदले पानी में भीग गया है। राजश्यालक के उद्यान में

जाकर इसे बावली में धो लेता हूँ और झट से लौट आता हूँ।

धूमता है और तदनुसार कार्य करता है।

नेपथ्य में : ठहर तो जा तू दुष्ट भिक्षुक!

भिक्षु : (देखकर भयभीत स्वर में) अरे! राजा का साला संस्थानक चला आ रहा है! एक भिक्षु ने कुछ अपराध कर दिया, तो अब जिस किसी भिक्षु को देखता है, उसे गौ की तरह नाक में रस्सी डालकर खदेड़ने लगता है। मेरे लिए अब कहीं शरण नहीं, कहाँ जाऊँ? या स्वामी बुद्ध स्वयं ही शरण देंगे।

बिट के साथ शकार का प्रवेश।

बिट के हाथ में तलवार है।

शकार : ठहर तो जा तू दुष्ट भिक्षुक! मदिरागोष्ठी में जैशे लाल मूली तोड़ी जाती है, वैशे ही अभी तेरा शिर तोड़ देता हूँ।

भिक्षु को मारने लगता है।

विट : काणेलीपुत्र, गेरुआ पहने हुए वैरागी भिक्षु को मारना उचित नहीं।

इसे भूल जाओ और देखो कि उद्यान कितना सुखकर लग रहा है!

शरणहीनों को शरण और आनंद देनेवाले

इन वृक्षों के सुंदर कर्म की ओर ध्यान दो।

दुरात्माओं के हृदय की तरह स्वच्छंद

यह भूमि नवनिर्मित राज्य की तरह संपन्न है।

भिक्षु : क्रोध न करें उपासक! मैं आपका स्वागत करता हूँ।

शकार : देखो आचार्य, यह मुझे गाली दे रहा है।

विट : क्या कहता है?

शकार : मुझे उपाशक बताता है। मैं क्या नाई हूँ?

विट : नहीं, वह तो बुद्ध का उपासक कहकर तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है।

शकार : शुना भिक्षु?

भिक्षु : आप धन्यात्मा हैं, पुण्यात्मा हैं।

शकार : आचार्य, अब यह मुझे धन्यात्मा-पुण्यात्मा कह रहा है। यह क्या मुझे भाट-भंडारी या कुम्हार शमझता है?

विट : नहीं काणेलीपुत्र, वह तो धन्यात्मा और पुण्यात्मा कहकर तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है।

शकार : परंतु आचार्य, यह यहाँ आया क्यों है?

भिक्षु : मैं यह चीवर धोने के लिए यहाँ आया था।

शकार : अरे दुष्ट भिक्षुक! मेरे बहनोई ने शव उद्यानों में श्रेष्ठ यह पुष्पकरंडक उद्यान मुझे उपहार में दिया है जहाँ कुत्ते और शृंगाल आकर पानी पीते हैं। मनुष्यों में शवशे श्रेष्ठ मनुष्य श्वयं मैं तो यहाँ आकर स्नान नहीं करता। तू इश बावली में पुराने कुलथीचूर्ण से चितकबरा अपना दुर्गंधित चीवर धो रहा है। मैं अभी तेरा शिर फोड़ता हूँ।

विट : काणेलीपुत्र, लगता है कि इसे संन्यास लिये अधिक समय नहीं हुआ।

शकार : यह आप कैसे कहते हैं आचार्य?

विट : इसमें कहना क्या है? देखो न

केश कटे होने पर भी

मस्तक की गौर कांति अभी शेष है।

समय अधिक नहीं हुआ

अतः कंधे पर चीवर का चिह्न नहीं बना है।

गेरुआ रँगने का अभ्यास इसे नहीं है

और शरीर के मध्य भाग को

इसने दूर तक ढक रखा है।

वस्त्र अधिक लंबा है,

अतः पल्ला कंधे पर नहीं ठहरता।

भिक्षु : तुम्हारा अनुमान ठीक है, उपासक! मुझे संन्यास लिये अधिक समय नहीं हुआ।

शकार : क्यों? जन्म लेते ही तूने शंन्याश क्यों नहीं ले लिया?

उसे मारता है।

भिक्षु : नमो बुद्धाय!

विट : क्यों मार रहे हो वेचारे को! छोड़ो, उसे जाने दो।

शकार : ठहरो, पहले मुझे परामर्श कर लेने दो।

विट : किसके साथ?

शकार : अपने हृदय के साथ।

विट : (भिक्षु को देखकर)* यह अभी गया ही नहीं!

शकार : बेटा हृदय! श्वामी! बेटे! यह भिक्षु चला जाए या रुका रहे?

(स्वगत) न जाए, न रुकां रहे! (प्रकट) आचार्य, मैंने अपने हृदय
शे परामर्श कर लिया है। मेरा हृदय कहता है...

विट : क्या कहता है?

शकार : कहता है कि यह न जाए, न रुका रहे। न शौंश अंदर
को ले, न बाहर निकाले। झट शे यहीं गिर जाए और मर जाए।

भिक्षु : नमो बुद्धाय! मैं शरणागत हूँ।

विट : तुम चले जाओ न!

शकार : केवल एक प्रतिबंध है।

विट : क्या प्रतिबंध है?

* कोष्ठ अनुवादक की ओर से।

शकार : प्रतिबंध यह है कि यह पानी में ऐसे कीचड़ फेंके कि पानी उशशे
गँदला न हो। या पानी का एक गट्ठर बाँधकर कीचड़ में डाल दे।

विट : कैसा मूर्ख है!

मन की अनिश्चित चेष्टाएँ
और शिलाखंड-जैसे शरीर!
मांस के वृक्ष हैं ये मूर्ख—
इनके भार से धरती आक्रांत है।

भिक्षु गाली देने की मुद्राएँ बनाता है।

शकार : अब क्या कह रहा है यह?

विट : तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है।

शकार : तब शुनो, ठीक शे शुनो। एक बार फिर शुनो।

भिक्षु उसी तरह की मुद्राएँ बनाता हुआ
चला जाता है।

विट : काणेलीपुत्र, अब इस उद्यान की शोभा देखो।

फल-फूलों से लदे हुए वृक्षों से
भरी हुई लताएँ निश्चल भाव से लिपटी हैं।
राजाज्ञा से रक्षक इनका पालन करते हैं।

शकार : आचार्य ठीक कह रहे हैं।

कई-कई फूलों शे भूमि चित्रित है
और वृक्ष फूलों के भार शे झुक गए हैं।
उनके शिखरों शे लताएँ नीचे को झूल रही हैं
और वानर ऐसे लटके हैं जैसे कटहल के फल लटक
रहे हों।

विट : काणेलीपुत्र, यह शिलातल है, यहाँ बैठो।

शकार : यह मैं बैठ गया। (विट के साथ बैठकर) आचार्य, अब भी
वशंतशेना का स्मरण हो आता है। जैसे गाली हृदय में खुभ
जाती है, वैसे ही वह मेरे हृदय में खुभी हुई है।

विट : (स्वगत) इस तरह अपमानित होकर भी यह उसका स्मरण
करता है!

शकार : आचार्य, कितनी देर हो गई चेत श्यावरक शे कहे कि वह गाड़ी
लेकर शीघ्र आ जाए, परंतु वह अभी तक नहीं आया। मुझे बहुत
भूख लगी है और इश धूप में पैरों शे चलकर जाना अशंभव है।
देखो न

आकाश में लटका हुआ शूर्य
क्रोधी वानर की तरह है जिशकी ओर देखा नहीं
जाता।

भूमि इश तरह शंतप्त है
जैसे शौ पुत्रों के मरने पर गांधारी शंतप्त थी!

विट : सच कह रहे हो।

घास खाना छोड़कर
गौएँ छाया में विश्राम कर रही हैं।
प्यास के मारे पशु
सरोवरों का उबलता हुआ पानी पी रहे हैं।
धूप से डरकर नगरवासी
बाहर मार्ग पर नहीं चल रहे।
मुझे लगता है
तपी हुई भूमि को छोड़कर
गाड़ी कहीं रुक गई है!

शकार : आचार्य!

शूर्य का चरण मेरे शिर पर है
तथा पक्षी, पंछी और पखेरू
वृक्षों की शाखाओं पर शो गए हैं।
नर पुरुष और मनुष्य
लंबी-लंबी गरम शॉशें लेते हुए
घरों में बंद होकर
अपने को धूप से बचा रहे हैं।
आचार्य, चेट अब भी नहीं आया। मैं इश बीच गाकर अपना
कुछ मनोरंजन कर लूँ।

गाने लगता है।

क्यों आचार्य, शुना मेरा संगीत?

विट : क्या कहने हैं? गंधर्व हो तुम तो!

शकार : गंधर्व कैसे न होऊँगा?

मेरा श्वर मीठा क्यों न हो,
पता है मैंने किश गंधयुक्ति का शेवन किया है?
हींग से उजला किया हुआ जीरा और मोथा,
बच की गाँठ और गुड़ से मिश्रित शोंठ!

लो आचार्य, अब फिर शे गाता हूँ।

फिर गाने लगता है।

आचार्य, शुना मेरा संगीत?

विट : क्या कहने हैं! कहा है गंधर्व हो तुम!

शकार : गंधर्व कैसे न होऊँगा?

हींग शे उजला किया हुआ,

मरीच के चूर्ण शे शना

तथा घी और तेल में बघारा हुआ

कोयल का मांश मैंने खाया है—

मेरा श्वर मीठा कैसे न होगा?

आचार्य, चेट अब तक भी नहीं आया!

विट : घबराओ नहीं, वह अभी आ जाएगा।

गाड़ी में वसंतसेना को लिये हुए

चेट का प्रवेश।

स्थावरक : दोपहर हो गई! डर रहा हूँ कि राजश्यालक संस्थानक क्रोध न कर रहा हो। तो शीघ्र चलूँ। चलो गोपुत्रो, चलो!

वसंतसेना : यह स्वर वर्द्धमानक का तो नहीं है। क्या उसकी थकान दूर करने के लिए आर्य चारुदत्त ने दूसरे गाड़ीवान के साथ कोई और ही गाड़ी भेजी है? मेरी दाई आँख फड़क रही है और हृदय काँप रहा है। दिशाएँ सूनी-सूनी लग रही हैं और सबकुछ विपरीत-सा प्रतीत होता है।

शकार : आचार्य, गाड़ी आ गई।

विट : कैसे पता चला?

शकार : आपको बूढ़े शूअर का-शा घुर-घुर शब्द दिखाई नहीं दे रहा?

विट : (देखकर) ठीक पहचाना है तुमने। गाड़ी आ गई है!

शकार : बेटा चेट स्थावरक, आ गया तू?

स्थावरक : हाँ, आ गया, स्वामी!

शकार : गाड़ी भी आ गई?

स्थावरक : गाड़ी भी आ गई।

शकार : बैल भी आ गए?

स्थावरक : हाँ, बैल भी आ गए।

शकार : और तू भी आ गया?

स्थावरक : (हँसकर) हाँ स्वामी, मैं भी आ गया।

शकार : तो गाड़ी अंदर ले आ।

स्थावरक : किस मार्ग से लाऊँ?

शकार : शामने शे इश दीवार के ऊपर शे।

स्थावरक : तब तो स्वामी, बैल मर जाएँगे, गाड़ी टूट जाएगी और आपका चेत भी चल वसेगा।

शकार : अरे मैं राजा का शाला हूँ। बैल मर जाएँगे, तो नए बैल ले आऊँगा। गाड़ी टूट जाएगी, तो दूसरी गाड़ी बनवा लूँगा। तू चल बशेगा, तो कोई और गाड़ीवान रख लूँगा।

स्थावरक : और सबकुछ तो हो जाएगा स्वामी, परंतु मेरे शरीर को यह आत्मा फिर नहीं मिलेगी।

शकार : मैंने कहा कि शबकुछ नष्ट हो जाने दे। गाड़ी इश दीवार के ऊपर शे ही आएगी।

स्थावरक : (बाहर आकर)* भाड़ में जा री गाड़ी, स्वामी समेत भाड़ में चली जा, जिससे नई गाड़ी बन सके। जाकर स्वामी से भी यही कह दूँ? (अंदर आकर) अरे! नहीं टूटी यह!...स्वामी, आ गई गाड़ी।

शकार : अरे! न बैल टूटे, न रशिशयाँ मरीं और तू भी जीता-जागता शामने खड़ा है!

स्थावरक : हाँ, स्वामी!

शकार : आचार्य, आइए गाड़ी को देख लें। आप मेरे गुरु, परम गुरु हैं। अंतरंग, आदरणीय और शम्माननीय हैं। आप पहले गाड़ी में बैठें।

वित : अच्छी बात है।

बैठने लगता है।

शकार : नहीं-नहीं, ठहर जाइए! गाड़ी क्या आपके बाप की है जो आप पहले बैठ रहे हैं? गाड़ी का श्वामी मैं हूँ, पहले मैं चढ़ूँगा।

वित : तुम्हीं ने तो चढ़ने को कहा था।

शकार : मैं चाहे कहीं, परंतु आपको आदरपूर्वक कहना चाहिए कि 'नहीं' श्वामी, पहले तुम बैठो।'

वित : तो बैठो तुम!

शकार : हाँ, मैं गाड़ी में बैठता हूँ। चेत श्वावरक, बेटे, गाड़ी को घुमा ले।

स्थावरक : बैठिए स्वामी!

* कोष्ठ अनुवादक की ओर से।

स्थावरक गाड़ी को घुमाता है। शकार
बैठने लगता है परंतु डरकर झट से
उतर पड़ता है और विट के गले से
लिपट जाता है।

मर जाएँगे आचार्य, मर जाएँगे! गाड़ी में पता नहीं चोर है कि
राक्षसी है! राक्षसी है, तो दोनों को लूट लेगी, चोर है तो दोनों
को खा जाएगा।

विट : डरो नहीं। राक्षसी क्या बैलगाड़ी में बैठकर आएगी? दोपहर की
धूप से तुम्हारी आँखें चुंधिया रही हैं, इसलिए चादर ओढ़े हुए
स्थावरक की छाया को देखकर तुम्हें भ्रम हो गया होगा।

शकार : बेटा चेत श्यावरक, तू जीता है न?

स्थावरक : हाँ स्वामी, जीता हूँ।

शकार : आचार्य, गाड़ी में अवश्य कोई स्त्री बैठी है। आप श्वयं देख लें।

विट : सचमुच कोई स्त्री है?

तो आओ

वर्षा ताड़ित वृषभों की तरह सिर झुकाए

हम लोग यहाँ से चलें!

मैं सभा में गौरव की रक्षा करनेवाला व्यक्ति हूँ

कुलस्त्रियों की ओर देखते हुए मुझे संकोच होता है!

वसंतसेना : (आश्चर्यपूर्वक स्वगत) मेरी आँखों का काँटा राजश्यालक यहाँ है
तब तो मेरे प्राण भी संशय में हैं। ऊसर में पड़े हुए बीज की
तरह मुझ अभागिन का यहाँ आना निष्फल हो गया। अब क्या
करूँ?

शकार : आचार्य, यह बूढ़ा चेत डर के मारे गाड़ी के अंदर झाँककर नहीं
देखता। आप देख लें न!

विट : अच्छा कोई बात नहीं, मैं देख लेता हूँ।

शकार : कौवे दौड़ रहे हैं और गीदड़ आकाश में उड़ रहे हैं। जब तक
वह राक्षसी आचार्य को दाँतों से देखती और आँखों से निगलती
है, तब तक मैं यहाँ से भाग खड़ा होता हूँ।

विट : (वसंतसेना को देखकर विषादपूर्वक स्वगत) अरे! आज हरिणी
बाघ के पीछे चली आई है। कितने दुःख का विषय है!

शरत् के चाँद की तरह सुंदर

पुलिन-निवासी हंस से बिछुड़कर

आज यह हंसिनी

कौवे के पास चली आई है!

(अलग से) वसंतसेने, यह बात उचित और तुम्हारे अनुकूल नहीं।

क्या जान-बूझकर इस ओर आई हो?

वसंतसेना : नहीं-नहीं। (सिर हिलाती है।) देखिए, गाड़ी बदल जाने से मैं यहाँ आ गई हूँ, और इस समय आपकी शरण में हूँ।

विट : ऐसा है, तो डरो नहीं। मैं उससे कुछ-न-कुछ छल करता हूँ। (शकार के पास जाकर) काणेलीपुत्र, गाड़ी में तो सचमुच कोई राक्षसी है।

शकार : सचमुच राक्षसी है आचार्य, तो उशने तुम्हारा धन क्यों नहीं छीना? और चोर है, तो तुम्हें खा क्यों नहीं लिया?

विट : यह सब जानने में क्या रखा है? हम लोग उद्यान के साथ-साथ पैदल उज्जयिनी तक चले जाएँ, तो क्या है?

शकार : परंतु उशशे लाभ क्या होगा?

विट : हम लोगों का व्यायाम हो जाएगा और गाड़ी की धुराओं को थोड़ा विश्राम मिल जाएगा।

शकार : ठीक है, ऐसे ही शही। चेट श्यावरक, गाड़ी ले जा। नहीं, ठहर जा। देवताओं और ब्राह्मणों से आगे जानेवाला मैं पैदल चलूँगा? नहीं, मैं गाड़ी पर बैठकर ही जाऊँगा जिशसे लोग दूर से देखकर कहें कि 'वह राजा का शाला हमारा श्वामी आ रहा है!'

विट : (स्वगत) विष को औषध बनाना कठिन है। तो यह उपाय करूँ। (प्रकट) काणेलीपुत्र, वास्तव में वसंतसेना यहाँ भ्रम से चली आई है।

वसंतसेना : कैसी पाप की बात कही है इसने!

शकार : (हर्षपूर्वक) आचार्य, यहाँ? अर्थात् मनुष्य-श्रेष्ठ वाशुदेव के पाश?

विट : हाँ-हाँ, तुम्हारे पास।

शकार : तब तो आज अद्भुत लक्ष्मी प्राप्त हो गई। उश बार मैंने इशे रुष्ट कर दिया था, इसलिए आज पैरों पर पड़कर इशे प्रशन्न कर लेता हूँ।

विट : हाँ-हाँ, क्यों नहीं?

शकार : तो जा रहा हूँ उशके पैरों पड़ने! (वसंतसेना के पास जाकर) माता! अंबिके! तू मेरा निवेदन शुन!

मैं तेरे चरणों पर पड़ रहा हूँ, आर्ये!

तुझे हाथ जोड़ रहा हूँ,

तू मुझे क्षमा कर

मैं तेरा दाश तेरे शामने अवनत हूँ!

वसंतसेना : (क्रोधपूर्वक) दूर हट! कैसी नीचता की बात कर रहा है?

उसे पैर से ठोकर मारती है।

शकार : (क्रुद्ध होकर)

माता और अंबिका

जिसे प्यार शे चूमती रहीं,

और देवताओं की वंदना के लिए भी

जो नहीं झुका,

वही अपना शिर

मैंने तेरे चरणों पर गिरा दिया है—

जैसे वन में शृंगाल

मांशपिंड को गिराता है!

अरे चेत श्यावरक, तू इसे कहाँ शे लाया है?

स्थावरक : स्वामी, राजमार्ग गाँव की गाड़ियों से रुका था। मैं अपनी गाड़ी को चारुदत्त की वृक्ष-वाटिका के पास रोककर चाक फिराने के लिए उतर पड़ा था। लगता है कि तभी यह इसे कोई दूसरी गाड़ी समझकर इसमें आ बैठी है।

शकार : तो गाड़ी बदल जाने शे आई है, श्वयं नहीं आई...तो उतर जा मेरी गाड़ी शे। चली थी शार्थवाहपुत्र के पाश और बैल थकाती है मेरे! उतर-उतर मेरी गाड़ी शे।

वसंतसेना : आर्य चारुदत्त के पास जाती थी, यह सुनकर हृदय कृतार्थ हो गया। अब चाहे जो भी हो।

शकार : तुझे इन हाथों शे पकड़कर,
जिनके दश नख दश कमलों के शमान हैं
और जो शौ-शौ चाटुकारों पर
आघात करने में कुशल हैं,
अभी तेरे शरीर को गाड़ी शे खींचता हूँ—
खींचा था जटायु ने—
जैसे बाली की पत्नी को।

विट : गुणवती स्त्रियों को

केशों से खींचना—असंगत है।
उपवन की लताओं के
पत्ते तोड़े नहीं जाते!
तुम हटो। मैं इसे उतारता हूँ। उतर आओ वसंतसेने!

वसंतसेना उतरकर एक ओर
खड़ी हो जाती है।

शकार : (स्वगत) उश दिन इशने मुझसे अपमान की बात कही थी, तो मेरी क्रोध की आग भड़क उठी थी। आज इशने पैर से मारा है, तो वह आग शूलग उठी है। आज मैं इसे मार ही देता हूँ। यही ठीक है। (प्रकट) आचार्य शुनिए तो!

यदि शौ-शौ शूत्रों से बुना हुआ
लंबा विशाल वस्त्र पाना चाहते हैं
और यदि मांशखंड दाँतों में लेकर
आनंद से चुहू-चुहू करना चाहते हैं...

विट : तो क्या करूँ?

शकार : मेरे मन का कार्य करें।

विट : कोई बुरा कार्य न हो, तो मैं करने को तैयार हूँ।

शकार : बुराई की तो उशमें गंध भी नहीं है, आचार्य! यह राक्षसी थोड़े ही न है?

विट : तो कहो क्या करने को कहते हो?

शकार : वश, वशंतसेना को मार दें।

विट : (कानों पर हाथ रखकर)

इस निरपराध बाला को

मार दूँ?

परलोक की नदी मैं किस नौका में पार करूँगा?

शकार : नौका आपको मैं दे दूँगा। फिर यह निर्जन उद्यान है। यहाँ इसे मारते आपको कौन देख रहा है?

विट : पाप और पुण्य के सब साक्षी
मुझे देख रहे हैं।

दस दिशाएँ, वन के देवता

चाँद और दीप्तिमान सूर्य,

धर्म और वायु

आकाश और अंतरात्मा

तथा यह धरती—
सभी मुझे देख रहे हैं।

शकार : तो ऐशा करें कि चादर में लपेटकर मार दें।

विट : मूर्ख, तुम बहुत पतित हो गए हो!

शकार : यह बूढ़ा शूअर पाप शे डरता है। अच्छा, तो चेट श्यावरक शे कहता हूँ। चेट श्यावरक, बेटे मैं तुझे शोने के कंगन दूँगा।

स्थावरक : मैं उन्हें पहन लूँगा।

शकार : और शोने की चौकी बनवा दूँगा।

स्थावरक : मैं उस पर बैठ जाऊँगा।

शकार : और शारा जूठा भोजन तुझे दे दिया करूँगा।

स्थावरक : मैं उसे खा लूँगा।

शकार : और तुझे शब चेटों का मुखिया बना दूँगा।

स्थावरक : ...मैं बन जाऊँगा।

शकार : केवल तुझे मेरी एक बात माननी होगी।

स्थावरक : कोई बुरा कार्य न हो, तो मैं करने को तैयार हूँ।

शकार : अरे बुराई की तो उशमें गंध भी नहीं है।

स्थावरक : तो स्वामी आज्ञा करें।

शकार : इशे...वशंतशेना को मार दे।

स्थावरक : अपराध क्षमा करें स्वामी! मैं बहुत अधम हूँ जो दूसरी गाड़ी के भुलावे में इन्हें यहाँ तक ले आया हूँ।

शकार : तो चेट, तुझ पर भी मेरा अधिकार नहीं?

स्थावरक : मेरे शरीर पर आपका अधिकार है स्वामी, परंतु चरित्र पर नहीं है। आप रुष्ट न हों, मुझे बहुत भय लगता है।

शकार : मेरा चेट होकर तुझे किशशे भय लगता है?

स्थावरक : परलोक से।

शकार : परलोक क्या है?

स्थावरक : स्वामी, पाप और पुण्य का परिणाम!

शकार : पुण्य का परिणाम? कैशा होता है?

स्थावरक : जैसे आपको सोने का भंडार मिला है...

शकार : और पाप का परिणाम कैशा होता है?

स्थावरक : जैसे मुझे दूसरों का जूठा अन्न खाना पड़ता है। इसलिए बुरा कार्य मैं नहीं करूँगा।

शकार : तो तू उसे नहीं मारेगा?

उसे तरह-तरह से पीटता है।

स्थावरक : आप पीट लें या जान से मार दें, परंतु बुरा कार्य मैं नहीं करूँगा।

भाग्य के दोष से

जन्म से मुझे दास का जीवन मिला है!

अब और पाप नहीं करूँगा

और इस अकार्य से बचा रहूँगा।

वसंतसेना : आचार्य, मैं आपकी शरण में हूँ।

विट : अब इसे क्षमा करो काणेलीपुत्र! स्थावरक, तुम कितने अच्छे हो!

सदा अपमानित होनेवाला दरिद्र दास

अपना परलोक सुधारना चाहता है;

परंतु इसके स्वामी को परलोक की चिंता नहीं।

सत्कार्य से हटकर जो लोग अकार्य करते हैं,

वे नष्ट क्यों नहीं होते, कुछ समझ में नहीं आता!

एवं

दैव का विधान

कितना असंगत और प्रतिकूल है—

कि तुम स्वामी हो और यह तुम्हारा दास है;

कि तुम्हारी लक्ष्मी इसे प्राप्त नहीं हुई

और इसकी आज्ञा का पालन तुम्हें नहीं करना पड़ता।

शकार : (स्वगत) वह गीदड़ अधर्म शे डरता है। यह जन्म का दाश परलोक शे डरता है। परंतु मनष्यों और पुरुषों में श्रेष्ठ मैं राजा का शाला किशशे डरता हूँ? अरे जन्म के दाश चेत! जा तू किशी गुप्त स्थान में छिपकर एकांत में विश्राम कर!

स्थावरक : जैसी आज्ञा! (वसंतसेना के पास जाकर) आर्ये, मेरी सामर्थ्य इतनी ही है।

चला जाता है।

शकार : (परिकर बाँधते हुए) ठहर तू वशंतशेने! अभी तुझे मार देता हूँ।

विट : अच्छा! मेरे सामने ही उसे मार दोगे?

उसे गले से पकड़ लेता है। शकार

भूमि पर गिर जाता है।

शकार : आचार्य, आप स्वामी को मार रहे हैं।

मूर्च्छित हो जाता है। फिर सचेत होकर :

शदा घी और मांश खिलाकर
 मैंने आपको मोटा किया।
 आज काम का समय आने पर
 आप मेरे वैरी हो गए?

(सोचता हुआ) अच्छा, अब उपाय शमझ में आ गया। बूढ़े शृंगाल के शिर के हिलने से मुझे श्वीकृति का शंकेत मिला है। अब पहले इसे पीशकर फिर वशंतशेना को मारूँगा। यही ठीक है। (प्रकट) आचार्य, मैंने जो आपसे कहा था, वह इसलिए कहा था कि बड़े-बड़े शूर कुत्तों के वंश में उत्पन्न होकर मैं स्वयं यह कार्य नहीं कर सकता। इसलिए चाहता था कि आप यह कार्य श्वीकार कर लें।

विट : कुलीन होने से कुछ नहीं होता,
 स्वभाव की श्रेष्ठता ही मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती है।
 अच्छी भूमि से उत्पन्न होने पर भी
 बबूल का पेड़ काँटे ही उगाता है।

शकार : बात यह है आचार्य, आपके शामने इसे लज्जा आती है। आप जाकर देखें—वह श्थावरक चेट है न—उसे मैंने पीट दिया है। वह भागा जा रहा है, आप उसे मनाकर ले आएँ।

विट : ठीक है, मैं चला जाता हूँ।

वसंतसेना : (उसके वस्त्र का छोर पकड़कर) मैंने आपसे कहा था आचार्य कि मैं आपकी शरण में हूँ।

विट : डरो नहीं वसंतसेने! काणेलीपुत्र, मैं वसंतसेना को तुम्हारे हाथ में धरोहर के रूप में छोड़कर जा रहा हूँ।

शकार : ठीक है। मेरे हाथ में धरोहर सुरक्षित रहेगी।

विट : सच कहते हो?

शकार : बिलकुल सच कहता हूँ।

विट : (कुछ कदम जाकर) मेरे चले जाने पर यह क्रूर उसकी हत्या ही न कर दे! तो छिपकर यहाँ से देखता हूँ कि यह क्या करना चाहता है।

एकांत में खड़ा हो जाता है।

शकार : अब इसे मार दूँगा। परंतु कहीं ऐशान हो कि वह बूढ़ा धूर्त शृंगाल छल कर रहा हो और शरीर ढाँपकर गीदड़ बना कहीं पाश में छिपकर खड़ा हो! तो उसे ठगने के लिए यह उपाय करता हूँ।

फूल चुनकर उनसे अपने शरीर को
सजाता हुआ :

वाले! वशंतशेने! यहाँ पाश तो आ!

विट : अब मैं निश्चित होकर जा सकता हूँ।

चला जाता है।

वसंतसेना : (स्वगत) इसमें कुछ संदेह है।

सिर झुकाए हुए

दुष्ट, दुश्चरित्र!

तू मुझे धन का लोभ देता है?

विशुद्ध और विभामय

कमल पर मँडरानेवाले भ्रमर

उसका परित्याग कभी नहीं करते।

कुलशीलवान व्यक्ति

धनहीन भी हो, तो उसकी सेवा वांछनीय है।

एक बार आम के पेड़ का आश्रय ले चुकने पर अब मैं पलाश
के पेड़ का आश्रय नहीं ले सकती।

शकार : दाशी की बेटी, उस कंगाल चारुदत्त को तो बना दिया आम का
पेड़ और मुझे बना दिया पलाश—टेशू भी नहीं! अब भी तू मुझे
गाली दे रही है और उशी का श्मरण कर रही है!

वसंतसेना : वे सदा मेरे लिए पूज्य हैं, उनका स्मरण कैसे न करूँगी?

शकार : तो जो तेरे लिए पूज्य हैं, उसके श्मेत अभी तुझे पीश डालता
हूँ! उश कंगाल शार्थवाह पुरुष की पूजा करने वाली, तू वश अब
ठहर जा!

वसंतसेना : कह, कह फिर से कह। ये शब्द सुनकर हृदय को कितना अच्छा
लगता है!

शकार : वह दाशी का बेटा कंगाल चारुदत्त तुझे बचा सकता है, तो उसे
कह, आकर बचा ले।

वसंतसेना : वे यदि इस समय मुझे देखें, तो अवश्य बचा लें।

शकार : कौन है वह?

बालि का पुत्र इंद्र या रंभा का पुत्र महेंद्र?

कालनेमि शुबंधु या द्रोण का पुत्र राजा रुद्र?

जटायु चाणक्य या धुंधुमार त्रिशंकु?

और ये शव भी आ जाएँ तो, तुझे नहीं बचा सकते! महाभारत

काल में जैसे चाणक्य ने शीता को मारा था और जैसे जटायु ने द्रौपदी की हत्या कर दी, उसी तरह मैं अभी तुम्हारी हत्या कर दूँगा।

मारने के लिए उद्यत होता है।

वसंतसेना : माँ! माँ! कहाँ हो तुम? आर्य चारुदत्त, देखिए मैं अपने मनोरथ मन में ही लिये जा रही हूँ। मन होता है ऊँचे स्वर में रो दूँ, परंतु नहीं। वसंतसेना का ऊँचे स्वर में रोना लज्जा का विषय होगा।
प्रणाम आर्य चारुदत्त!

शकार : तू जन्म की दाशी अब भी उसी पापी का नाम ले रही है?
(उसका गला दबाता हुआ) तो कर उसी का श्मरण दाशी! कर उसी का श्मरण!

वसंतसेना : प्रणाम आर्य चारुदत्त!

शकार : तो ले मर अभागी, मर!

गला दबा देता है। वसंतसेना
निश्चेष्ट होकर गिर जाती है।

शकार : (हर्षपूर्वक)

इश पाप की पिटारी की हत्या करने में
मैं अपना बाहुबल दिखाऊँगा।

यह तो मेरे निःश्वास शे ही मर जाएगी

जैसे महाभारत में माता शीता के साथ हुआ था!

शूने पुष्पकरंडक वन में

अपने हाथों के पाश शे डरी हुई आर्या को

उसी पाश में कशकर

मैंने मार दिया—

क्योंकि उसने मेरा शम्मान नहीं किया।

मेरे माता-पिता या द्रौपदी माता ने

अपने वत्स का

यह शूर कर्म यदि नहीं देखा,

तो वे शब-के-शब वंचित ही रह गए!

वह बूढ़ा शृंगाल अभी चला आएगा। तो एक ओर हटकर खड़ा हो जाता हूँ।

स्थावरक के साथ विट का प्रवेश

विट : स्थावरक को मैं मनाकर ले आया हूँ, अब देखूँ काणेलीपुत्र कहाँ है! (धूमकर और देखकर) अरे मार्ग में पेड़ गिरा हुआ है!

उसके गिरने से एक स्त्री नीचे दब गई। हाय रे पातकी, यह तूने क्या अनर्थ किया! तुझ पापी के गिरने से हमें अब स्त्री-हत्या के साक्षी होने का पाप ढोना पड़ेगा! इस अपशकुन को देखकर मेरा मन वसंतसेना के लिए शंकित हो रहा है। देवता कुशल करें। (शकार के पास पहुँचकर) काणेलीपुत्र, मैं स्थावरक को मनाकर ले आया हूँ।

शकार : श्वागत है, आचार्य! चेट श्थावरक, बेटे, तेरा भी श्वागत है।

स्थायरक : अच्छा स्वामी!

विट : मेरी धरोहर कहाँ है?

शकार : कौन धरोहर?

विट : वसंतसेना।

शकार : चली गई।

विट : कहाँ?

शकार : आपके पीछे-पीछे।

विट : (सोचता हुआ) नहीं, वह उस दिशा में तो नहीं आई।

शकार : आप किस दिशा में गए थे?

विट : पूर्व दिशा में।

शकार : वह दक्षिण दिशा में गई है।

विट : नहीं, मैं भी दक्षिण दिशा में ही गया था।

शकार : तो वह उत्तर दिशा में गई है।

विट : अनाप-शनाप क्यों बोल रहे हो? तुम्हारी अंतरात्मा निर्मल नहीं है। तुम सच बात कहो।

शकार : मैं अपने चरणों से आपके शिर की सौगंध खाकर शच बात कहता हूँ—आप हृदय पर हाथ रख लें। उसे मैंने मार दिया है।

विट : (विषादपूर्ण स्वर में) तुमने उसे मार दिया है!

शकार : यदि मेरी बात पर विश्वास नहीं है, तो आप चलकर राजा के शाले शंस्थापक की वीरता अपनी आँखों से देख लें।

उसे ले जाकर दिखाता है।

विट : हाय, मैं अभाग मर क्यों नहीं गया?

मूर्च्छित होकर गिर जाता है।

शकार : हा-हा-हा! आचार्य भी चल बसे।

स्थायरक : आप धैर्य रखें आचार्य! बिना सोचे गाड़ी में लाकर उसे तो मैंने ही मार दिया था।

विट : (सचेत होकर करुण स्वर में)

भावों की स्रोतस्विनी लुप्त हो गई
और देवी देवलोक को लौट गई!

तुम्हारे चले जाने से

ओ अलंकारधारिणि सुवदने,

—तुम जो कि—प्रहास के पुलिनों में बहती हुई सौजन्य नदी थीं
तथा सब रसों का उत्स और मेरे जैसे व्यक्तियों का आश्रय थीं—

आज सौभाग्य की खान लुट गई।

(अश्रुपूर्ण होकर) कितने कष्ट का विषय है!

किस प्रयोजन से तुमने,

यह अकार्य किया है?

उस निर्दोष को मारकर,

तुम्हारे पाप ने

आज लक्ष्मी की हत्या कर दी है।

(स्वगत) अरे, यह पापी कहीं अपना पाप मेरे सिर पर न मढ़ दे!
तो यहाँ से निकल चलूँ।

शकार बढ़कर उसे पकड़ लेता है।

दूर रह पातकी, मुझे मत छू! मैं जा रहा हूँ।

शकार : आचार्य वंशतंशेना को मारकर श्वयं भागे जा रहे हैं और दोष
मेरे ऊपर छोड़े जा रहे हैं। मैं ही एक ऐसा ऐशा अनाथ मिला
हूँ?

विट : हट जाओ, पतित हो तुम!

शकार : धन दूँगा आपको

शौ श्वर्ण मुद्राएँ—

बीश कौड़ियों के साथ शौ राजमुद्राएँ!

मेरे पराक्रम का अपराध

आप किसी शाधारण व्यक्ति पर डाल दें।

विट : छिः! नीच, तुम्हारा अपराध तुम्हारे सिर पर ही रहेगा!

स्थावरक : कैसी पाप की बात उसने कही है!

शकार हँसता है।

विट : परिहास छोड़ो

अब तुम्हारे साथ मेरी प्रीति नहीं है।

धिकार है उस अनिष्टकर प्रीति को

जो व्यक्ति के लिए अपमान का कारण हो;
तुम्हारे साथ मेरा सहयोग
अब असंभव है।

टूटे हुए गुणहीन धनुष की तरह
मैं तुम्हें छोड़कर जा रहा हूँ।

शकार : अब प्रसन्न हो जाइए आचार्य। चलिए, हम लोग कमलिनी के
अंदर बैठकर क्रीड़ा करें।

विट : मैं पतित नहीं हूँ,
फिर भी तुम्हारे साथ होने से
लोग मुझे पतित और अनार्य ही समझेंगे।
तुम स्त्री-हत्या के पातकी हो,
मैं तुम्हारा अनुसरण नहीं करूँगा।
नगर की स्त्रियाँ, सदा-सदा के लिए
शंका से आँखें आधी मूँदकर
तुम्हारी ओर देखा करेंगी।

(करुण स्वर में) वसंतसेने!

चाहता हूँ सुंदरि,
कि अब तुम्हें नए जीवन में यह देखने को न मिले!
तुम्हारे शील की संपत्ति
किसी उज्ज्वल कुल को ही अलंकृत करे!

शकार : मेरे जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान में आकर आपने वंशतशेना की
हत्या की है। अब आप कहाँ भागे जा रहे हैं? चलिए, मेरे वहनोई
के शामने चलकर अपनी श्रुति स्पष्ट कीजिए!

उसे पकड़ लेता है।

विट : ठहर दुष्ट!

तलवार खींच लेता है।

शकार : (डरकर पीछे हटता हुआ) आप तो डर गए आचार्य! अच्छा...
जाइए!

विट : (स्वगत) यहाँ रुकना ठीक नहीं। आर्य शर्विलक और चंदनक
प्रभृति लोग जहाँ गए हैं, मैं भी वहीं चलता हूँ।

चला जाता है।

शकार : जाइए, मरिए! श्वावरक, बेटे, तू बता मैंने यह कैशा कार्य किया
है?

स्थावरक : बहुत बुरा कार्य किया है, स्वामी!

शकार : अरे चेट, तू भी कहता है कि मैंने बुरा कार्य किया है? तो ऐसे करूँ! (शरीर से कई आभूषण उतारकर) ले। ये आभूषण मैंने तुझे दिए। जितना समय मैं इन्हें पहने रहूँ, उतना समय ये मेरे, शेष समय तेरे।

स्थावरक : ये आपके शरीर पर ही शोभा देते हैं स्वामी, मैं इनका क्या करूँगा?

शकार : तो जा, मेरे प्राशाद की वह छोटी-शी सुंदर ड्योढ़ी है न—तू बैलों को लेकर वहाँ ठहर। मैं अभी आता हूँ।

स्थावरक : जैसी आज्ञा।

चला जाता है।

शकार : आचार्य तो आत्म-रक्षा के लिए आँखों से शेष दूर हो गए। चेट को मैं अपने प्राशाद की ड्योढ़ी में शृंखला डालकर रख दूँगा। इशशे भेद बाहर नहीं निकलेगा। तो चलूँ। नहीं पहले इशे देख लूँ कि ठीक शेष मर गई है या इशे फिर शेष मारना होगा। (देखकर) ठीक शेष मर गई है। इशे इश वशत्र शेष ढक देता हूँ। परंतु इश पर तो नाम लिखा है, कोई भी शम्भ्य व्यक्ति देखते ही पहचान लेगा। वायु ने यहाँ शूखे पत्ते इकट्ठे कर दिए हैं, इनसे इशे ढक देता हूँ। (तदनुसार कार्य करके सोचता हुआ) हाँ, ऐसे ही करना ठीक है। न्यायालय में जाकर अभियोग लिखवा देता हूँ कि शार्यवाह चारुदत्त ने वशंतशेना को मेरे जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान में लाकर धन के लिए उशकी हत्या कर दी है।

पवित्र नगरी में

पशुहत्या करने की तरह

इश नए छल की रचना करता हूँ।

तो अब चलूँ।

निकलते हुए सामने देखकर

और भयभीत होकर।

अरे मृग! जिश मार्ग शेष भी जाने लगता हूँ, उशी मार्ग शेष यह दुष्ट भिक्षु गँदले पानी में भीगा चीवर लिये आता दिखाई दे जाता है। मैंने इशकी नाक में छेद करके इशे खदेड़ दिया था। यह मुझे देख लेगा, तो वैर निकालने के लिए शबशे कहता फिरेगा कि शकार ने ही वशंतशेना की हत्या की है। तो किधर शेष जाऊँ?

(देखकर) यहाँ दीवार आधी गिरी हुई है, इशे लाँघकर निकल जाता हूँ।

जैसे ही शीघ्र-शीघ्र चलूँ।

जैसे लंका को जाता हुआ महेंद्र

भूमि और पाताल लाँघकर

हनुमान पर्वत को पार कर गया था!

चला जाता है। उसी यवनिका पर

भिक्षु संवाहक का प्रवेश।

भिक्षु संवाहक : अपना चीवर मैंने धो लिया है; अब इसे सुखाऊँ कहाँ? पेड़ की डाल पर! परंतु वहाँ वानर इसे फाड़ डालेंगे। तो भूमि पर? परंतु यहाँ सब धूल लग जाएगी। तो कहाँ सुखाऊँ? (देखकर, वायु ने सूखे पत्ते यहाँ इकट्ठे कर दिए हैं। इन पर फैला देता हूँ। (तदनुसार कार्य करके) नमो बुद्धाय!

बैठ जाता है।

अब कुछ देर धर्माक्षरों का उच्चारण कर लूँ।

पंच जनों की जिसने हत्या की है

और स्त्री को मार ग्राम की रक्षा की है,

निर्बल चांडाल का जिसने ध्वंस कर दिया है

वह व्यक्ति अवश्य स्वर्ग में जाएगा!

परंतु मुझे स्वर्ग नहीं चाहिए। बुद्ध की उपासिका वसंतसेना ने जुआरियों को दस मुद्राएँ देकर मुझे छुड़ाया था। जब तक मैं उसके इस उपकार का बदला नहीं चुकाता, तब तक मैं अपने को उसका क्रीतदास समझता हूँ!...अरे! पत्तों के नीचे यह साँस कौन ले रहा है?

धूप और हवा से सूखे हुए पत्ते

चीवर के जल से भीग गए हैं।

जब ये हिलकर इधर-उधर बिखरते हैं,

तो लगता है नन्हें-नन्हें पक्षी काँप रहे हैं।

वसंतसेना चेतना प्राप्त कर अपना

हाथ बाहर निकालती है।

अरे! किसी स्त्री का शुद्ध आभूषणों से अलंकृत हाथ बाहर निकल रहा है! दूसरा हाथ भी? (विभिन्न कोणों से देखकर) यह हाथ तो परिचित-सा जान पड़ता है। नहीं, इसमें विचार की बात

ही नहीं है। यह वही हाथ है जिसने मुझे अभयदान दिया था। अच्छा, देखूँ। (पते हटाने का नाट्य करके तथा देखकर) वही हैं—वही बुद्ध की उपासिका!

वसंतसेना पानी की याचना करती है।

ये पानी पीना चाहती हैं। पानी तो यहाँ से दूर है। क्या करूँ? अच्छा, यह चीवर इनके ऊपर निचोड़ता हूँ।

वसंतसेना सचेत होकर उठ बैठती है।

भिक्षु पल्ले से हवा करता है।

वसंतसेना : आप कौन हैं, आर्य?

भिक्षु : उपासिका, मुझे नहीं पहचानतीं? आपने दस मुद्राओं में मुझे अपना दास बना लिया था!

वसंतसेना : पहचान रही हूँ, परंतु उस रूप में नहीं जिस रूप में आप कहते हैं। ऐसी बात सुनने से तो मृत्यु ही श्रेयस्कर है।

भिक्षु : यह आपके साथ हुआ क्या है, उपासिके?

वसंतसेना : जो होना चाहिए था।

भिक्षु : उपासिका, वृक्ष के समीप उगी हुई इस लता को पकड़कर उठ सकती हैं।

लता को झुकाता है। वसंतसेना उसे

पकड़कर उठ खड़ी होती है।

देखिए, उस विहार में मेरी एक धर्म की बहन रहती है। उपासिका वहाँ चलकर पहले स्वस्थ-चित्त हो जाएँ। फिर घर जाने की सोचें। आप धीरे-धीरे चली जाएँ। (चलते हुए सामने देखकर) हट जाइए आर्यजन, मार्ग से हट जाइए! यह भिक्षु एक तरुणी के साथ जा रहा है, इसमें कोई दोष नहीं। मैं धर्म का ही कार्य कर रहा हूँ।

हाथ, मुख और इंद्रियों पर जिसका संयम है

उसका राजकुल क्या बिगाड़ सकता है?

वह व्यक्ति सर्वथा निर्भय है

क्योंकि परलोक को भी उसने वश में कर रखा है।

प्रस्थान।

वसंतसेना-मोटन नामक आठवाँ अंक।

अंक : नौ



शोधनक का प्रवेश ।

शोधनक : न्यायाधीशों ने आदेश दिया है कि शोधनक, न्याय-मंडप में जाकर आसन सजाकर रखो! अब चलकर न्याय-मंडप को व्यवस्थित कर दूँ। (घूमकर और देखकर) यह रहा न्याय-मंडप! अब अंदर चलता हूँ। (मंडप में आकर धूल झाड़ने और आसन रखने का नाट्य करके) न्याय-मंडप को मैंने झाड़-बुहार दिया है और आसन भी ठीक से रख दिए हैं। अब जाकर न्यायाधीशों को सूचना दे देता हूँ। (घूमकर और देखकर) अरे! यह दुष्ट-दुर्जन मनुष्य राजा का साला इसी ओर आ रहा है। इसकी दृष्टि बचाकर ही जाना चाहिए।

उज्ज्वल वेश में शकार का प्रवेश ।

शकार : वन-उपवन-उद्यान में
जल शलिल और पानी शे
मैंने
गंधर्व की तरह
अपने शुगठित अंगों का श्चन किया है।
राजा का शाला हूँ मैं
चित्र-विचित्र रुचियाँ हैं मेरी!
एक क्षण केशों की गाँठ का जूड़ा करता हूँ,
दूशरे क्षण उन्हें बिखराकर फिर शँवारने लगता हूँ—
क्षण-भर खुले रखता और फिर ऊँचे करके बाँध
लेता हूँ।

मृणाल की गाँठ में घुसे कीड़े की तरह छिद्र का अन्वेषण करते हुए मैं एक महाछिद्र में आ गिरा हूँ। अपना यह क्षुद्र अपराध किशके शिर पर डालूँ? (स्मरण करके) हाँ-हाँ, श्मरण हो आया। वह क्षुद्र अपराध तो मुझे चारुदत्त के शिर पर डालना है। वह निर्धन है और निर्धन व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। तो न्याय-मंडप में जाकर पहले शे यह अभियोग लिखा दूँ कि

चारुदत्त ने गला दबाकर वशंतशेना की हत्या की है। (घूमकर और देखकर) यह रहा न्याय-मंडप। अब अंदर चलूँ। (अंदर आकर और देखकर) यहाँ आशन लग गए हैं। तो जब तक न्यायालय के कर्मचारी आएँ, तब तक इश हरी घाश के चौतरे पर बैठकर प्रतीक्षा करता हूँ।

बैठ जाता है।

शोधनक : (दूसरी ओर से घूमकर सामने देखता हुआ) वे न्यायाधीश आ रहे हैं, आगे चलूँ।

आगे बढ़ता है। श्रेष्ठी तथा कायस्थ इत्यादि के साथ अधिकरणिक का प्रवेश।

अधिकरणिक : श्रेष्ठी तथा कायस्थ!

! श्रेष्ठी

तथा-कायस्थ : आज्ञा करें आर्य!

अधिकरणिक : न्याय के नियमों से नियंत्रित होने के कारण दूसरों के हृदय के सत्य को पहचान लेना हमारे लिए बहुत कठिन है।

न्यायलय में आकर लोग

झूठे अभियोगों को

नीतिपूर्ण बनाकर प्रस्तुत करते हैं।

क्रोध से अंधे हुए वे

अपने दोषों की बात जिह्वा पर नहीं लाते

वादी-प्रतिवादी के दोष

बढ़-चढ़कर राजा का लांछन बन जाते हैं।

संक्षेप में कहूँ, तो कह सकता हूँ

कि न्यायाधीश की कीर्ति नहीं

बस अपयश ही मिलता है।

और

अच्छे-से-अच्छे लोग

नीति से हटकर

अपने अपराध को नैतिक बताते हैं

न्यायालय में अपने दोषों को

वे छिपाकर रखना चाहते हैं,

एक-दूसरे के पाप के भागी वे

और-और अपराध करते हुए नष्ट हो जाते हैं।

संक्षेप में कहूँ, तो कह सकता हूँ
कि न्यायाधीश को कीर्ति नहीं
बस अपयश ही मिलता है।

न्यायाधीश वही हो सकता है
जो शास्त्रों का ज्ञाता
और कपटाचार को समझने में कुशल हो,
अच्छा वक्ता हो, क्रोध से बचता हो,
तथा मित्र और शत्रु को समान भाव से देखकर
उनके कार्य के अनुसार निर्णय कर सकता हो,
जो दुर्बलों का रक्षक और दुष्टों का पीड़क हो,
तथा कर्म के प्रति जिसके मन में आनंद भाव हो;
निर्णय देने में जो यथार्थ की तह तक जा सकता हो;
और इस सबके साथ-साथ
राजा के क्रोध को
ठंडा रख सकता हो।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : यदि आपके गुणों में भी कोई दोष देखता है, तो कहना होगा
कि उसे चाँदनी में भी अंधकार दिखाई देता है।

अधिकरणिक : भद्र शोधनक, न्याय-मंडप के मार्ग का निर्देश करो।

शोधनक : न्यायाधीश इधर से आएँ।

सब घूमते हैं।

यह है न्याय-मंडप। न्यायाधीश प्रवेश करें।

सब प्रवेश करते हैं।

अधिकरणिक : शोधनक, बाहर जाकर देखो। कौन-कौन न्यायार्थी उपस्थित हैं।

शोधनक : जो आज्ञा। (बाहर निकलकर) सज्जनो, न्यायाधीश जानना चाहते
हैं कि कौन-कौन न्यायार्थी उपस्थित हैं।

शकार : (हर्षपूर्वक) तो न्यायाधीश आ गए! (गर्वपूर्वक आगे आकर) मैं
हूँ न्यायार्थी—वर पुरुष, वर मनुष्य, वाशुदेव, राष्ट्रीय श्याल, राजा
का साला!

शोधनक : (घबराकर) अरे! पहला न्यायार्थी राजा का साला ही है!
पल-भर ठहरिए आर्य, मैं जाकर न्यायाधीश को सूचित कर दूँ।
(अंदर जाकर) आर्य, राजा का साला न्यायार्थी के रूप में न्यायालय
में उपस्थित है।

अधिकरणिक : पहला न्यायार्थी राजा का साला है! सूर्योदय के समय सूर्यग्रहण किसी-न-किसी महापुरुष के विनाश का लक्षण होता है। शोधनक, लगता है आज न्यायालय में बहुत खलबली होगी। तुम जाकर उससे कह दो कि वह चला जाए, आज उसका अभियोग नहीं सुना जा सकता।

शोधनक : जैसी आर्य की आज्ञा। (बाहर आकर और शकार के पास पहुँचकर) न्यायाधीश कहते हैं कि आज आप चले जाएँ, आपका अभियोग आज नहीं सुना जा सकता।

शकार : (क्रुद्ध होकर) मेरा अभियोग नहीं सुना जा सकता? नहीं सुना जा सकता तो मैं अभी अपने बहनोई तथा अपनी बहन के पति राजा पालक को तथा अपनी बहन को, जो मेरी माँ है, जाकर शूचित कर देता हूँ और इश न्यायाधीश को निकलवाकर इशके स्थान पर दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त कराता हूँ।

• जाने लगता है।

शोधनक : आर्य राजश्यालक, क्षण-भर ठहरिए, मैं जाकर न्यायाधीश को पता दे दूँ। (न्यायाधीश के पास जाकर) आर्य, राजा का साला क्रोध में कह रहा है कि...। (उसकी बात दोहरा देता है।)

अधिकरणिक : वह मूर्ख कुछ भी कर सकता है। अच्छा जाकर उससे कह दो कि वह आ जाए, उसका अभियोग सुन लिया जाएगा।

शोधनक : (शकार के पास जाकर) आर्य, न्यायाधीश कहते हैं कि आप आ जाएँ, आपका अभियोग सुन लिया जाएगा।...आप अंदर चलें।

शकार : पहले कहा कि नहीं सुना जा सकता, अब कहते हैं कि सुन लिया जाएगा। इशका अर्थ है न्यायाधीश मुझसे डर गए हैं। अब मैं जो भी कहूँ, उश पर विश्वास करा लूँगा। (अंदर जाकर और पास पहुँचकर) हम शुखी रहें। तुम लोगों को भी शुख दें—चाहे न भी दें।

अधिकरणिक : (स्वगत) न्यायार्थी होकर भी इसका भाव कितना अवज्ञापूर्ण है! (प्रकट) यहाँ बैठ जाओ।

शकार : अरे! मेरी अपनी भूमि है, मैं जहाँ चाहूँ बैठ जाऊँ। (श्रेष्ठी की ओर देखकर) मैं यहाँ बैठता हूँ। (शोधनक की ओर देखकर) नहीं, यहाँ बैठता हूँ। (फिर न्यायाधीश के सिर पर हाथ रखकर) यह लो, यहाँ बैठ गया।

नीचे बैठ जाता है।

अधिकरणिक : तुम न्यायार्थी हो?

शकार : हाँ।

अधिकरणिक : तो अपना अभियोग बताओ।

शकार : कान में बताऊँगा। मैं हूँ कूकरों-जैसे महान वीरों के कुल में उत्पन्न वीर!

राजा का शशुर मेरा पिता है,
और राजा मेरे पिता का जमाई है।
मैं राजा का शाला हूँ
और मेरी बहन का पति स्वयं राजा है।

अधिकरणिक : यह सब हम जानते हैं।

कुलीन होने से कुछ नहीं होता
स्वभाव की श्रेष्ठता ही मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती है।
अच्छी भूमि में उत्पन्न होने पर भी
बबूल का पेड़ काँटे ही उगाता है।
तुम अपना अभियोग बताओ।

शकार : बताता हूँ। मैं अपराध भी करूँ, तो राजा मुझसे कुछ नहीं कह सकता। वह मेरा बहनोई है, उसने प्रशन्न होकर मुझे क्रीड़ा तथा रक्षा के लिए शव उद्यानों में श्रेष्ठ जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान दिया है। मैं प्रतिदिन वहाँ जाता हूँ—उशे देखने, शुखाने, बृहारने, पालने तथा काटने के लिए। वहाँ दैवयोग से आज मैंने एक स्त्री का शरीर पड़ा हुआ देखा है—शायद न भी देखा हो।

अधिकरणिक : यह जानते हो कि जिसकी मृत्यु हुई है वह स्त्री कौन है?

शकार : मैं उशे नहीं जानूँगा न्यायाधीश-प्रवर? उसे—जो शौ-शौ आभूषणों से शज्जित रहनेवाली मानो स्वयं शोभा थी? किसी कुपूत ने तुच्छ धन के लिए वशंतशेना को शून जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान में ले जाकर हाथों से गला दबाकर उसकी हत्या कर दी है। मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ...

इतना कहकर मुँह पर हाथ रख लेता है।

अधिकरणिक : कितने असावधान हैं नगर-रक्षक! श्रेष्ठी तथा कायस्थ, 'मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ' इसकी यह बात सबसे पहले लिख ली जाए!

कायस्थ : जो आज्ञा। (लिखकर) लिख ली है, आर्य!

शकार : (स्वगत) अरे! उत्कण्ठित पायश पिंडारक की तरह मैंने आज श्वयं ही अपना नाश कर लिया! तो ऐसे करूँ। (प्रकट) न्यायाधीशवर,

मैं तो कह रहा था कि मैं वह व्यक्ति हूँ जिशने उशे देखा है।
आप लोग व्यर्थ कोलाहल क्यों करते हैं?

लिखे हुए को पैर से मिटा देता है।

अधिकरणिक : यह तुम्हें कैसे पता चला कि किसी ने उसे धन के लिए मारा है और गला दबाकर मारा है?

शकार : मैं ऐसे शोचता हूँ क्योंकि उशके गले में खाली हार की डोरी बँधी थी और अंगों पर आभूषण नहीं थे।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : बात तो जँचती है।

शकार : (स्वगत) हा-हा! मुझे पुनर्जीवन मिल गया!

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : इस अभियोग का संबंध किस व्यक्ति से है?

अधिकरणिक : अभियोग दो प्रकार से होता है।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : कैसे?

अधिकरणिक : एक वाक्य के अनुसार और दूसरा अर्थ के अनुसार। यदि वाक्य के अनुसार हो, तब वादी और प्रतिवादी की अपेक्षा रहती है। अर्थ के अनुसार हो, तो न्यायाधीश का विवेक ही निर्णय कर सकता है।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : इस अभियोग का संबंध वसंतसेना की माता से है?

अधिकरणिक : हाँ। शोधनक, जाकर वसंतसेना की माता को बुला लाओ। देखो, वह उद्विग्न न हों।

शोधनक : मैं आदेश का पालन करूँगा।

बाहर जाकर वसंतसेना की माता के साथ आता है।

आइए आर्ये, इधर से आइए।

वृद्धा : मेरी पुत्री अपने मित्र से मिलने के लिए गई है। यह चिरंजीवी कहता है कि न्यायाधीश मुझे बुला रहे हैं। मैं तो मूर्खित-सी हुई जा रही हूँ। हृदय काँप रहा है। आर्य, बताइए न्याय-मंडप का मार्ग किधर से है?

शोधनक : आइए आर्ये, इधर से आइए।

दोनों अंदर आ जाते हैं।

वृद्धा : (पास पहुँचकर) आप सब विद्वत्प्रमुख सुखी रहें!
अधिकरणिक : स्वागत हो, भद्रे! यह आसन ले लो।
वृद्धा : ले रही हूँ।

बैठ जाती है।

शकार : (व्यंग्यपूर्वक) आ गई तू बुढ़िया? आ पहुँची?
अधिकरणिक : तुम वसंतसेना की माता हो?

वृद्धा : हाँ, आर्य!

अधिकरणिक : वसंतसेना इस समय कहाँ है?

वृद्धा : एक मित्र के यहाँ गई है।

अधिकरणिक : उस मित्र का नाम?

वृद्धा : (घबराहट से) न्यायाधीश, आप यह क्यों जानना चाहते हैं?

अधिकरणिक : संकोच छोड़ दो। तुमसे एक अभियोग के प्रसंग में पूछा जा रहा है।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : अभियोग के प्रसंग में ही पूछा जा रहा है, अन्य किसी अभिप्राय से नहीं। तुम ठीक बात बताओ।।

वृद्धा : अभियोग के प्रसंग में पूछा जा रहा है? तो बताती हूँ, आर्यमित्र!
वह व्यक्ति है सारथवाह विनयदत्त का पौत्र, सागरदत्त का पुत्र
सुगृहीत नामधेय आर्य चारुदत्त।

शकार : शुना आपने? यह शब्द लिख लीजिए। मेरा अभियोग चारुदत्त पर है।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : चारुदत्त उसके मित्र हैं, इसमें कोई दोष नहीं।

अधिकरणिक : इस अभियोग का संबंध आर्य चारुदत्त से भी है?

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : हाँ, प्रतीत तो यही होता है।

अधिकरणिक : धनदत्त, अभियोग के प्रथम चरण में लिखो—‘वसंतसेना आर्य
चारुदत्त से मिलने गई थी।’ अब हमें आर्य चारुदत्त को भी
बुलाना होगा? अथवा अभियोग ही उनकी उपस्थिति की अपेक्षा
रखता है। भद्र शोधनक, जाओ जाकर आर्य चारुदत्त को आदरपूर्वक
लिवा आओ। देखना, वह उन्मुक्त मन से आएँ, उन्हें किसी
प्रकार की घबराहट या उद्धिग्नता न हो।

शोधनक : जो आज्ञा।

चला जाता है और चारुदत्त
के साथ पुनः आता है।

आर्य, इधर से आएँ।

चारुदत्त : (सोचता हुआ)

मेरे कुल और शील को जानते हुए भी
राजा ने बुला भेजा है।
दरिद्रता की स्थिति में
यह बात हृदय को शंकित करती है।

(विमर्शपूर्वक स्वगत)

किसी से सुनकर
या गुप्तचरों की आँख से देखकर
क्या राजा ने जान लिया है
कि बंधन से भागकर आए आर्यक को
पास आने पर
मैंने अपनी गाड़ी में आगे भेज दिया था?
अन्यथा आज
क्यों मुझे
यूँ एक अभियुक्त की तरह ले जाया जा रहा है?
परंतु सोचने में क्या रखा है? न्याय-मंडप की ओर तो जा ही रहा
हूँ। भद्र शोधनक, न्यायालय के मार्ग का निर्देश करो।

शोधनक : इधर से आएँ आर्य!

दोनों घूमते हैं।

चारुदत्त : (शंकित स्वर में) और क्या कारण हो सकता है?

रूखे स्वर में कौवे की काँय-काँय
और राज्य के अनुचरों का बार-बार बुलाना;
बाई आँख का रह-रहकर फड़क उठना—
ये सब अपशकुन हृदय को डराते हैं!

शोधनक : आर्य, घबराइए नहीं और उन्मुक्त भाव से चले आइए!

चारुदत्त : (घूमकर और सामने देखकर)

सूखे पेड़ पर बैठा कौआ
सूर्य की ओर मुँह किए
बाई आँख से
निःसंदेह
मेरी ही ओर ताक रहा है।

(दूसरी ओर देखकर) अरे साँप!

मार्ग में लेटा हुआ कजरारा साँप
मुझ पर दृष्टि गड़ाए,
जीभ लपलपाता हुआ
क्रोध से फुंकार रहा है।
उसकी चारों ओर सफेद दाढ़ें चमक रही हैं
और बल खाया हुआ शरीर
हवा से फूल रहा है।

एवं

फिसलन नहीं है
फिर भी पैर धरती पर डगमगा जाते हैं।
बाई आँख फड़क रही है
और बाई भुजा काँप रही है।
दूर कोई पक्षी बार-बार रो उठता है।
ये सब
निःसंदेह,
भयानक मृत्यु की पूर्व सूचनाएँ हैं।
देवता कुशल करें।

शोधनक : आइए आर्य! यह न्याय-मंडप है, प्रवेश कीजिए।

चारुदत्त : (अंदर जाकर तथा चारों ओर देखकर)

समुद्र है यह न्यायालय
जिसका नीति का तट टूट गया है।
चिंतालीन मंत्री इसका जल हैं
और लहरों पर तैरते हुए शंख हैं राजदूत।
सीमास्थित गुप्तचर ग्राह और मत्स्य हैं
और हाथी तथा घोड़े, अन्यान्य हिंस्र जीव।
वादी-प्रतिवादी लड़ते हुए कंक पक्षी हैं
और लिपिकार कायस्थ-लहराते हुए साँप।

अच्छा!

प्रवेश करते हुए सिर पर चोट
आ जाने से विमर्शपूर्वक।

लो!

बाई आँख फड़क रही है
और कौवा रो रहा है।

साँप मेरा मार्ग रोके है;
आज देवता कुशल करें।
तो अंदर चलूँ।

न्याय-मंडप में आ जाता है।

अधिकरणिक : तो ये हैं चारुदत्त!

ऊँची नासिका

और कानों तक फैली हुई बड़ी-बड़ी आँखें।

निःसंदेह यह व्यक्ति अकारण अपराध का भागी
नहीं हो सकता

हाथी, घोड़ा, गौ और मनुष्य—

सबका आचरण

अपने आकार के अनुरूप ही होता है।

चारुदत्त : अधिकारीगण, आप सब स्वस्थ तो हैं? सेवकवृंद, आप सब भी
कुशलपूर्वक हैं न?

अधिकरणिक : (संभ्रमपूर्वक) स्वागत है, आर्य! शोधनक, आर्य को आसन दो।

शोधनक : (आसन लाकर) यह रहा आसन! आर्य इस पर बैठें।

चारुदत्त बैठ जाता है।

शकार : (क्रोधपूर्वक) आ गए तुम शत्रीघाती, आ पहुँचे तुम? कैशा व्यवहार
है न्याय का! कैशा धर्मशंगत व्यवहार है कि शत्रीघाती को आशन
दिया जा रहा है! (गर्वित स्वर में) दीजिए, हमें क्या है?

अधिकरणिक : आर्य चारुदत्त, यह सच है कि इन आर्या की पुत्री आपसे मिलने
के लिए गई थी?

चारुदत्त : किनकी पुत्री?

अधिकरणिक : इनकी।

वसंतसेना की माता की ओर
संकेत करता है।

चारुदत्त : (उठकर) अभिवादन करता हूँ, आर्य!

वृद्धा : चिरकाल तक जियो बेटा! (स्वगत) तो यह है चारुदत्त!

अधिकरणिक : आर्य, वसंतसेना क्या तुम्हारी मित्र है?

चारुदत्त शकार को देखकर
उत्तर नहीं देता।

शकार : लज्जा और भीरुता के वश में पड़कर
अपनी करनी पर आवरण डालना चाहते हो?

यह मनुष्यता नहीं
कि धन के कारण शत्री की हत्या करके
व्यक्ति उश पाप को छिपाने की चेष्टा करे!

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : उत्तर दीजिए आर्य चारुदत्त! यह अभियोग का प्रसंग है, यहाँ
मौन से काम नहीं चलेगा।

चारुदत्त : (लज्जित स्वर में) अधिकारीगण, मैं कैसे कहूँ कि वसंतसेना मेरी
मित्र नहीं है? लेकिन यह अपराध है क्या?

अधिकरणिक : तुम लज्जा छोड़ो और सच-सच बात बताओ।

इस अभियोग में कई-कई तरह के विघ्न आ सकते
हैं।

धैर्य रखते हुए चुप रहना ठीक नहीं,

तनिक भी लुकाव-छिपाव घातक हो सकता है।

तुमसे अभियोग के प्रसंग में पूछा जा रहा है, अतः निःसंकोच
बात करो।

चारुदत्त : आर्य, मुझ पर अभियोग कौन लगा रहा है?

शकार : (गर्वित स्वर में) मैं लगा रहा हूँ अभियोग!

चारुदत्त : तुम्हारी ओर से मेरे ऊपर अभियोग—यह कल्पना भी असह्य
है।

शकार : क्योंकि शत्रीघाती, शौ-शौ रत्नाभूषणों से शजी हुई वशंतसेना की
हत्या करके अब छल-कपट से उशे छिपाना चाहते हो?

चारुदत्त : क्या बक-झक कर रहे हो तुम?

अधिकरणिक : आर्य चारुदत्त, इन बातों को छोड़कर सच बात बताइए।

क्या वसंतसेना से आपकी मित्रता है?

चारुदत्त : जी हाँ, है।

अधिकरणिक : इस समय वसंतसेना कहाँ है?

चारुदत्त : अपने घर गई है।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : कैसे गई है? कब गई है? उसके साथ कौन था?

चारुदत्त : (स्वगत) कह दूँ कि छिपकर गई है?

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : बताइए आर्य!

चारुदत्त : कह चुका हूँ कि अपने घर गई है। और मैं क्यों बताऊँ?

शकार : तुमने उसे मेरे जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान में लाकर हाथों से गला दबाकर उसकी हत्या की है। अब यहाँ कह रहे हो कि वह अपने घर गई है?

चारुदत्त : अरे झक्की!

आकाश में मेघ जल से धुलकर
नीलकंठ के पंखों की तरह तुम्हारा मुख मलिन नहीं
हुआ,
फिर भी
हेमंत के कमल की तरह उसका रंग जो फीका पड़
गया है,
उसका कारण क्या तुम्हारा झूठ ही नहीं है?

अधिकरणिक : (अलग से)

चारुदत्त को दोषी ठहराना
हिमालय को तौलना है
समुद्र को लौंघना है
और वायु को बाँधना है!

(प्रकट) आर्य चारुदत्त के हाथों ऐसा अनर्थ कयोंकर हो सकता है?

‘ऊँची नासिका’ इत्यादि दोहराता है।

शकार : तो क्या इश अभियोग में पक्षपात किया जा रहा है?

अधिकरणिक : हट जाओ मूर्ख!

अधम होकर तुम वेदों के अर्थ की बात करते हो,
और तुम्हारी जीभ नहीं गिरती!
मध्याह्न में सूर्य की ओर देखते हो,
और तुम्हारी आँख को कुछ नहीं होता!
जलती हुई आग में हाथ डालते हो
फिर भी उसके दाह का अनुभव नहीं करते!
चारुदत्त के चरित्र को लांछित करते हो,
और धरती तुम्हें निगल नहीं लेती!

आर्य चारुदत्त ऐसा अनर्थ कार्य कैसे कर सकते हैं?

याचकों को जिसने इतने रत्न दिए हैं
कि समुद्र की महिमा केवल जल-विस्तार के कारण
ही शेष है,

वह महान व्यक्ति, पुण्यों का एकमात्र आधार,
धन के लिए क्या ऐसा कार्य करेगा जो उसके शत्रु भी नहीं कर
सकते?

शकार : मैं पूछता हूँ कि अभियोग में क्या पक्षपात किया जा रहा है?

वृद्धा : धरोहर का स्वर्णपात्र रात को चोरों के चुरा लेने पर जिसने उसके
स्थान पर चार समुद्रों की सार रत्नावली भेज दी थी, वही व्यक्ति
तुच्छ धन के लिए आज यह अनर्थ करे, यह संभव है? कहाँ हो
तुम बेटी? हाय, मेरे पास तो आओ!

रौने लगती है।

अधिकरणिक : अच्छा आर्य चारुदत्त, वह आपके यहाँ से चलकर गई थी या
गाड़ी में।

क्रोधपूर्ण मुद्रा में वीरक का प्रवेश।

वीरक : चंदनक के पदाघात से विमानित होकर
मेरे हृदय में शत्रुता की आग धधक उठी है।
उससे प्रतिशोध लेने की बात सोचते हुए
रात को मैंने प्रभात कर दिया है।
तो न्याय-मंडप में चलूँ।

अंदर जाकर और दायों हाथ फैलाकर

आर्यमिश्र सुखी रहें।

अधिकरणिक : नगर रक्षाधिकृत वीरक! कैसे आए हो वीरक?

वीरक : सुनिए आर्य! जिस समय आर्यक बंधन तोड़कर निकल भागे थे,
उस समय खलबली में उन्हें खोजते हुए हमने एक ढकी हुई गाड़ी
को जाते हुए देखा था। मैं उसे देखकर सोच में पड़ गया था।
मैंने सेनापति चंदनक से कहा कि उसने गाड़ी को देख लिया है,
फिर भी मैं एक बार उसे देखना चाहूँगा। मेरे यह कहने पर
सेनापति चंदनक ने मुझे पैर से ठोकर मारी। इसका विचार अब
आपके हाथ में है।

अधिकरणिक : तुम्हें यह पता है, वह किसकी गाड़ी थी?

वीरक : गाड़ी आर्य चारुदत्त की थी। गाड़ीवान कह रहा था कि गाड़ी में
वसंतसेना बैठी है और जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान की ओर जा रही
है।

शकार : शून लिया आर्यमिश्रों ने!

अधिकरणिक : निर्मल चाँदनी बिखराता हुआ चाँद

राहु के ग्रास में चला जाएगा!

जल का शांत विस्तार

तट के गिरने से आज गँदला हो जाएगा।

वीरक, तुम्हारा न्याय हम बाद में करेंगे। न्यायालय के द्वार पर जो अश्व खड़ा है, उस पर बैठकर तुम जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान तक चले जाओ और देख आओ कि क्या वहाँ किसी स्त्री का मृत शरीर पड़ा है?

वीरक : जैसी आज्ञा। (जाकर और लौटकर) मैं वहाँ हो आया हूँ, आर्य! वहाँ हिंस्र जीव एक स्त्री के शरीर को खा रहे हैं।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : यह तुम्हें कैसे पता चला कि वह स्त्री का शरीर है?

वीरक : केशों तथा हाथ-पैरों के जो भाग बचे थे, उनसे।

अधिकरणिक : एक लौकिक अभियोग में कैसी-कैसी उलझनें पैदा हो जाती हैं!

ज्यों-ज्यों विचार करता हूँ,

संकट और बढ़ता जाता है।

प्रमाणों के अनुसार अभियोग सिद्ध हो रहा है

और मेरी बुद्धि

कीचड़ में फँसी गौ की तरह

नीचे-नीचे धँसती जा रही है।

चारुदत्त : (स्वगत)

फूल के खिलते ही

सौ-सौ भौरे रसपान के लिए उस पर टूट पड़ते हैं।

विपत्ति के उठते ही

एक-एक छिद्र में सौ-सौ अनर्थ होने लगते हैं।

अधिकरणिक : आर्य चारुदत्त, सच बात बताओ।

चारुदत्त : कोई दुरात्मा और गुणों के प्रति ईर्ष्यालु व्यक्ति रागांध होकर किसी के विनाश की कामना से, अपने जाति-स्वभाव के कारण जो कुछ भी झूठ कह देगा,

वह सभी कुछ मान्य होगा? उस पर विचार नहीं किया जाएगा?

और—

फूल लेने के लिए

जिसने कभी खिली हुई लता तक को नहीं छेड़ा,
वही मैं
एक रोती हुई नारी के
भौरे के पंखों-जैसे लंबे और काले केश पकड़कर
खींचूँगा,

और उसकी हत्या करूँगा?

शकार : न्यायाधिकरण! आप क्या अभियोग में पक्षपात करते ही जाएँगे?
आपने अभी तक इश दुरात्मा चारुदत्त को आशन पर क्यों बिठा
रखा है?

अधिकरणिक : शोधनक, इन्हें आसन से उठा दो।

शोधनक तदुनसार कार्य करता है।

चारुदत्त : आप ठीक से विचार करें न्यायाधिकृत! सबकुछ देख-समझकर
विचार करें।

आसन से उठकर नीचे बैठ जाता है।

शकार : (हर्ष से नाचता हुआ स्वगत)

हा-हा-हा! डाल दिया अपना पाप दूसरे के शिर पर! जहाँ
चारुदत्त बैठा था, वहीं पर मैं भी बैठूँगा। (वैसा करके) देखो
चारुदत्त, मेरी ओर देखो और कह दो कि वशंतसेना को तुमने
मारा है।

चारुदत्त : न्यायाधिकृत!

‘कोई दुरात्मा’ इत्यादि दोहराता है।

तदनुसार निःश्वास के साथ :

मित्र मैत्रेय,

मुझे क्यों आज यह अपमृत्यु मिल रही है?

धूते,

क्या यही दिन देखने के लिए

तुमने ब्राह्मणों के उज्ज्वल वेश में जन्म लिया था?

पुत्र रोहसेन,

क्या तुम भी मेरी विपत्ति को नहीं देख रहे?

खेल में शत्रुओं को हराकर

तुम प्रतिदिन झूठा ही मनोरंजन किया करते हो!

मैत्रेय को मैंने वसंतसेना के पास भेजा था कि जाकर उसका
समाचार पूछ आए तथा उसने बच्चे को गाड़ी के लिए जो

आभूषण दिए थे, उन्हें लौटा आए। न जाने वह लौटने में इतना विलंब क्यों कर रहा है!

आभूषण लिये हुए विदूषक का प्रवेश।

विदूषक : आर्य चारुदत्त ने ये आभूषण देकर मुझे वसंतसेना के पास भेजा है। कहा है कि मैत्रेय, वसंतसेना ने वत्स रोहसेन को अपने आभूषणों से सजाकर उसकी माँ के पास भेज दिया था; परंतु हमें उससे आभूषण लेने नहीं चाहिए, उसे देने चाहिए। अतः जाकर इन्हें लौटा आओ। तो अब वसंतसेना के पास चलूँ। (घूमकर और आकाश की ओर देखकर) अरे! तुम तो भावरेभिल! क्या बात है भावरेभिल? उद्विग्न-से क्यों लगते हो? (सुनकर) क्या कहा? प्रिय मित्र चारुदत्त को न्याय-मंडप में बुलाया गया है? तब तो कोई असाधारण ही बात होगी। (सोचकर) वसंतसेना के पास बाद में जाऊँगा। पहले न्याय-मंडप की ओर चलूँ। (घूमकर और देखकर) यह रहा न्याय-मंडप! अब अंदर चलूँ। (अंदर जाकर) न्यायाधिकृत सुखी रहें! मेरा प्रिय मित्र कहाँ है?

अधिकरणिक : ये बैठे हैं।

विदूषक : मित्र, कल्याण हो!

चारुदत्त : हाँ, कल्याण ही होगा।

विदूषक : कुशल तो है?

चारुदत्त : हाँ, कुशल भी होगी।

विदूषक : क्यों, उद्विग्न क्यों हो? तुम्हें यहाँ क्यों बुलाया गया है?

चारुदत्त : मित्र,

मैं वह नृशंस हूँ
जिसने परलोक भूलकर
उस नारी को
जो साक्षात् देवी के समान थी...
शेष यह व्यक्ति ही कहेगा।

विदूषक : क्या?

चारुदत्त : (कान में) बात यह है कि...

विदूषक : किसने ऐसा अभियोग लगाया है?

चारुदत्त : (शंका की ओर संकेत करके)

यह बेचारा तो उसका कारण ही बना है। वास्तव में अभियोग तो मेरे ऊपर भाग्य ने ही लगाया है।

विदूषक : (अलग से) कह क्यों नहीं देते कि वह अपने घर गई है।

चारुदत्त : स्थिति मेरे अनुकूल नहीं है, इसलिए कहने से भी कोई नहीं मानता।

विदूषक : आर्यगण, जिस व्यक्ति ने धर्मशाला, विहार, उद्यान, मंदिर, सरोवर, कूप तथा यज्ञस्तंभ आदि के निर्माण में नगरी उज्जयिनी को अलंकृत किया है, वह आज निर्धन है, इसलिए तुच्छ धन के लिए ऐसा दुष्कर्म करेगा? काणेलीपुत्र, राजा के साले, उच्छृंखल संस्थानक! सौ-सौ पाप कमानेवाले भाँड़! सोने में मढ़े हुए बंदर! तू कह तो मेरे सामने कि मेरा यह मित्र, जो फूल चुनने कि लिए खिली हुई माधवीलता तक को इसलिए नहीं छेड़ता कि उसके पत्ते न टूट जाएँ, वह लोक और परलोक के प्रतिकूल ऐसा कार्य कर सकता है? तू ठहर धूर्त-पुत्र! अभी तेरे हृदय की तरह टेढ़ी इस लाठी से तेरे सिर के सौ टुकड़े करता हूँ।

शकार : (क्रोधपूर्वक) आर्यमिश्र, शुन रहे हैं आप? मेरा विवाद या अभियोग चारुदत्त के शाय चल रहा है। यह कौवे के पैर-जैसे शिर-मशतक वाला मेरे शिर के शौ टुकड़े किशलिए करेगा? दाशी के पुत्र दुष्ट ब्राह्मण, कहीं तू ऐशा न कर बैठना, हाँ, नहीं तो...!

विदूषक लाठी उठाकर अपनी बात फिर दोहराता है। शकार क्रोधपूर्वक उठकर

उसे मारने दौड़ता है। विदूषक भी

उसे मारने लगता है। इस

मार-पीट में विदूषक की काँख से

आभूषण गिर पड़ते हैं। शकार

आभूषणों को उठाकर देखता है।

फिर जैसे आतंकित-से-स्वर में।

देखिए, देखिए आर्यमिश्र! ये रहे उश बेचारी के आभूषण।

(चारुदत्त की ओर देखकर) इसी तुच्छ धन के लिए इशने उशे मारा है और उशकी हत्या की है।

सब अधिकारी सिर झुका लेते हैं।

चारुदत्त : (अलग से)

विपरीत भाग्य से

ऐसे समय

इन आभूषणों का गिरना

हमें और भी गिरा देगा।

विदूषक : मित्र, तुम सच बात क्यों नहीं बता देते?

चारुदत्त : मित्र,

राजा के दुर्बल नेत्र
पदार्थ को नहीं देखते।
यहाँ कुछ भी कहना
केवल दीनता प्रकट करना है
और अपनी मृत्यु को शोचनीय बनाना है।

अधिकरणिक : कितने कष्ट का शिष्य है!

विरोधी मंगल के सामने
बृहस्पति के क्षीण होने पर
धूमकेतु की तरह
यह एक और ग्रह उदित हो गया है।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : (आभूषणों को देखकर वसंतसेना की माता के प्रति) आप ध्यान से सोने के आभूषणों को देखें कि क्या ये आपके ही हैं?

वृद्धा : (देखकर) वैसे ही हैं, परंतु वे नहीं हैं।

शकार : वाह री बुद्धि! आँखें जो कह रही हैं, उशे मुँह से झुठला रही है!

वृद्धा : दूर रह अभाने!

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : ठीक-ठीक बताओ कि ये वही हैं या नहीं?

वृद्धा : आर्यगण, मैं इनके शिल्प-कौशल के कारण ही इनकी ओर देख रही हूँ। ये वे आभूषण नहीं हैं।

अधिकरणिक : भद्रे, ठीक बताओ कि क्या तुम इन आभूषणों को पहचानती हो?

वृद्धा : मैं कह रही हूँ कि देखने में ये मेरे लिए अपरिचित नहीं हैं—किसी शिल्पी ने वैसे ही और बना दिए होंगे।

अधिकरणिक : देखो श्रेष्ठी,

हाथ के बने आभूषणों के निर्माण को देखकर
वैसे ही निर्माण की कल्पना की जा सकती है।
शिल्पियों का हस्तकौशल, कितनी ही बार,
रूप के अनुसार रूप की रचना कर लेता है।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : तो ये आभूषण आर्य चारुदत्त के हैं?

चारुदत्त : नहीं मेरे नहीं हैं।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : तो किसके हैं?

चारुदत्त : इनकी पुत्री के।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : तो ये उसके शरीर से उतरे कैसे हैं?

चारुदत्त : ऐसे ही उतर गए...बस यूँ ही।

श्रेष्ठी

तथा कायस्थ : आर्य चारुदत्त, यहाँ आपको सच बात ही बतानी होगी। आप इन्हें फिर से देख लीजिए।

सुख सत्य से मिलता है—

सत्यवादी कभी पातकी नहीं होता।

सत्य शब्द में केवल दो ही अक्षर हैं—

झूठ से सत्य को छिपाने का प्रयत्न निष्फल है।

चारुदत्त : ये आभूषण हैं या क्या हैं, मैं नहीं जानता। इतना जानता हूँ कि ये मेरे घर से ही लाए गए हैं।

शकार : पहले उद्यान में ले जाकर उशकी हत्या कर दी। अब छल-कपट से उश बात को छिपाने की चेष्टा कर रहे हो?

अधिकरणिक : आर्य चारुदत्त, सच बात बताओ।

तुम्हारे कोमल शरीर पर

अब कठोर कशाघात होंगे।

उन प्रहारों को देखकर

हमारी कामनाएँ तड़प जाएँगी।

चारुदत्त : एक निष्पाप कुल में जन्म लेकर

यह संभव नहीं कि मैं पाप करूँ।

और यदि यह संभव माना जा सकता है,

तो मेरा निष्पाप होना निरर्थक है।

(स्वगत) वसंतसेने, यह सब क्या हुआ? तुम कहाँ हो?

(प्रकट) देखिए, मैं अधिक क्या कहूँ।

मैं वह नृशंस हूँ

जिसने दोनों लोकों को भूलकर

उस नारी को

जो साक्षात् देवी के समान थी—

शेष यह व्यक्ति ही कह सकेगा।

शकार : जान शे मार दिया? अरे कहो न—मैंने उशे जान शे मार दिया।
चारुदत्त : तुमने कह तो दिया है।

शकार : शुन रहे हैं भट्टारक? इशने उशे मारा है और इशी ने शंशय भी दूर कर दिया है। इश निर्धन चारुदत्त को प्राणदंड मिलना चाहिए।

अधिकरणिक : शोधनक राजश्यालक ने ठीक कहा है। राजपुरुषो, चारुदत्त को पकड़ लो।

राजपुरुष चारुदत्त को पकड़ लेते हैं।

वृद्धा : दया करें आर्यमिश्र! यदि मेरी बेटी सचमुच चल बसी है, तो भी ठीक है; यदि जीवित है, तो मेरी आयु भी उसे लगे। अभियोग वादी और प्रतिवादी के बीच होता है। यहाँ वादी मैं हूँ। मैं कहती हूँ कि इन्हें छोड़ दिया जाए।

शकार : हट जा दाशों की दाशी! जा, तुझे इशशे क्या है?

अधिकरणिक : तुम जाओ आर्ये! राजपुरुषो, इस व्यक्ति को ले जाओ।

वृद्धा : हा वत्स! हा पुत्र!

रोती हुई चली जाती है।

शकार : (स्वगत) मैंने इशशे जो कहना था कह दिया। अब चलूँ।

चला जाता है।

अधिकरणिक : आर्य चारुदत्त, निर्णय हम करते हैं, शेष राजा के हाथ में है।

शोधनक, राजा पालक से यह कह देना कि

यह व्यक्ति पातकी है—

परंतु मनु के अनुसार

ब्राह्मण को मृत्युदंड नहीं दिया जा सकता।

अतः

धन-वैभव के साथ

इसे इस राज्य से

निर्वासित करने का आदेश दिया जाए।

शोधनक : जो आज्ञा। (जाकर और लौटकर अश्रुपूर्ण स्वर में) आर्य, मैं राजा के पास हो आया हूँ। राजा पालक ने कहा है जिस व्यक्ति ने तुच्छ धन के लिए वसंतसेना की हत्या की है, उसे वही आभूषण गले में बाँधकर, डौंडी पिटवाते हुए दक्षिण श्मशान में ले जाकर सूली पर चढ़ा दिया जाए, जिससे आगे के लिए ऐसा कार्य करनेवालों को इस अपमानपूर्ण दंड से शिक्षा प्राप्त हो।

चारुदत्त : बहुत विवेकहीन है राजा पालक!

मंत्रियों के परामर्श से

ऐसे व्यवहार की आग में पड़कर

राजाओं की अवस्था का शोचनीय हो जाना

तनिक भी अस्वाभाविक नहीं।

एवं

राजशासन के कलंक

ऐसे ही सफ़ेद कौवे

अनेक निर्दोष व्यक्तियों की हत्या के कारण

बनते रहे हैं और बनते रहेंगे।

मित्र मैत्रेय, मेरी ओर से माँ को प्रणाम कर दिया करना। रोहसेन की पालना भी अब तुम्हीं को करनी होगी।

विदूषक : जड़ के उखड़ जाने पर वृक्ष की पालना कैसे हो सकती है?

चारुदत्त : ऐसा मत कहो मित्र!

व्यक्ति के परलोक चले जाने पर

उसके शरीर का दूसरा रूप

उसका पुत्र ही होता है।

मेरे प्रति अपना स्नेह

अब तुम रोहसेन को दिया करना।

विदूषक : मैं तुम्हारा मित्र हूँ, तो क्या तुम्हारे चले जाने के बाद मैं जीवित रहूँगा?

चारुदत्त : देखो, एक बार रोहसेन से मिला दो।

विदूषक : अवश्य।

अधिकरणिक : शोधनक, इस ब्राह्मण को यहाँ से हटा दो।

शोधनक मैत्रेय को हटाता है।

अधिकरणिक : कौन है यहाँ! चांडालों को जाकर आदेश दो!

चारुदत्त को छोड़कर सब राजपुरुष

वहाँ से चले जाते हैं।

शोधनक : आप इधर से आएँ, आर्य!

चारुदत्त करुण स्वर में 'मित्र मैत्रेय'

इत्यादि दोहराता है।

चारुदत्त : (आकाश की ओर देखकर)

विनय करने पर भी

कि विष, जल, तुला या अग्नि से मेरी परीक्षा ली
जाए,
निर्णय यही हुआ है
कि मेरे शरीर को आरे से चीर दिया जाए।
शत्रु के कहने से
मुझ ब्राह्मण की हत्या का आदेश देनेवाले,
पुत्रों और पौत्रों के साथ
तुझे नरक में ही वास मिलेगा।
लो, मैं चल रहा हूँ।

प्रस्थान

व्यवहार नामक नौवाँ अंक।

अंक : दस

दो चांडालों के साथ चारुदत्त का प्रवेश ।

दोनों चांडाल : कारण का अनुमान क्या आप नहीं लगा सकते?
वध और वंधन के कार्य में दक्ष
हम दोनों
सिर काटने और सूली पर चढ़ाने की कला में कुशल
हैं ।

हट जाइए सज्जनो, मार्ग से हट जाइए! ये हैं आर्य चारुदत्त!
कनैल की माला पहने
और हम वधिकों द्वारा जकड़े हुए ये
स्नेहहीन दीपक की तरह
धीरे-धीरे क्षीण होते जा रहे हैं ।

चारुदत्त : (विषादपूर्वक)

कर्कश काँय-काँय करते हुए काग
सोच रहे हैं
कि अश्रुजल से गीले और धूल के कारण रुखे
श्मशान के फूलों से ढके हुए तथा रक्त-चंदन से
अनुलिप्त
मेरे इस शरीर का
वे बलिभोग लगाएँगे ।

चांडाल : हट जाइए सज्जनो, हट जाइए!

क्या देख रहे हैं आप लोग?
यह व्यक्ति वह वृक्ष है
जिस पर पक्षियों की तरह
साधु पुरुष आश्रय लिया करते थे ।
आज काल का कुठार लेकर
हम इस वृक्ष को काटने जा रहे हैं ।
चले आओ चारुदत्त, चले आओ ।

चारुदत्त : व्यक्ति का भाग्य कब क्या होगा, यह कहना असंभव है। आज मैं किस दशा में पहुँच गया हूँ!

सारे शरीर पर
रक्त-चंदन की छाप देकर
पिसे हुए तिल-तंडुल डाल दिए गए हैं
और मुझे पुरुष से पशु बना दिया गया है।
(सामने देखकर) कितने लोग है यहाँ! (करुण स्वर में)
मेरा अंत पास आया देखकर
मुझे बचाने में असमर्थ
पुर के निवासी
मनुष्य-जीवन को धिक्कारते हुए
अश्रुपूर्ण नेत्रों से
मेरे स्वर्ग जाने की कामना कर रहे हैं।

चांडाल : हट जाइए सज्जनो, हट जाइए। आप लोग क्या देख रहे हैं?
इंद्रध्वज का विसर्जन,
गौ का प्रसव,
तारे का टूटना
और सत्पुरुष का विनाश
इन चारों को नहीं देखना चाहिए।

एक चांडाल : देखो-देखो...आहीन्त,
दैव के निर्देश से
नगरी के इस प्रधान पुरुष की हत्या के समय
यह आकाश रो रहा है
या बिना मेघ के वज्रपात हो रहा है?

दूसरा चांडाल : देखो गोह,
यह आकाश नहीं रो रहा,
और न ही बिना मेघ के वज्रपात हो रहा है।
मेघ की तरह उमड़कर आती हुई
नगर की नारियाँ
अपनी आँखों से अश्रुधाराएँ बहा रही हैं।

एवं

इन्हें वंध-स्थान की ओर ले जाया जा रहा है,
इसलिए

सब लोगों के रोने से
गलियाँ आँसुओं से भीग गई हैं।
और धूल ऊपर नहीं उठ पाती।

चारुदत्त : (देखकर करुण स्वर में)

हर्म्यतल पर बैठी हुई स्त्रियाँ
आधे-आधे वातायन से सिर निकालकर
शोक से चारुदत्त का नाम लेती हुई,
आँसुओं के पनाले बहा रही हैं!

दोनों चांडाल : चले आओ चारुदत्त! यह घोषणा-स्थान आ गया। यहाँ डौंड़ी
पीटें और घोषणा करें।

सुनिष्ट सज्जनो! यह सार्थवाह विनयदत्त का पौत्र तथा सागरदत्त
का पुत्र चारुदत्त है। इस दुष्ट ने तुच्छ धन के लिए वसंतसेना
को जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान में ले जाकर तथा गला दबाकर
उसकी हत्या की है। इसे चोरी के धन के साथ पकड़ा गया है
और इसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है। राजा पालक
ने हमें इसका वध करने की आज्ञा दी है। और भी कोई यदि
ऐसा कार्य करेगा, तो राजा पालक उसे यही दंड देंगे।

चारुदत्त : (निर्वेदपूर्वक स्वगत)

सौ-सौ यज्ञ करने के कारण
भरी हुई यज्ञशालाओं में
ब्रह्म घोष द्वारा
जिस वंश की कीर्ति का बखान किया जाता था,
आज मेरी मृत्यु से पूर्व
उसी वंश के नाम की घोषणा
इन अनधिकारी पापियों द्वारा की जा रही है।

(ऊपर की ओर देखकर तथा कानों पर हाथ रखकर)
वसंतसेने!

तुम भी क्या स्वर्ग से मेरी अपकीर्ति की दर्शिका हो?

दोनों चांडाल : हट जाइए सज्जनो, हट जाइए!

गुणों और रत्नों का आकर
और दुःख की नदी को लौघने में सज्जनो का सेतु।
आभूषणों से हीन होकर आज
नगरी से बाहर ले जाया जा रहा है।

और

सुखी व्यक्ति के लिए संसार में
सभी चिंतातुर हो उठते हैं।
विपत्ति में व्यक्ति का हितचिंतक
कोई विरला ही होता है।

चारुदत्त : (चारों ओर देखकर)

मित्र भी आज मुँह ढककर
मुझसे दूर हुए जा रहे हैं!
अनुकूल परिस्थिति में तो पराए भी अपने हो जाते
हैं,

परंतु प्रतिकूल परिस्थिति अपने भी पास नहीं रहते।

दोनों चांडाल : लोगों को हटा दिया है। राजपथ अब सुनसान है। बध्यचिह्नों के
साथ इसे अब आगे ले चलें।

चारुदत्त निःश्वास के साथ 'मित्र मैत्रेय'
आदि दोहराता है।

नेपथ्य में : हाय तात! हाय प्रिय मित्र!

चारुदत्त : (सुनकर करुण स्वर में) चांडाल-श्रेष्ठ, मेरी तुमसे एक ही याचना
है।

दोनों चांडाल : हम चांडालों के हाथ से दान लेना चाहते हैं?

चारुदत्त : ऐसा न कहो। दुष्ट और अविचारी पालक-जैसा चांडाल यहाँ
कोई नहीं है। मैं अपने परलोक के विचार से मृत्यु से पहले पुत्र
का मुख देखना चाहता हूँ।

दोनों चांडाल : इसमें कोई बाधा नहीं है।

नेपथ्य में : हाय तात! हाय पिता!

चारुदत्त सुनकर पुनः 'चांडाल श्रेष्ठ'
इत्यादि दोहराता है।

दोनों चांडाल : सुनिए पुरवासियो, क्षण-भर के लिए सामने से हट जाइए! आर्य
चारुदत्त को अपने पुत्र का मुख देख लेने दीजिए। (नेपथ्य की
ओर देखकर) आओ बेटे, आओ इधर। हाँ-हाँ, आ जाओ।

रोहसेन को लिये हुए विदूषक का प्रवेश।

विदूषक : जल्दी-जल्दी चल सलोने, तेरे पिता को वे लोग मारने के लिए
लिये जा रहे हैं।

रोहसेन : हाय तात! हाय पिता!

विदूषक : हाय प्रिय मित्र, तुम्हें मैं किस दशा में देख रहा हूँ!

चारुदत्त : (पुत्र और मैत्रेय को देखकर)

परलोक में चिरकाल तक

मैं प्यासा रह जाऊँगा।

पितृ-जल का यह तर्प

मेरे लिए पर्याप्त नहीं।

पुत्र को क्या दूँ? (अपने को देखने पर यज्ञोपवीत पर दृष्टि पड़ने से) कुछ तो है जो अपना है।

ब्राह्मण का यह आभूषण

सोने और मोतियों से नहीं बना,

परंतु पितरों और देवताओं का ऋण

इसी से चुकाया जा सकता है।

यज्ञोपवीत रोहसेन को दे देता है।

पहला चांडाल : चलो चारुदत्त, अब आगे चलो।

दूसरा चांडाल : अरे आर्य चारुदत्त का नाम तुम बिना उपाधि के ही ले रहे हो? देखो

अभ्युदय हो या अवसान,

रात हो या दिन,

नियति की जीत

किसी उच्छृंखल की तरह

सदा स्वच्छंद रहती है।

और

झूठा लांछन लगा होने पर भी

यह नाम

क्या प्रणत होकर मस्तक पर धारण करने योग्य नहीं?

राहु से ग्रस्त होकर भी चंद्रमा

क्या लोक के लिए वंदनीय नहीं होता?

रोहसेन : चांडालो, मेरे पिता को तुम कहाँ ले जा रहे हो?

चारुदत्त : वत्स!

गले में कनैल की माला,

कंधे पर सूली, और हृदय में शोक लिये,

यज्ञ के छाग की तरह,

प्रहार सहने के लिए
मैं बध्यभूमि की ओर जा रहा हूँ।

पहला चांडाल :

बेटे!
चांडाल कुल में उत्पन्न होकर भी
हम लोग चांडाल नहीं हैं।
चांडाल वे पापी हैं
जो सज्जनों को पीड़ा देते हैं।

रोहसेन : तो मेरे पिता को तुम लोग मारने क्यों जा रहे हो?

पहला चांडाल : चिरंजीव, यह अपराध राजा की आज्ञा का है, हम लोगों का नहीं।

रोहसेन : तुम लोग मुझे मार दो, उन्हें छोड़ दो।

पहला चांडाल : तुम ऐसी बात कह रहे हो चिरंजीव, तो तुम्हारी आयु बहुत लंबी होगी।

चारुदत्त : (आँख भर आने से पुत्र को गले लगाकर)

यह स्नेह-संपत्ति
धनिक और निर्धन दोनों के लिए समान है।
यह खस और चंदन नहीं,
फिर भी एक ऐसा लेप है
जो हृदय को शीतल करता है।

‘गले में कनैल की माला, कंधे पर सूली’

इत्यादि दोहराता है। फिर चारों ओर

देखकर स्वगत रूप से ‘मित्र भी आज

मुँह ढककर’ इत्यादि दोहराता है।

विदूषक : देखो भाइयो, तुम मेरे मित्र को छोड़ दो और मेरे प्राण ले लो।

चारुदत्त : ऐसा न कहो मित्र! (देखकर स्वगत) आज सब समझ में आ रहा है।

स्वगत रूप से ‘अनुकूल परिस्थिति में तो

पराए भी’ इत्यादि दोहराता है। फिर प्रकट रूप से

‘हर्म्य तल पर बैठी स्त्रियाँ’ इत्यादि दोहराता है।

पहला चांडाल : हट जाइए सज्जनो, हट जाइए

इस व्यक्ति को आप क्या देख रहे हैं?

अपयश के कारण

जीवन की आशा समाप्त हो जाने से

आज इसकी स्थिति
उस स्वर्णपात्र की-सी है
जो रस्सी छूट जाने से
कुएँ के अंदर गिर रहा हो।

चारुदत्त करुण स्वर में 'चंद्रकिरण के
समान' इत्यादि दोहराता है।

दूसरा चांडाल : आओ अब फिर घोषणा करें।

दोनों चांडाल पुनः घोषणा करते हैं।

चारुदत्त : विपत्ति ने मुझे जिस हीन दशा में ला दिया है,
इसका फल मृत्यु के रूप में मिले,
इसका मुझे दुःख नहीं।
परंतु मैंने उसकी हत्या की है, साथ में यह घोषणा
भी सुनूँ,
हृदय को केवल यही पीड़ा सालती है।

प्रासाद-स्थित बंदी स्थावरक का प्रवेश

स्थावरक : (घोषणा सुनकर व्याकुलतापूर्वक) क्या निर्दोष चारुदत्त की हत्या
की जा रही है? स्वामी ने मुझे यहाँ शृंखला में बाँधकर डाल रखा
है। तो जोर से चिल्लाता हूँ। सुनो सज्जनो, सुनो? गाड़ी बदल
जाने से वसंतसेना को जीर्ण पुष्पकरंडक उद्यान तक ले जाने
वाला मैं हूँ। वहाँ उसने मेरे स्वामी का अनुनय स्वीकार नहीं
किया, इसलिए उसी ने वसंतसेना को गला दबाकर मारा है।
आर्य चारुदत्त ने उसे नहीं मारा। अरे! दूर होने से मेरी बात
किसी के कानों तक नहीं पहुँच रही! तो क्या करूँ? यहाँ से नीचे
कूद जाऊँ? (सोचकर) ऐसा करने से आर्य चारुदत्त मरने से बच
जाएँगे। तो प्रासाद की अटारी के इस जीर्ण गवाक्ष से कूद जाता
हूँ। मैं मर जाऊँ तो कुछ नहीं परंतु कुलपुत्र पक्षियों के वासवृक्ष
आर्य चारुदत्त को नहीं मरना चाहिए। इस तरह मरकर मेरा
परलोक सँवर जाएगा। (कूदकर) अरे गिरकर मैं मरा नहीं, बल्कि
बेड़ी टूट गई। अब देखूँ कि चांडाल कहाँ घोषणा कर रहे हैं।
(देखकर और पास जाकर) सुनो चांडालो, मुझे मार्ग दो।

दोनों चांडाल : कौन मार्ग चाहता है?

स्थावरक 'सुनो सज्जनो' इत्यादि
दोहराता है।

चारुदत्त :

अरे!

ऐसे समय

जबकि कालपाश मुझे घेर है,

अनावृष्टि से सूखे धान के लिए द्रोण मेघ की तरह

यह कौन सहसा उठ आया है!

सुना आप लोगों ने?

मुझे मृत्यु का भय नहीं,

भय केवल अपयश का है।

यश के साथ मृत्यु हो, तो उसे

मैं पुत्र-जन्म का-सा उत्सव मानूँगा।

एवं

विष से बुझे बाण की तरह

उस मूर्ख नीचात्मा ने—

यद्यपि मुझे उससे कोई शत्रुता नहीं थी—

अपने कलंक से

मुझे कलंकित कर दिया है।

दोनों चांडाल : तुम सच कह रहे हो स्थावरक?

स्थावरक : हाँ, सच ही तो कह रहा हूँ। मैं यहाँ किसी को बता न सकूँ
इसीलिए मुझे उसने बेड़ी डालकर प्रासाद की अटारी में बंदी कर
रखा था।

शकार का प्रवेश।

शकार : (हर्ष के साथ)

तीते-खट्टे मांश

शाक-शूप-मछली

और गुड़-ओदन के शतूप के साथ

मैं अपने घर शे

शाली का भात खाकर आया हूँ!

(सुनकर) फूटे हुए काँशे का-शा चांडालों का शब्द शुनाई दे रहा
है। वध शमय के ढोल और नगाड़ों के ऊँचे श्वर शे अनुमान
होता है कि चारुदत्त को वध-स्थान की ओर ले जाया जा रहा
है। तो चलकर देखूँ। शत्रु का नाश देखकर हृदय को बहुत
शंतोष मिलता है। शुना है कि जो अपने शत्रु का वध देखता
है, उसे अगले जन्म में आँख का रोग नहीं होता। मृणाल की

नाल में घुसे हुए कीड़े की तरह मार्ग का अन्वेषण करते हुए मैंने दरिद्र चारुदत्त के लिए तो विनाश ही उपस्थित कर दिया। अब अपने प्राशद की अटारी पर चढ़कर अपना यह पराक्रम देखता हूँ। (ऊपर पहुँचकर देखता हुआ) अरे! इश दरिद्र चारुदत्त के वध-स्थान की ओर जाने के समय मार्ग में इतनी भीड़ है। अपने जैशा महान वर मनुष्य वध-स्थान की ओर ले जाया जाए, तो कितनी भीड़ हो! (ध्यान से देखकर) इशे नए बैल की तरह शजाकर दक्षिण दिशा की ओर ले जाया जा रहा है। अरे! मेरी अटारी के नीचे आकर जो घोषणा होनी थी, वह क्यों नहीं हुई? (आसपास देखकर) और चेट स्थावरक कहाँ गया? कहीं उसने यहाँ शे जाकर शारा भेद ही तो नहीं खोल दिया! पहले चलकर उशे खोजूँ।

अटारी से उतरकर उस ओर जाता है।

स्थावरक : (उसे आता देखकर) भट्टारकगण, यह आ रहा है वह!

दोनों चांडाल : हट जाइए, मार्ग छोड़ दीजिए,
द्वार बंद कर लीजिए और मौन हो रहिए!
तीखे सींगों वाला उद्धत और दुष्ट बैल
इसी ओर आ रहा है!

शकार : अरे मार्ग दो मुझे, मार्ग दो! (पास पहुँचकर) चेट स्थावरक, बेटे,
आ हम लोग घर चलें।

स्थावरक : क्यों दुष्ट, वसंतसेना को मारकर संतोष नहीं हुआ जो तुम याचकों के कल्पवृक्ष आर्य चारुदत्त के भी प्राण लेने पर तुले हो?

शकार : मैं, रत्नकुम्भ-शा वर मनुष्य, शत्री की हत्या करूँगा?

सब : चारुदत्त ने उसकी हत्या नहीं की। उसकी हत्या तुमने की है।

शकार : कौन कहता है?

सब : (स्थावरक की ओर संकेत करके) यह साधु पुरुष कहता है।

शकार : (भयपूर्वक, अपवारित) अरे यह तो अंधेर हो गया! क्या चेट स्थावरक को मैंने ठीक शे नहीं बाँधा था। मेरे उश अकार्य का यही एक शाक्षी है। (सोचता हुआ) तो ऐशे किया जाए। (प्रकट) यह झूठ है शज्जनो! इश चेट ने मेरा शोना चुराया था, इशलिए मैंने इशे पकड़कर पीटा, मारा और बाँध दिया था। वह शनुता निकालने के लिए यह जो कुछ कह रहा है, क्या उशे शव मान लिया जाएगा? (अलग से स्थावरक को स्वर्णाभूषण देने की

चेष्टा करता हुआ धीमे स्वर में) यह ले ले बेटा श्यावरक, और जेशे मैं कहता हूँ, वैशे कह दे।

स्थावरक : (आभूषण लेकर) देखिए भट्टारकगण! यह मुझे सोने का लोभ दिखा रहा है!

शकार : (आभूषण छिपाकर) शज्जनो, यही वह शोना है जिसके कारण मैंने इशे बाँधकर रखा था। (क्रोधपूर्वक) वास्तविक स्थिति यह है चांडालो, कि इशे मैंने अपने श्वर्ण-भंडार में नियुक्त कर रखा था। वहाँ इशे शोना चुराते देखा तो पकड़कर मारा और पीटा। यदि तुम लोग मेरी बात पर विश्वास नहीं करोगे, तो देखना तुम्हारे साथ क्या होता है!

दोनों चांडाल : (देखकर) ये ठीक ही तो कह रहे हैं। उत्तेजना में चेट क्या मिथ्या प्रलाप नहीं कर सकता?

स्थावरक : कैसा अंधेरे है! दासता सचमुच कितनी हीन स्थिति है कि कोई व्यक्ति पर विश्वास ही नहीं करता! (करुण स्वर में) आर्य चारुदत्त, मेरी सामर्थ्य बस इतनी ही थी।

पैरों पर गिर जाता है।

चारुदत्त : (करुण स्वर में)

विपत्ति में सज्जनो के सहायक,

और मेरे अकारण बंधु

उठो धर्मशील!

मुझे मुक्त करने के लिए तुमने क्या नहीं किया?

तुम्हारा प्रयत्न महान है;

परंतु देव ही आज मेरे प्रतिकूल है।

दोनों चांडाल : स्वामी, इस चेट को मार-मारकर यहाँ से निकाल दें।

शकार : निकल जा रे! (उसे धक्के से निकालकर) क्यों चांडाल बंधुओ, तुम लोग अब विलंब किशल्लिए कर रहे हो? जल्दी से इशका वध कर दो।

दोनों चांडाल : यदि जल्दी है, तो आप स्वयं ही वध कर दें

रोहसेन : चांडालो, मेरे पिता को छोड़ दो और मुझे मार दो।

शकार : मैं कहता हूँ कि इशके पुत्र को भी इशके साथ मार दो।

चारुदत्त : यह मूर्ख कुछ भी करा सकता है। बेटा, तू अपनी माँ के पास चला जा!

रोहसेन : मैं वहाँ जाकर क्या करूँगा?

चारुदत्त : माँ को साथ लेकर,
आज ही किसी आश्रम में चले जाना।
पिता के अपराध से
कहीं तुम्हारी भी यही गति न हो?

मित्र, तुम इसे साथ ले जाओ!

विदूषक : तुम समझते हो कि तुम्हारे बिना मैं जीता बच रहूँगा?

चारुदत्त : मित्र, तुम्हारा जीवन अपने अधिकार में है, तुम क्यों प्राण दोगे?

विदूषक : (स्वगत) प्राण देना यद्यपि उचित नहीं, फिर भी तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रह सकूँगा। बच्चे को आर्या के हाथों में सौंपकर मैं भी अपने प्राण दे दूँगा और तुम्हारे साथ ही चलूँगा। (प्रकट)
मित्र, मैं इसे अभी लेकर जा रहा हूँ।

शकार : चांडाल बंधुओ, मैं तुम लोगों से कह रहा हूँ कि इशके पुत्र को भी इशके साथ मार दो।

चारुदत्त भयभीत हो उठता है।

दोनों चांडाल : हमें राजा की ओर से ऐसी आज्ञा नहीं है कि चारुदत्त के पुत्र का भी उसके साथ वध किया जाए। जाओ बच्चे, तुम यहाँ से चले जाओ।

बच्चे को भेज देते हैं।

यह तीसरा घोषणा-स्थान है। फिर ढोल पीटें।

पुनः घोषणा करते हैं।

शकार : (स्वगत) क्या पुरवाशियों को मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ?
(प्रकट) अरे बटुक चारुदत्त, पुरवाशियों को विश्वास नहीं है इसलिए अपने मुँह से कह दे, तूने ही वशंतशेना की हत्या की है।

चारुदत्त मौन रहता है।

शकार : चांडाल गोह! चारुदत्त बोल नहीं रहा। जर्जर बाँश और श्रृंखला
से मार-मारकर इशे बुलवाओ।

पहला चांडाल : (मारने के लिए उद्यत होकर) बोल चारुदत्त!

चारुदत्त : (करुण स्वर में)

विपत्ति के समुद्र में आ गिरा हूँ,
इसका मुझे भय नहीं,
और न ही मन में इसका विषाद है।
केवल यह अपवाद,

कि मैंने उसकी हत्या की है,
आग की तरह मुझे जला रहा है।

शकार अपनी बात दोहराता है।

चारुदत्त : सुनो पुरवासियो!

‘मैं वह नृशंस हूँ...’ इत्यादि दोहराता है।

शकार : जान शे मार दिया है।

चारुदत्त : ठीक कहता है यह।

पहला चांडाल : (दूसरे से) सुन, आज वध करने की तेरी बारी है।

दूसरा चांडाल : नहीं, आज तेरी बारी है।

पहला चांडाल : अच्छा, गणना कर लेते हैं। (लिखकर गणना करते हुए) यदि मेरी बारी है; तो क्षण-भर ठहर जा।

दूसरा चांडाल : क्यों?

पहला चांडाल : मेरे पिता ने स्वर्ग को जाते हुए मुझसे कहा था कि बेटा वीरक, जब वध करने की तेरी बारी हो, तो मरनेवाले का वध सहसा कभी न करना।

दूसरा चांडाल : क्यों?

पहला चांडाल : क्योंकि कभी कोई सज्जन धन देकर मरने वाले को छुड़ा देता है, कभी राजा के पुत्र हो जाता है और उस वृद्धि-महोत्सव में मृत्युदंड के सब भागियों को मुक्त कर दिया जाता है। कभी राज-परिवर्तन हो जाता है जिससे मृत्युदंड के भागी स्वतः मुक्त हो जाते हैं।

शकार : राज-परिवर्तन का क्या अर्थ है?

पहला चांडाल : अरे, हम तो अपनी बारी का लेखा-जोखा कर रहे हैं।

शकार : तो शीघ्रता शे वध करो चारुदत्त का।

एक ओर खड़ा हो जाता है।

पहला चांडाल : आर्य चारुदत्त, अपराध राजा की आज्ञा का है, हम चांडाल अपराधी नहीं हैं। तुम्हें अब जिसका स्मरण करना हो, कर लो।

चारुदत्त : समर्थ व्यक्ति के लगाए हुए अभियोग से
या भाग्य के दोष से,
आज मैं दूषित हूँ।
फिर भी मेरे धर्म में यदि कुछ शक्ति है,
तो स्वयं वसंतसेना ही—
देवलोक में या जहाँ कहीं भी वह है—

मेरे कलंक का अपहार करे।

बताओ अब कहाँ चलना है?

पहला चांडाल : (आगे-आगे मार्ग दिखाता हुआ) वह सामने दक्षिण में श्मशान दिखाई दे रहा है। मृत्युदंड के समय अपराधी यदि उस ओर देखता रहे तो प्राण निकलने में अधिक समय नहीं लगता।

लंबे होकर शृगाल

सूली में लटकते हुए शरीर को

निचले भाग से अपनी ओर खींचते हैं;

और ऊपर का आधा भाग

सूली से टंगा

अट्टहास करता प्रतीत होता है।

चारुदत्त : (स्वगत) हाय, कैसी अपमृत्यु होगी मुझ अभागे की! (उद्विग्न होकर बैठता है।)

शकार : मैं अभी यहाँ से नहीं हटूँगा, चारुदत्त का वध होते देखकर ही जाऊँगा।

पहला चांडाल : तुम्हें डर लग रहा है, चारुदत्त?

चारुदत्त : (सहसा उठकर) मूर्ख!

‘मुझे मृत्यु का भय नहीं’ इत्यादि दोहराता है।

पहला चांडाल : आर्य चारुदत्त, इस आकाश के नीचे चाँद-सूर्य पर भी विपत्ति आ जाती है, मृत्यु से डरनेवाले मनुष्यों की तो बात ही क्या है! संसार में कोई ऊपर से नीचे गिरता है, कोई नीचे से ऊपर चढ़ता है।

पताका पट की तरह

शरीर का उत्थान-पतन होता है।

इसे हृदय में स्वीकार करके

अपने को आश्वस्त करो।

(दूसरे चांडाल के प्रति) चौथा घोषणा-स्थान आ गया।

अब फिर घोषणा करें।

पुनः घोषणा करते हैं।

चारुदत्त : वसंतसेने!

‘चंद्रकिरण के समान’ इत्यादि दोहराता है।

घबराई हुई वसंतसेना और

भिक्षु संवाहक का प्रवेश

- संवाहक :** निर्जन में विपत्तिग्रस्त वसंतसेना को स्वस्थ करके साथ लाने में भिक्षु-वेश ने बहुत सहायता की है। उपासिके, बताओ तुम्हें अब कहाँ पहुँचा दूँ?
- वसंतसेना :** मुझे आर्य चारुदत्त के घर तक पहुँचा दो। उनके दर्शन से मेरे हृदय में शक्ति का पारावार हिलोरें लेने लगेगा।
- संवाहक :** किस मार्ग से चला जाए? (सोचकर) राजमार्ग से ही चलना उचित होगा। आओ उपासिके, राजमार्ग इस ओर है। (सुनकर) राजमार्ग में यह कोलाहल कैसा हो रहा है?
- वसंतसेना :** (सामने देखकर) सामने इतने लोग इकट्ठे हैं। आर्य, पता करो क्या बात है? उज्जयिनी की दशा कुछ ऐसी ही हो रही है जैसे अतिशय भार से असंतुलित होकर धरती एक ओर से ऊपर उठ गई हो।
- पहला चांडाल :** यह अंतिम घोषणा-स्थान है। आओ, ढोल पीटें और घोषणा करें। (घोषणा करके) प्रस्तुत हो जाओ चारुदत्त! डरो नहीं, अब तुम्हारी मृत्यु में अधिक समय नहीं लगेगा।
- चारुदत्त :** देवता कल्याण करें।
- भिक्षु :** (सुनकर घबराए हुए स्वर में) उपासिके, आर्य चारुदत्त पर यह आरोप लगाकर, कि उन्होंने तुम्हारी हत्या की है, उन्हें वध-स्थान की ओर ले जाया जा रहा है।
- वसंतसेना :** (घबराकर) हाय! मुझ अभागिन के कारण उनके प्राण लिये जा रहे हैं! शीघ्र बताओ हमें किस मार्ग से चलना है?
- भिक्षु :** हम लोग शीघ्र चलें, तो उपासिका आर्य चारुदत्त के प्राण रहते ही वहाँ पहुँचकर उन्हें आश्वस्त कर सकती हैं। मार्ग दीजिए सज्जनो, मार्ग दीजिए!
- वसंतसेना :** मार्ग दीजिए, मार्ग!
- पहला चांडाल :** आर्य चारुदत्त, स्वामी की आज्ञा से ही हम यह अपराध कर रहे हैं। तुम्हें जिसका स्मरण करना हो, कर लो।
- चारुदत्त :** और किसका स्मरण करूँ?
- ‘समर्थ व्यक्ति के लगाए हुए अभियोग से’ इत्यादि दोहराता है।**
- पहला चांडाल :** (तलवार खींचकर) आर्य चारुदत्त, अब पीठ के बल सीधे लेट जाओ। एक ही प्रहार में हम तुम्हें उस लोक में पहुँचा देंगे।

चारुदत्त आदेश के अनुसार लेट जाता है।
चांडाल प्रहार करने के लिए
तलवार उठाता है, परंतु वह
हाथ से गिर जाती है।

चांडाल : अरे, यह क्या हुआ?

हाथ से मूठ को पकड़कर
क्रोध से मैंने इसे ऊपर उठाया।
परंतु वज्र-सी कठोर तलवार
सहसा धरती पर जा गिरी।

इससे तो मुझे लगता है कि आर्य चारुदत्त वध से बच जाएँगे।
सद्माद्रिनिवासिनी देवि! कृपा करो। यदि आर्य चारुदत्त आज बच
जाएँ, तो चांडाल-कुल तुम्हारा बहुत अनुगृहीत होगा।

दूसरा चांडाल : देखो, हमें आदेश के अनुसार कार्य करना चाहिए।

पहला चांडाल : ठीक है! आओ!

दोनों चारुदत्त को सूली पर लटकाने का
आयोजन करने लगते हैं। चारुदत्त
'समर्थ व्यक्ति के लगाए हुए अभियोग से'
इत्यादि फिर दोहराता है।

संवाहक तथा

वसंतसेना : (आते हुए यह सब देखकर) रुक जाओ भद्रपुरुषो! इन्हें मारो
नहीं। जिस अभागिन के कारण इनके प्राण लिये जा रहे हैं, वह
यहाँ उपस्थित है।

पहला चांडाल : (देखकर)

कंधे पर बिखरे हुए बाल
और ऊँचे उठे हाथ!
कौन है यह
जो हमें वध-कार्य से रोकती हुई
इस ओर आ रही है?

वसंतसेना : (चारुदत्त के प्रति) आपकी यह कैसी दशा है आर्य?

उसके सामने मूर्छित हो जाती है।

संवाहक : आपकी यह कैसी दशा है, आर्य?

उसके पैरों पर गिरता है।

पहला चांडाल : (भयभीत-सा पास आकर) वसंतसेना जीवित है! कितना बड़ा

सौभाग्य है कि हमारे हाथों एक निरपराध की हत्या नहीं हुई!

संवाहक : (उठकर) तो आर्य चारुदत्त जीवित हैं?

पहला चांडाल : वे अभी सौ वर्ष तक जीवित रहेंगे।

वसंतसेना : (मूर्च्छा से उठकर) इन शब्दों ने मुझे एक नया जीवन दे दिया है।

पहला चांडाल : राजा इस समय यज्ञशाला में हैं। उन्हें चलकर यह समाचार दें।

दोनों चांडाल चले जाते हैं।

शकार : (वसंतसेना को देखकर भयभीत स्वर में) आश्चर्य है! इश दाशी की पुत्री को जीवित किशने कर दिया? अब तो अपने प्राण गए! तो यहाँ शे भाग चलो।

भाग जाता है।

पहला चांडाल : (आते हुए) राजा की आज्ञा है कि जिसने वसंतसेना की हत्या की है, उसका वध किया जाए। अब हमें राजा के साले को खोजना चाहिए।

निकल जाते हैं।

चारुदत्त : (आश्चर्यपूर्वक)

जिस समय शस्त्र ऊपर उठा

और मृत्यु ने मेरे लिए अपना मुँह खोल दिया,

उसी समय

अनावृष्टि से मुरझाए धान के लिए द्रोणवृष्टि की तरह

यह कौन है जो सहसा चली आई है!

देखकर :

मेरे मन की भ्रांति है यह,

या दूसरी वसंतसेना है?

वह स्वयं देवलोक से उठ आई है

या उसकी मृत्यु नहीं हुई—वह अभी जीवित है?

अथवा

मेरी प्राणरक्षा के लिए

वह स्वर्ग से उठकर चली आई है?

या उसका रूप लेकर

कोई और ही यहाँ आ पहुँची है?

वसंतसेना उठकर आँसू बहाती हुई
चारुदत्त के पैरों पर
गिर जाती है।

वसंतसेना : मैं वही पापिन हूँ, आर्य चारुदत्त, जिसके कारण आपकी यह
दुर्दशा हुई है।

नेपथ्य में समवेत स्वर :
आश्चर्य! बहुत-बहुत आश्चर्य का विषय है। वसंतसेना अभी
जीवित है!

यह सुनकर चारुदत्त सहसा उठ खड़ा
होता है और आँखें मूँदे हुए
स्पर्श-सुख का अनुभव करता हुआ
गद्गद हो उठता है।

चारुदत्त : वसंतसेने, यह तुम...तुम्हीं हो न?
वसंतसेना : हाँ आर्य, मैं अभागिन ही आपके पास बैठी हूँ।
चारुदत्त : (उसे देखकर उत्फुल्लित स्वर में) अरे, सचमुच तुम तो वसंतसेना
ही हो!

आह्लादपूर्वक

आँसुओं के जल से
अपने मुख को धोती हुई
मेरी मृत्यु के समय
संजीवनी-सी तुम आ पहुँची हो!

वसंतसेने!

तुम्हारे ही कारण यह शरीर
आज मृत्यु के मुँह में जा रहा था
और तुम्हीं ने आकर इसकी रक्षा की है।
वैसी ही माला है
और वैसा ही लाल चीवर है।
वध्यपटह की ध्वनियाँ
मंगल-ध्वनियों-सी हो गई हैं।

वसंतसेना : अपनी अतिशय उदारता से आपने यह कर क्या लिया है?

चारुदत्त : मैंने तुम्हारी हत्या की है, यह कहकर
प्रभावशाली शत्रु ने
पहले का वैर निकालने के लिए

स्वयं नरक में जाते हुए
मुझे भी साथ खींच लिया है।

वसंतसेना : (कानों पर हाथ रखकर) पाप शांत हो! मेरी हत्या करनेवाला है
राजश्यालक!

चारुदत्त : (संवाहक की ओर देखकर) यह कौन है?

वसंतसेना : राजश्यालक हत्या करनेवाला है और ये हैं मुझे जीवनदान देनेवाले!

चारुदत्त : तुम कौन हो, अकारण बंधु?

संवाहक : आर्य ने मुझे पहचाना नहीं? मैं हूँ आपके चरण-संवाह की चिंता
रखनेवाला संवाहक। जुआरियों द्वारा पकड़े जाने पर आपका
आत्मीय होने के नाते आर्या ने अपने आभरण के द्रव्य से मुझे
अपना दास बना लिया था। तदनंतर जुए से विरक्त होकर मैं
बौद्ध-भिक्षु हो गया। गाड़ी बदल जाने से आर्या जीर्ण पुष्पकरंडक
उद्यान में पहुँच गई थीं। वहाँ इन्होंने उस नीच को धिक्कार
दिया, इसलिए उसने गला दबाकर इनकी हत्या कर दी। मैंने इन्हें
वहीं पड़े हुए देखा।

नेपथ्य में कोलाहल।

विजयी हों

दक्ष यक्ष के विंघातक महादेव!

तथा

क्रौंच पर्वत के विदारक कार्तिकेय!

तदनंतर

शुभ्र कैलाश की ध्वजा से मंडित

इस विशाल धरती पर

महान शत्रु के विनाशक

राजा आर्यक विजयी हों।

सहसा शर्विलक का प्रवेश।

शर्विलक : दुष्ट राजा पालक की हत्या कर

सिंहासन पर मैंने आर्यक का अभिषेक कर दिया है।

अब इनकी आज्ञा

निर्मात्य की तरह शिरोधार्य कर,

चारुदत्त को

मैं उनकी विपत्ति से मुक्त करने जा रहा हूँ।

एवं

बलहीन तथा मंत्रिहीन
 राजा पालक की हत्या कर
 आर्यक ने
 इंद्रपुर की तरह
 शत्रु के राज्य को जीत लिया है;
 सारी वसुधा का
 अधिराज्य प्राप्त कर,
 अपने उत्कर्ष से
 पुरवासियों को आश्वस्त कर दिया है।

(सामने देखकर) यहाँ बहुत भीड़ है, इसलिए आर्य चारुदत्त को
 यहीं होना चाहिए। राजा आर्य का राज्यारंभ आर्य चारुदत्त की
 जीवन-रक्षा से सफलता प्राप्त करेगा। (शीघ्रतापूर्वक पास पहुँचकर)
 हट जाओ हत्यारो! (देखकर हर्षपूर्वक) अरे! वसंतसेना और आर्य
 चारुदत्त दोनों जीवित हैं! तब तो स्वामी की मनोकामना स्वतः
 पूरी हो गई।

भाग्य है
 कि गुण और शीलवती इस नारी ने
 नाव बनकर
 दुःख के अपार महासागर से
 आपको पार कर दिया है!

मैं उनके घर में एक बहुत बड़ा पाप कर चुका हूँ, अब उनके
 सामने कैसे जाऊँ? परंतु नहीं, निश्छलता का सदा सम्मान होता
 है (सामने आकर हाथ जोड़े हुए) आर्य चारुदत्त!

चारुदत्त : कौन हो तुम?

शर्विलक : आपका घर तोड़कर
 जिसने धरोहर का धन चुरा लिया था,
 मैं वही महापापी
 इस समय आपकी शरण में हूँ।

चारुदत्त : ऐसा न कहो मित्र! तुमने तो मेरे साथ उपकार ही किया था।
 उसे गले से लगाता है।

शर्विलक : इसके अतिरिक्त
 आर्यचरित आर्यक ने
 कुल और मर्यादा की रक्षा करते हुए

शिशु की तरह पकड़कर
यज्ञशाला में
दुरात्मा पालक की हत्या कर दी है।

चारुदत्त : सच?

शर्विलक : कुछ दिन पहले
आपकी गाड़ी में बैठकर
जिसने आपकी शरण ली थी,
उसी आर्यक ने
विशाल यज्ञ में पशु की तरह
राजा पालक की हत्या कर दी है!

चारुदत्त : शर्विलक, अहीरों की बस्ती में जाकर, जिन्हें राजा पालक ने
अकारण ही अंधकारागार में बंद कर दिया था, उन आर्यक को
तुम्हीं ने मुक्त किया था?

शर्विलक : हाँ, आर्य!

चारुदत्त : कितना अच्छा कार्य किया तुमने!

शर्विलक : आपके मित्र आर्यक ने उज्जयिनी का राज्य प्राप्त करते ही वेणी
नदी के तट पर कुशावती का राज्य आपको सौंप दिया है। आप
अपने मित्र का यह पहला अनुग्रह स्वीकार करें। (धूमकर) उस
पातकी राजा के मित्र को यहाँ ले आओ।

नेपथ्य में : जैसी शर्विलक की आज्ञा।

शर्विलक : आर्य, राजा आर्यक ने निवेदन किया है कि वह राज्य उन्होंने
आपके गुणों से ही प्राप्त किया है, अतः आप उसका उपभोग
करें।

चारुदत्त : हमारे गुणों से?

नेपथ्य में : इधर आ राजा के साले, अब तू अपनी नीचता का फल प्राप्त
कर!

राजपुरुष शकार को पकड़े हुए आते हैं।
उसके हाथ पीछे को बंधे हैं।

शकार : मार लिया गया!

निकल भागा था

परंतु

उच्छृंखल गधे और कुत्ते की तरह

बाँधकर वापश ले आया गया हूँ।

(इधर-उधर देखकर) चारों ओर लोग राजा के शाले को पकड़ने के लिए उत्सुक हैं। इश अशहाय श्रियति में किशकी शरण में जाऊँ? (सोचकर) विपत्तिग्रस्तों को शरण देनेवाले आर्य चारुदत्त की ही शरण में जाना चाहिए। (पास जाकर) रक्षा करें आर्य चारुदत्त! रक्षा करें!

पैरों पर गिर जाता है।

नेपथ्य में : इसे रहने दीजिए आर्य चारुदत्त! हम इसकी हत्या करेंगे।

शकार : (चारुदत्त से) अशहायों के शहायक, रक्षा करो!

चारुदत्त : (दयार्द्र होकर) शरणागत अभय हो!

शर्विलक : (आवेगपूर्वक) इसे आर्य चारुदत्त के पास से हटा लिया जाए।

(चारुदत्त से) बताइए, इस नीच की क्या गति की जाए?

हाथ-पैर बाँधकर

इसे पृथ्वी पर घसीटा जाए

या कुत्तों को खिला दिया जाए?

सूली पर लटकाया जाए

या आरे से चिरवा दिया जाए?

चारुदत्त : जो मैं कहूँगा, वही किया जाएगा?

शर्विलक : हाँ वही किया जाएगा?

शकार : मैं शरणागत हूँ, स्वामी चारुदत्त मेरी रक्षा करें! देखिए आप अपने स्वभाव के अनुशार ही कार्य कीजिए। मैं फिर ऐसा कभी नहीं करूँगा।

नेपथ्य में पुरवासियों का स्वर :

वसंतसेना : मार दो इसे! यह पातकी अभी तक जीवित क्यों है?

वसंतसेना चारुदत्त के गले से

वध्यमाला उतारकर शकार के

गले में डाल देती है।

शकार : क्षमा कर दे वशंतशेने! कह रहा हूँ कि फिर शे तेरी हत्या नहीं करूँगा। इश शमय मेरी रक्षा कर ले!

शर्विलक : हटा दो इसे यहाँ से! आर्य चारुदत्त, आज्ञा कीजिए, इसके साथ क्या व्यवहार किया जाए?

चारुदत्त : जो मैं कहूँगा, वही किया जाएगा न?

शर्विलक : हाँ-हाँ, वही किया जाएगा।

चारुदत्त : सच कहते हो?

शर्विलक : हाँ, सच ही तो है।

चारुदत्त : यदि ऐसा है, तो तुरंत...इसे...

शर्विलक : मार दिया जाए?

चारुदत्त : नहीं, मुक्त कर दिया जाए।

शर्विलक : क्या?

चारुदत्त : अपराधी शत्रु-शरण में आकर पैरों पर गिर जाए, तो उस पर शस्त्र नहीं उठाना चाहिए।

शर्विलक : तो ठीक है। इसे कुत्तों से नुचवा देते हैं।

चारुदत्त : नहीं, इसे उपकार की मार से मारना चाहिए।

शर्विलक : आश्चर्य है कि आप ऐसा सोचते हैं। आप आज्ञा करें।

चारुदत्त : इसे मुक्त कर दिया जाए।

शर्विलक : तो ठीक है, मुक्त कर देते हैं।

शकार : अहा! मुझे दूसरा जीवन मिल गया!

राजपुरुषों के साथ प्रस्थान।

नेपथ्य में कोलाहल।

आर्य चारुदत्त की पत्नी आर्या धूता पग-पग पर आँचल से चिपटते हुए अपने बच्चों को दूर हटाकर जलती आग में प्रवेश कर रही हैं और सब लोग अश्रुपूर्ण नेत्रों से यह दृश्य देख रहे हैं।

शर्विलक : (नेपथ्य की ओर देखकर) तुम हो चंदनक! यह क्या हो रहा है चंदनक?

चंदनक का प्रवेश।

चंदनक : आर्य, आप देख नहीं रहे हैं? राजप्रासाद के दक्षिण की ओर बहुत भीड़ एकत्रित है। ('आर्य चारुदत्त की पत्नी' इत्यादि दोहराकर) मैंने उनसे कहा है कि आप ऐसा दुःसाहस न करें, आर्य चारुदत्त जीवित हैं, परंतु दुःख में डूबा हुआ व्यक्ति क्या किसी की सुनता है? या किसी पर विश्वास करता है?

चारुदत्त : (उद्वेगपूर्वक) धूते, मेरे जीवित रहते यह तुमने क्या किया?

ऊपर की ओर देखकर तथा
निःश्वास लेकर।

सदाचारिणी,

तुम्हारे चरित्र को देखते हुए

पृथ्वी तुम्हारे आवास के लिए अनुकूल स्थान नहीं।

परंतु अपने पति को अकेले छोड़कर
परलोक का सुख प्राप्त करना
पतिव्रता का धर्म नहीं।

मूर्च्छित हो जाता है।

शर्विलक : कैसी व्याकुल करनेवाली स्थिति है!
वहाँ तुरंत जाना आवश्यक है
और यहाँ आर्य मूर्च्छित हैं!
लगता है हमारे प्रयत्न
आज निष्फल ही जाएँगे।

वसंतसेना : आर्य, आप धैर्य रखें और वहाँ जाकर आर्या की प्राण-रक्षा करें।
आपके अधीर होने से अनर्थ हो जाएगा।

चारुदत्त : (आश्वस्त भाव से सहसा उठकर) कहाँ हो प्रिये? मुझे उत्तर दो!

चंदनक : इधर से आएँ आर्य!

सब घूमते हैं। पूर्वोक्त स्थिति में धृता का प्रवेश।

रोहसेन उसका आँचल खींच रहा है।

विदूषक और रदनिका साथ हैं।

धृता : छोड़ दे बच्चे, तू अब इस तरह विघ्न न डाल! मैं अपने कानों
से आर्यपुत्र के अमंगल की बात नहीं सुनना चाहती।

आँचल छुड़ाकर आग की ओर बढ़ती है।

रोहसेन : मेरे लिए रुक जाओ माँ! मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रहूँगा।

शीघ्रता से फिर उसका आँचल

पकड़ लेता है।

विदूषक : ऋषियों का कहना है कि यदि ब्राह्मण-कुल की नारी पति से
अलग चित्ता में प्रवेश करे, तो वह पाप है।

धृता : आर्यपुत्र का अनिष्ट सुनने से पाप की भागी होना मेरे लिए
अधिक श्रेयस्कर है।

शर्विलक : (सामने देखकर) आर्या आग के पास पहुँच गई हैं। शीघ्र चलिए।

चारुदत्त शीघ्रता से चलता है।

धृता : रदनिके, बच्चे को सँभाल ले, मैं अब अग्नि में प्रवेश कर रही हूँ।

रदनिका : (करुण स्वर में) यही बात मैं आपसे कहना चाहती हूँ।

धृता : (विदूषक से) आर्य, आप इसे सँभाल लें।

विदूषक : (आवेगपूर्वक) कार्य-सिद्धि के लिए ब्राह्मण को आगे करना
चाहिए। आपसे पहले मैं अग्नि में प्रवेश करूँगा।

शर्विलक : हाँ, सच ही तो है।

चारुदत्त : यदि ऐसा है, तो तुरंत...इसे...

शर्विलक : मार दिया जाए?

चारुदत्त : नहीं, मुक्त कर दिया जाए।

शर्विलक : क्या?

चारुदत्त : अपराधी शत्रु-शरण में आकर पैरों पर गिर जाए, तो उस पर शस्त्र नहीं उठाना चाहिए।

शर्विलक : तो ठीक है। इसे कुत्तों से नुचवा देते हैं।

चारुदत्त : नहीं, इसे उपकार की मार से मारना चाहिए।

शर्विलक : आश्चर्य है कि आप ऐसा सोचते हैं। आप आज्ञा करें।

चारुदत्त : इसे मुक्त कर दिया जाए।

शर्विलक : तो ठीक है, मुक्त कर देते हैं।

शकार : अहा! मुझे दूसरा जीवन मिल गया!

राजपुरुषों के साथ प्रस्थान।

नेपथ्य में कोलाहल।

आर्य चारुदत्त की पत्नी आर्या धूता पग-पग पर आँचल से चिपटते हुए अपने बच्चों को दूर हटाकर जलती आग में प्रवेश कर रही हैं और सब लोग अश्रुपूर्ण नेत्रों से यह दृश्य देख रहे हैं।

शर्विलक : (नेपथ्य की ओर देखकर) तुम हो चंदनक! यह क्या हो रहा है चंदनक?

चंदनक का प्रवेश।

चंदनक : आर्य, आप देख नहीं रहे हैं? राजप्रासाद के दक्षिण की ओर बहुत भीड़ एकत्रित है। ('आर्य चारुदत्त की पत्नी' इत्यादि दोहराकर) मैंने उनसे कहा है कि आप ऐसा दुःसाहस न करें, आर्य चारुदत्त जीवित हैं, परंतु दुःख में डूबा हुआ व्यक्ति क्या किसी की सुनता है? या किसी पर विश्वास करता है?

चारुदत्त : (उद्देगपूर्वक) धूते, मेरे जीवित रहते यह तुमने क्या किया?

ऊपर की ओर देखकर तथा

निःश्वास लेकर।

सदाचारिणी,

तुम्हारे चरित्र को देखते हुए

पृथ्वी तुम्हारे आवास के लिए अनुकूल स्थान नहीं।

परंतु अपने पति को अकेले छोड़कर
परलोक का सुख प्राप्त करना
पतिव्रता का धर्म नहीं।

मूर्च्छित हो जाता है।

शर्विलक : कैसी व्याकुल करनेवाली स्थिति है!

वहाँ तुरंत जाना आवश्यक है

और यहाँ आर्य मूर्च्छित हैं!

लगता है हमारे प्रयत्न

आज निष्फल ही जाएँगे।

वसंतसेना : आर्य, आप धैर्य रखें और वहाँ जाकर आर्या की प्राण-रक्षा करें।
आपके अधीर होने से अनर्थ हो जाएगा।

चारुदत्त : (आश्वस्त भाव से सहसा उठकर) कहाँ हो प्रिये? मुझे उत्तर दो!

चंदनक : इधर से आएँ आर्य!

सब घूमते हैं। पूर्वोक्त स्थिति में धूता का प्रवेश।

रोहसेन उसका आँचल खींच रहा है।

विदूषक और रदनिका साथ हैं।

धूता : छोड़ दे बच्चे, तू अब इस तरह विघ्न न डाल! मैं अपने कानों
से आर्यपुत्र के अमंगल की बात नहीं सुनना चाहती।

आँचल छुड़ाकर आग की ओर बढ़ती है।

रोहसेन : मेरे लिए रुक जाओ माँ! मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रहूँगा।

शीघ्रता से फिर उसका आँचल

पकड़ लेता है।

विदूषक : ऋषियों का कहना है कि यदि ब्राह्मण-कुल की नारी पति से
अलग चिता में प्रवेश करे, तो वह पाप है।

धूता : आर्यपुत्र का अनिष्ट सुनने से पाप की भागी होना मेरे लिए
अधिक श्रेयस्कर है।

शर्विलक : (सामने देखकर) आर्या आग के पास पहुँच गई हैं। शीघ्र चलिए।

चारुदत्त शीघ्रता से चलता है।

धूता : रदनिके, बच्चे को सँभाल ले, मैं अब अग्नि में प्रवेश कर रही हूँ।

रदनिका : (करुण स्वर में) यही बात मैं आपसे कहना चाहती हूँ।

धूता : (विदूषक से) आर्य, आप इसे सँभाल लें।

विदूषक : (आवेगपूर्वक) कार्य-सिद्धि के लिए ब्राह्मण को आगे करना
चाहिए। आपसे पहले मैं अग्नि में प्रवेश करूँगा।

धूता : दोनों ने ही मना कर दिया! (बच्चे को आलिंगन में लेकर) बेटा, हमें तिलोदक देनेवाला तू ही है, तू स्वयं ही अपने को सँभाल ले। तू न रहेगा, तो हमारे सब मनोरथ नष्ट हो जाएँगे। (निःश्वास लेकर) तेरा पालन करने के लिए आर्यपुत्र भी तो न रहेंगे!

चारुदत्त : (उसकी बात सुनकर तथा सहसा पास आकर) बच्चे के पालन के लिए मैं अवश्य रहूँगा।

बच्चे को बाँहों से उठाकर वक्ष से लगा लेता है।

धूता : (देखकर) स्वर तो आर्यपुत्र का है! (फिर अच्छी तरह देखकर हर्षपूर्वक) सौभाग्य से आर्यपुत्र ही तो हैं।

रोहसेन : कितनी प्रसन्नता का विषय है! पिता मुझे वक्ष से लगा रहे हैं। (धूता से) प्रसन्न हो माँ! जीवित रहकर पिता स्वयं ही मेरा पालन करेंगे।

चारुदत्त : (धूता से)

प्रिय के जीते-जी,
तुमने यह कठोर प्रयास क्यों किया था?
सूर्यास्त से पहले ही
कमलिनी आँखें क्यों मूँद रही थी?

धूता : आर्यपुत्र, इसीलिए तो उसे अबोध कहकर मानित किया जाता है।

विदूषक : (देखकर हर्षपूर्वक) अरे! अपनी इन आँखों से प्रिय मित्र को आज फिर से देख रहा हूँ। सतीत्य का कैसा प्रभाव है! अग्नि-प्रवेश के आयोजन से ही इन्हें प्रिय का समागम प्राप्त हो गया। (चारुदत्त से) जय हो मित्र!

चारुदत्त : आओ मैत्रेय!

आलिंगन करता है।

रदनिका : कैसा संयोग है! आर्य, प्रणाम करती हूँ

चारुदत्त के चरणों पर गिरती है।

चारुदत्त : (पीठ पर हाथ रखकर) उठ जाओ रदनिके!

उसे उठा देता है।

धूता : (वसंतसेना को देखकर) भाग्य से आप सकुशल तो हैं?

वसंतसेना : अब इस समय सकुशल हूँ।

दोनों परस्पर आलिंगन करती हैं।

शर्विलक : सौभाग्य है कि आर्य अपने मित्रों सहित जीवित हैं।

चारुदत्त : यह आपकी ही कृपा के कारण है।

शर्विलक : वसंतसेने, राजा आर्यक ने प्रसन्न होकर आपको 'वधू' के पद से विभूषित किया है।

वसंतसेना : मैं अपने को कृतार्थ समझती हूँ, आर्य!

शर्विलक आगे बढ़कर वसंतसेना का मुँह
घूँघट से ढक देता है।

शर्विलक : (चारुदत्त से) इस भिक्षु के लिए क्या निर्देश है?

चारुदत्त : भिक्षु, तुम्हारी क्या कामना है?

संवाहक : जीवन की इस अनित्यता को देखकर संन्यास में मेरी रुचि पहले से दुगुनी हो गई है।

चारुदत्त : मित्र, इसका संकल्प दृढ़ है, अतः इसे धरती के सब विहारों का कुलपति बना दिया जाए।

शर्विलक : जैसी आपकी इच्छा!

भिक्षु : मैं बहुत-बहुत प्रसन्न हूँ।

वसंतसेना : मुझे अब नए प्राण मिले हैं।

शर्विलक : और स्थावरक के लिए क्या निर्देश है?

चारुदत्त : इसे दासता से मुक्त कर दिया जाए। इन चांडालों को चांडालों का प्रमुख बना दिया जाए। चंदनक को राज्य का प्रधान सेनापति नियुक्त कर दिया जाए। राजा का साला संस्थानक जो काम पहले करता था, वही उसे अब भी करने दिया जाए।

शर्विलक : आपके सब आदेशों का पालन होगा, परंतु उस एक व्यक्ति को आप मेरे ऊपर छोड़ दें। इसका तो मैं वध ही कर देना चाहूँगा।

चारुदत्त 'शरणागत अभय हो' तथा

'अपराधी शत्रु की शरण में आकर'

इत्यादि दोहराता है।

अच्छा बताइए, आपकी और क्या इच्छा पूरी करूँ?

चारुदत्त : इसके बाद और मेरी क्या इच्छा होगी?

चरित्र से कलंक धुल गया

और चरणों पर गिरे हुए शत्रु को बंधन-मुक्त कर दिया गया।

मित्र आर्यक ने शत्रुओं का नाश करके

धरती का शासन प्राप्त कर लिया।

प्रिया मुझसे आ मिली
 और मेरे मित्र को आप-जैसा सहयोगी मिल गया
 अब और क्या शेष है
 जिसकी मैं आपसे कामना कर सकूँ?
 कूपयंत्र घटिका के-से आयोजन से
 दैव
 मनुष्यों के भाग्य से खेलता है।
 किसी को रिक्त और किसी को पूर्ण करता हुआ
 वह
 एक को उन्नति
 दूसरे को अवनति
 और तीसरे को बीच की व्याकुल दशा की ओर ले
 जाता है।
 इस तरह
 विपरीत पक्षों में संतुलन लाकर
 वह जीवन की वास्तविकता को प्रकट करता है।
 फिर भी यह भरतवाक्य पूर्ण हो :
 गौएँ बहुत-बहुत दूध दें
 और धरती शस्य से श्यामला रहे!
 समय पर वर्षा हो
 और लोक के लिए आनंददायक
 धीर समीर बहा करे!
 सब प्राणी प्रसन्न रहें
 और आदर के पात्र ब्राह्मण
 सदाचार का पालन करें।
 राजा शत्रुहीन हों
 और अपनी श्री तथा धर्मनिष्ठा से
 धरती की रक्षा करें!

सबका प्रस्थान।

संहार नामक दसवाँ अंक।

शाकुन्तल



भूमिका

संस्कृत का जो पहला नाटक मैंने पढ़ा, वह था भास का 'प्रतिमा नाटक'। तब मैं मुश्किल से ग्यारह-साढ़े ग्यारह साल का था। मुझे याद है जब मुझे नाटक के पहले श्लोक का अर्थ बताया गया, तो मैं आश्चर्य से अपने सामने के एक-एक शब्द को देखता रहा था। श्लोक था :

सीताभवः पातु सुमंत्रतुष्टः सुग्रीव रामः सहलक्ष्मणश्च।

यो रावणार्यप्रतिमश्च देव्या विभीषणात्मा भरतोऽनुसर्गम् ॥

मंगलाचरण में ही नाटक तथा नाटक के सभी पात्रों के नाम दे दिए गए थे, हालाँकि शब्दों का अर्थ कुछ और ही था। इससे आगे पढ़ने पर उन दिनों मुझे बहुत निराशा होती रही क्योंकि नाटक के शेष श्लोकों में इस तरह का कोई चमत्कार नहीं था। सीधी-सीधी बातें थीं : 'मम मातुश्च मातुश्च मध्यस्था त्वं न शोभसे। गंगायमुनयोर्मध्ये कुनदीव प्रवेशिता।' मुझे लगता जैसे मंगलाचरण लिखने के बाद ही भास की कवित्व-शक्ति चुक गई हो, क्योंकि उससे आगे वैसा एक भी तो श्लोक उनसे नहीं लिखा जा सका! एक नाटक के रूप में उस नाटक को मैंने बहुत बाद में पढ़ा। तब तक अध्ययन की दृष्टि से ही नहीं, रंगमंच की दृष्टि से भी भास से मेरा परिचय हो चुका था—'स्वप्नवासवदत्त' के माध्यम से। विभाजन से पहले लाहौर में हमने पंजाब विश्वविद्यालय संस्कृत परिषद् की ओर से संस्कृत के तीन नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किए थे। 'स्वप्नवासवदत्त' में अभिनय करने तथा शेष दो नाटकों का निर्देशन करने में जो अनुभव प्राप्त हुए, उनका यहाँ उल्लेख करना अप्रासंगिक होगा। हाँ, संस्कृत के तीन-चार नाटकों का हिंदी में अनुवाद करने की बात सबसे पहले उन्हीं दिनों मन में आई थी। उनमें से पहले मैंने 'प्रतिमा नाटक' को ही उठाया था, पर उसके मंगलाचरण से ही हारकर वह प्रयत्न वहीं छोड़ दिया। बचपन में जिन पकितियों के लिए

भास को सबसे अधिक श्रेय दिया करता था, वही अब ऐसी उलझानेवाली लगी कि अनुवाद करने का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया।

यह समस्या भास के साथ ही नहीं, और नाटककारों के साथ भी थी : बल्कि औरों के साथ भास से कहीं अधिक थी। संस्कृत का समास-प्रधान रूप उस भाषा की अभिव्यंजना को बढ़ाने में जितना सहायक है, शायद उतना ही उसके सहज संप्रेषण में बाधक भी है। उस भाषा की आंतरिक प्रकृति आज की भाषा से इतनी अलग है कि आज की किसी भी भाषा में उसका अनुवाद-विशेष रूप से एक नाटक का नाटकीय भाषा में अनुवाद-कई-कई स्तरों पर एक चुनौती बन जाता है। ऐसे में अनुवादक या तो मूल से काफी स्वतंत्रता लेने लगता है, या फिर मूल की संश्लिष्ट अभिव्यक्तियों को बिलकुल ही बचा जाता है। पर इन दोनों तरह के प्रयत्नों को एक सीमित अर्थ में ही अनुवाद कहा जा सकता है।

बात लगभग मन से उतर गई थी, और शायद किसी भी नाटक के अनुवाद का उत्साह फिर मन में न आता, यदि कुछ वर्ष पहले दिल्ली के रंगमंच पर 'मिट्टी की गाड़ी' नाम से 'मृच्छकटिक' का अभिनय न देखा होता। हबीब तनवीर द्वारा प्रस्तुत उस नाटक में जहाँ प्रयोग और शिल्प की दृष्टि से कई विशेषताएँ थीं, वहाँ उसकी सबसे बड़ी सीमा थी अनुवाद की पांडुलिपि जो शायद एक अंग्रेज़ी अनुवाद के आधार पर तैयार की गई थी। उन दिनों दो दृष्टियों से नाटक को फिर से पढ़ा—एक तो अनुवाद के लिए, और दूसरे आज की अपेक्षाओं के अनुसार उसका रंगमंचीय रूपांतर तैयार करने के लिए। एक विचार लगभग चार साल पहले पूरा हो गया था, पर दूसरा भी पूरा होना रहता है।

तभी दो और नाटकों का भी इसी तरह का अनुवाद तथा रंगमंचीय रूपांतर तैयार करने की बात मन में आई थी। उनमें से 'शाकुंतल' का अनुवाद आज पूरा कर लेने के बाद 'स्वप्नवासवदत्त' का अनुवाद तथा इन तीनों नाटकों के रंगमंचीय रूपांतर तैयार करने की बात कल के दायित्व के रूप में मन में बनी है। कह नहीं सकता कि यह सब कब तक करना संभव होगा, और होगा भी या नहीं।

'मृच्छकटिक' और 'शाकुंतल' के इन अनुवादों में शूद्रक और कालिदास के साथ कहाँ तक न्याय हुआ है, यह मैं नहीं कह सकता। परंतु मेरा प्रयत्न अवश्य रहा है कि जहाँ तक बन पड़े, मूल के भाव और अर्थ दोनों की अनुवाद में रक्षा की जाए। साथ यह भी कि अनुवादक

की ओर से अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग कम-से-कम हो, और किसी भी तरह का अतिरिक्त आशय उसमें न आने पाए। फिर भी कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ नाटकीय अन्विति के निर्वाह के लिए, या श्लोकों के अनुवाद की मुक्तक लय बनाए रखने के लिए, थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता मुझे लेनी पड़ी है। इसके लिए बहुत अधिक अधिकार मैंने अपने को नहीं दिया, पर मूल का अनुसरण करने के लिए लय और अन्विति की उपेक्षा कर जाने से अनुवाद का उद्देश्य ही शायद पूरा न हो पाता। अनुवाद में बहुत-सी सीमाएँ अनुवादक की हो सकती हैं, पर कुछ सीमाएँ ऐसी भी हैं जो इस तरह के प्रयत्न में स्वतः अंतर्हित रहती हैं। फिर मूल-रचना से आज का सदियों का—अंतर—भाषा, शिल्प, भावयोजना तथा परिकल्पना का—अपने में ही एक सीमा है।

किसी ने यह प्रश्न उठाया था कि राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद के रहते 'शाकुंतल' का एक और अनुवाद क्यों? इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि हर दूसरी-तीसरी पीढ़ी के बाद, और नहीं तो भाषा की दृष्टि से ही, इन रचनाओं के नए-नए अनुवादों की आवश्यकता पड़ती रहेगी। इस तरह यह अनुवाद भी आज के लिए है—आनेवाले कल को इसका स्थान किसी और अनुवाद को लेना होगा।

नई दिल्ली

9-10-65

—मोहन राकेश



अंक : एक

[तपोवन के पास की भूमि तथा ऋषि कण्व का आश्रम]

पात्र

सूत्रधार	कंचुकी (पार्वतायन)
नटी	वैतालिक-1
सारथी	वैतालिक-2
दुष्यंत	प्रतीहारी (वेत्रवती)
वैखानस	पुरोहित (सोमराज)
वैखानस-शिष्य	रक्षक-1 (सूचक)
अनसूया	रक्षक-2 (जालुक)
शकुंतला	नागरक श्याल (मित्रावसु)
प्रियंवदा	मिश्रकेशी
विदूषक (माधव्य)	चेटी-1 (परभृत्तिका)
दौवारिक (रैवतक)	चेटी-2 (मधुरिका)
सेनापति (भद्रसेन)	चेटी-3 (चतुरिका)
ऋषिकुमार-1 (हारीत)	मातलि
ऋषिकुमार-2	सर्वदमन
करभक	तापसी-1 (सुव्रता)
कण्व शिष्य	तापसी-2 (अंतिका)
गौतमी	मारीच
कण्व-ऋषि	अदिति
शांगरव	गालव
शारद्वत	और तापसियाँ, इत्यादि

नान्दी-स्वर :

जल,
जो स्रष्टा की पहली सृष्टि है;
अग्नि
जो विधिवत् दी आहुतियाँ ऊपर ले जाती है;
यजमान,
जो आहुतियाँ देता है;
ये—
और समय का संकेत देते चाँद-सूर्य;
शब्दों को नाद देता
विश्व पर छाया खुला आकाश;
बीजों को पालती धरती;
प्राणियों को प्राण देती वायु;—
इन आठ रूपों में
जो एक उद्भासित है,
हम सब की रक्षा करे,
वह ईश, परमेश्वर ।

नान्दी के अनंतर :

सूत्रधार : बस, अब और नहीं। (नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये, नेपथ्य का काम पूरा हो चुका हो, तो इधर आओ।

नटी : (आकर)

यह मैं आ गई, आर्य! कहिए, क्या आदेश है?

सूत्रधार : आर्ये, इस सभा में अधिकांशतः विक्रमादित्य द्वारा सम्मानित विद्वान् उपस्थित हैं। विक्रमादित्य स्वयं रस और भाव की शिक्षा के महान् आचार्य हैं। तो आज इस सभा में हमें कालिदास का लिखा नया नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' प्रस्तुत करना चाहिए। तुम हर पात्र से यत्नपूर्वक तैयार होने को कहो।

मोहन राकेश रचनावली-11 / 209

नटी : सब लोग अपने-अपने अभिनय में कुशल हैं, इसलिए निश्चित रहें,
आपकी हँसी नहीं होगी।

सूत्रधार : (मुसकराकर)

पर वस्तुस्थिति यह है कि—

जब तक

विद्वानों का परितोष न हो

तब तक

अपनी प्रयोग-कुशलता का

कुछ भी अर्थ नहीं।

जो बहुत शिक्षित हैं,

उनका भी

विश्वासी हृदय

अपने को लेकर

कभी निश्चित नहीं होता।

नटी : (विनीत भाव से)

हाँ, यह तो सच है। पर अब आगे क्या करना है, इस संबंध में
आदेश दें।

सूत्रधार : इससे अच्छा और क्या हो सकता है कि कुछ गाओ जिसे सुनकर
सभा के लोग आनंदित हो उठें।

नटी : तो बताइए किस ऋतु का गीत गाऊँ?

सूत्रधार : क्यों नहीं इस ग्रीष्म ऋतु का ही गीत गातीं, जिसका कि अभी आरंभ
हुआ है और जिसमें आगे उपभोग की अनेक संभावनाएँ हैं? देखो न—

पानी में डुबकियाँ लेने में

सुख मिलता है;

हवाएँ

पाटल के फूलों को छू-छूकर

सुगंधित हो उठती हैं;

जहाँ कहीं छाया हो,

वहाँ नींद लेने को मन करता है;

और साँझ

इन दिनों

अपनी ही एक

रमणीयता लिये रहती है।

नटी : तो लीजिए ।

गाने लगती है :

शिरीष के फूल,
जिनकी कोंपलों के कोमल मुँह
भौरे
हल्के-हल्के छूते हैं,
उन्हें
देखो ये युवतियाँ
किस भावना से
कानों में सजा रही हैं !

सूत्रधार : कितना अच्छा गाया है तुमने ! तुम्हारे गीत ने सभा का मन इस तरह
बाँध लिया है कि वह चित्रलिखित-सी जान पड़ने लगी । तो बताओ,
अब किस नाटक का अभिनय करके इसका मनोरंजन किया जाए ?

नटी : आप पहले ही आदेश दे चुके हैं कि आज 'अभिज्ञान शाकुंतल'
नामक नए नाटक का अभिनय करना है ।

सूत्रधार : अरे, हाँ, अच्छा याद दिलाया । मैं तो बिलकुल भूल ही गया था ।
क्योंकि—

तुम्हारे गीत की मनोहर लय
उसी तरह
अनायास
मन को खींच ले गई,
जैसे
यह तेज़ दौड़ता हरिण
राजा दुष्यंत को
अपने पीछे-पीछे
खींचे लिये आता है ।

दोनों चले जाते हैं ।

प्रस्तावना

धनुष चढ़ाए और सारथी के साथ
रथ में हरिण का पीछा करते
राजा दुष्यंत का प्रवेश ।

मोहन राकेश रचनाबली-11 / 211

सारथी : (राजा की ओर देखकर)

आयुष्मन्!

एक ओर

काले-चितकबरे हरिण को

और दूसरी ओर

आपको

देखकर लगता है

कि

मृग का पीछा करते

साक्षात् शिव को ही

देख रहा हूँ।

दुष्यंत : हरिण हमें बहुत दूर खींच लाया, सारथी! देखो न अब भी यह—

लचकीली गरदन

मोड़-मोड़, बार-बार,

देख पीछे रथ आता

फिर सरपट भागता है।

पीछे का आधा भाग

बाण लगने के डर से

आगे के आधे में

सिमटा-सा जाता है।

आधे चबे तिनके,

थकान से खुले मुँह से

गिरे-गिरे जाते हैं

रास्ते में इधर-उधर।

बड़ी-बड़ी कुल्लाँचें भरता,

धरती पर कम टिकता,

और जैसे नभ में ही

उड़ा चला जाता है।

(आश्चर्य के साथ) अरे, मैं इतना तेज़ इसका पीछा कर रहा हूँ
फिर भी यह आँख से ओझल हुआ जा रहा है!

सारथी : यहाँ धरती ऊँची-नीची थी। मेरे लगाम खींचने से रथ की चाल
धीमी पड़ गई थी। इसी से यह दूर निकल गया। अब आगे समतल
है, वहाँ इसे पकड़ना कठिन नहीं होगा।

दुष्यंत : तो ठीक है, लगाम ढीली छोड़ दो।

सारथी : जैसी आयुष्मान् की आज्ञा। (लगाम ढीली छोड़कर रथ की गति की ओर संकेत करता हुआ) आयुष्मान् देखो—

रास ढीली छोड़ते ही

लंबे शरीर के

ये घोड़े,

कान सीधे

और अयाल स्थिर किए,

रास्ते में तैरते-से

यूँ दौड़ने लगे

कि

इनके पैरों की धूल भी

इनसे आगे नहीं निकल पाती।

दुष्यंत : (प्रसन्न होकर)

सच, ये घोड़े तो हरिण से भी बढ़कर हैं!

दूर के छोटे बिंदु

एकाएक पास आकर

बड़े-हो जाते हैं;

अलग खड़े पेड़-पौधे

बाँहें मिला लेते हैं;

टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ

सीधी हुई जाती हैं।

रथ के इस वेग से

क्षण-क्षण में लगता है कि—

कुछ भी बहुत दूर नहीं,

कुछ भी बहुत पास नहीं।

सारथी : देखिए, अब हरिण इतना पास है कि इसे मारा जा सकता है।

नेपथ्य से : सुनो राजा, सुनो! यह हरिण हमारे आश्रम का है। इसे तुम न मार सकते...इसे तुम नहीं मार सकते।

एक शिष्य के साथ वैखानस का प्रवेश।

वैखानस : (हाथ ऊँचा करके)

राजा, यह हरिण हमारे आश्रम का है। इसे तुम नहीं मार सकते।

यह आग जैसा बाण
 इसके
 रूई जैसे कोमल शरीर पर
 तुम नहीं छोड़ सकते।
 कहाँ
 वज्र की तरह टूटते
 तीखे फलके के
 तुम्हारे बाण,
 और कहाँ
 काँपती-सी जान लिए
 नन्हें-नन्हें हरिण!

तुरंत
 पीछे हटा लो
 यह खींचा हुआ धनुष!
 तुम्हारे हाथ का शस्त्र
 पीड़ित की रक्षा के लिये है,
 निरपराध की हत्या के लिए नहीं!

दुष्यंत : (प्रणाम करके)
 यह हटा लिया धनुष।

वैसा करता है।

वैखानस : (प्रसन्न होकर)
 पुरुवंश के आलोक को ऐसा ही शोभा देता है।
 पुरुवंश में जन्म लेकर
 यही व्यवहार तुम्हारे अनुरूप है।
 कामना है कि
 इन्हीं गुणों से युक्त
 चक्रवर्ती पुत्र
 तुम्हें प्राप्त हो।

शिष्य : (हाथ उठाकर)
 सर्वथा चक्रवर्ती पुत्र तुम्हें प्राप्त हो।

दुष्यंत : (प्रणाम करके)
 ब्राह्मणों की वाणी मेरे हृदय में धारण रहेगी।

वैखानस : राजा, हम लोग समिधा लाने जा रहे हैं। सामने मालिनी के तट पर हमारे गुरुकुलपति कण्व का आश्रम है, शकुंतला जिसकी अधिष्ठात्री देवी की तरह है। किसी अन्य कार्य में बाधा न पड़ती हो, तो वहाँ चलकर अतिथि-सत्कार करो।

देखकर

कि बिना किसी बाधा के

तापस लोग

यहाँ

अपनी धर्म-क्रियाएँ पूरी करते हैं, --

तुम्हें विश्वास हो जाएगा

कि तुम्हारी उँगली पर बना

धनुष की डोरी का निशान

किस तरह

इस भूमि की

रक्षा करता है।

दुष्यंत : कुलपति स्वयं यहीं हैं?

वैखानस : नहीं। अपनी बेटी शकुंतला को अतिथि-सत्कार का आदेश देकर अभी-अभी सोमतीर्थ गए हैं—उसके प्रतिकूल ग्रहों की शांति का उपाय करने।

दुष्यंत : तो हम उनकी बेटी से ही मिल लेंगे। महर्षि के लौटने पर वही उनसे हमारा भक्ति-निवेदन कर देगी।

वैखानस : तो हम लोग अब चल रहे हैं।

वैखानस और शिष्य चले जाते हैं।

दुष्यंत : घोड़ों को आगे बढ़ाओ, सारथी! पुनीत आश्रम के दर्शन से अपनी आत्मा को पवित्र करेंगे।

सारथी : जैसी आयुष्मान् की आज्ञा।

**फिर से रथ की गति का
निरूपण करता है।**

दुष्यंत : (चारों ओर देखकर)

कोई न बताए, तो भी पता चल सकता है कि यह आश्रम के पास की ही भूमि है।

सारथी : कैसे?

दुष्यंत : देख नहीं रहे हो कि—

कहीं
पेड़ों के खोखल से झाँकते
नन्हें तोतों के मुँह से गिरे
तिनके
पेड़ों के नीचे पड़े हैं;
कहीं
हिंगोट के फल पीसने से
चिकने
पत्थर नजर आते हैं;
हरिण
अपरिचित स्वरों से
घबराते नहीं,
विश्वास से
अपनी चाल चले जाते हैं;

और

जलाशय से आते मार्गों पर
वल्कलों से टपकते
पानी की
लकीरें बनी हैं।

और

हवा से काँपते
नहर के पानी से
पेड़ों की जड़ें
धुली-सी हो रही हैं;
यज्ञ के धुएँ से
कोंपलों की चमक
कुछ और ही रंग लिये है;
और पास ही ये
हरिणों के बच्चे,
कटी घास की वनभूमि,
निःशंक होकर
धीरे-धीरे चल रहे हैं।

सारथी : आप ठीक कह रहे हैं।

दुष्यंत : (कुछ और आगे बढ़ आने पर)

रथ को रोक लो जिससे आश्रमवासियों के कार्य में किसी तरह की बाधा न पड़े। मैं यहीं उतर जाता हूँ।

सारथी : यह खींच ली लगाम। अब आप उतर सकते हैं।

दुष्यंत : (उतरकर और अपनी ओर देखकर)

आश्रम के अंदर साधारण वेश में ही जाना उचित होगा। यह धनुष और आभूषण तुम यहीं अपने पास रख लो।

धनुष-आभूषण सारथी को दे देता है।

सारथी लेकर रख लेता है।

आश्रमवासियों से मिलकर मेरे लौटने तक तुम घोड़ों को अपनी पीठ गीली कर लेने दो।

सारथी : जैसी आयुष्मान् की आज्ञा।

चला जाता है।

दुष्यंत : (धूमकर और देखकर)

यह रहा आश्रम। अब मैं अंदर प्रवेश करता हूँ। (आश्रम में आकर, और अपनी बाँहें फड़कते देखकर) अरे!

शांत आश्रम में आकर

दाई बाँह फड़क रही है—

यहाँ इसका क्या फल मिलेगा?

या फिर,

जो होनी हो,

उसके द्वार

कहीं से भी खुल सकते हैं।

नेपथ्य से : आओ प्रिय सखियों, इधर आओ।

दुष्यंत : (सुनकर)

दाई ओर वाटिका से बात करने का-सा शब्द सुनाई दे रहा है। तो इसी ओर चलूँ। (धूमकर और देखकर) अरे, ये तपस्वी-कन्याएँ अपने आकार के अनुरूप घड़े लिये, उनसे नन्हें पौधों को सींचती, इधर ही आ रही हैं! (अच्छी तरह देखकर) सच, कितनी सुंदर लगती हैं ये!

राजभवन के लिए दुर्लभ

यह रूप

तपोवन में रहनेवाली

इन वालाओं का है,
तो कहना होगा
कि
वन की लताओं ने,
अपनी सुंदरता से,
उद्यान की लताओं को
फीका कर दिया है।

तो यहाँ छाया में रुककर इनकी प्रतीक्षा करता हूँ।

उधर देखता रुका रहता है। यथानिर्दिष्ट
रूप में दो सखियों के साथ

शकुंतला का प्रवेश।

एक सखी : शकुंतला, मुझे लगता है कि तात कण्व को आश्रम के वृक्ष तुझसे
कहीं अधिक प्रिय हैं। तभी तो न मल्लिका के नए फूलों-सी कोमल
लड़की को इनके थाले भरने में लगा रखा है।

शकुंतला : यह केवल तात का आदेश ही नहीं है, अनसूया। मुझे स्वयं इन
वृक्षों से बहुत स्नेह है।

दूसरी सखी : शकुंतला, ग्रीष्म में फूल देनेवाले आश्रम के वृक्षों को तो हम सींच
चुकीं। चल, अब उन्हें भी सींच दें जिन पर फूल आने का समय
बीत चुका है। इस समय निष्काम कर्म से बहुत पुण्य होगा।

शकुंतला : तू ठीक कहती है, प्रियंवदा!

फिर से वृक्ष सींचने का
अभिनय करती है।

दुष्यंत : (सुनकर, स्वगत)

तो यही है कण्व की बेटी शकुंतला? इसे इस तरह आश्रम के कार्य
में लगाकर महर्षि ने विवेक का परिचय नहीं दिया।

निःसंदेह

यदि ऋषि चाहते हैं

कि

यह निसर्ग से सुंदर शरीर

तापस धर्म की

साधना करे,

तो उनका यह प्रयत्न

नीले कमल की पंखुड़ी से

शंभा की डाल
काटने का-सा है।

तो पेड़ की ओट में रहकर इसे निःशंक भाव से काम करते देखता
हूँ।

वैसा ही करता है।

शकुंतला : देख अनसूया, प्रियंवदा ने मेरा वल्कल कितना कस दिया है! मुझे
कष्ट हो रहा है, इसे थोड़ा ढीला कर दे।

प्रियंवदा : (हँसकर) मुझे क्यों कोसती है? अपने उभरते यौवन को कोस,
जिसने तेरे स्तनों में इतना उभार ला दिया है!

दुष्यंत : ठीक कहा है इसने।

यह अभिनव शरीर,
महीन गाँठों से
कंधे पर कसे,
और स्तनों के विस्तार को
अपने में समेटे,
इस वल्कल में
अपनी पूरी शोभा
उसी तरह
नहीं दिखा पा रहा
जैसे
पीले पत्तों के झुरमुट में
एक नया फूल।

वल्कल इसके अनुरूप परिधान नहीं, फिर भी इससे इसका शरीर
रूखा जान पड़ता हो, ऐसा नहीं। क्योंकि—

सेंवार से घिरा होने पर भी
कमल
सुंदर ही रहता है;
कालिमा के रहते भी
चाँद
चाँदनी छिटकाता है।
वल्कल के परिधान में भी
यह बाला
आकर्षक जान पड़ती है;

क्या है
 जो एक रमणीय आकृति को
 और रमणीय नहीं बना देता?
 और
 मृगनयनी के शरीर पर
 रूखा वल्कल भी
 सुंदर जान पड़ता है;
 मन में सुरुचि को
 इससे तनिक भी
 आघात नहीं पहुँचता।
 यह एक
 खिली कमलिनी है,
 और
 वल्कल
 इसका अपना ही
 कुछ ऊपर तक उठा
 वृंत-जाल!

शकुंतला : (सामने देखकर)

अनसूया, प्रियंवदा, हवा से हिलती उँगलियों से यह आम का वृक्ष
 मुझसे कुछ कहता-सा जान पड़ता है। चलकर इसे भी पानी दे दूँ
 जिससे यह भी लहलहा उठे।

प्रियंवदा : देख, क्षण-भर यहीं इसके पास रुकी रहना।

शकुंतला : क्यों?

प्रियंवदा : तेरे पास होने से लगता है आम के वृक्ष को एक नई लता का साथ
 मिल गया है।

शकुंतला : ऐसी बातें करती है, इसलिए तो तेरा नाम प्रियंवदा है।

दुष्यंत : प्रियंवदा का कहना कितना सच है! क्योंकि—

नई कोंपल-सा
 लाल अधर,
 कोमल टहनियों-सी
 दुबली बाँहें
 और
 एक लुभावने फूल-सा है

इसके अंगों में खिला
इसका यौवन।

अनसूया : इस नवमालिका को तू भूल गई, शकुंतला, जिसने आम के वृक्ष से स्वयंवर रचाया है, और जिसे तूने ही वनतोषिणी, यह नाम दे रखा है?

शकुंतला : इसे भूलूँगी, तो अपने को भी भूल न जाऊँगी? सच, इन दोनों की रति के लिए कितना सुंदर समय है यह! नवमालिका का यौवन फूलों से लद गया है, और आम पर फलों का इतना भार है कि वह उपभोग के लिए झुका जा रहा है।

प्रियंवदा : (मुसकराकर)

अनसूया, तू जानती है शकुंतला वनतोषिणी की ओर इतना क्यों देखती है?

अनसूया : बता, क्यों देखती है?

प्रियंवदा : इसलिए कि जैसे वनतोषिणी को अपने अनुरूप वृक्ष मिला है, वैसे ही इसे भी अनुरूप पति मिले।

शकुंतला : यह तू अपने मन की बात कह रही होगी।

अनसूया : शकुंतला, इस माधवी लता को तू क्यों भूल रही है जिसे तात कण्व ने तेरी ही तरह अपने हाथों से पाला है?

शकुंतला : इसे भूलूँगी, तो अपने को भी न भूल जाऊँगी? (लता के पास जाकर और उसे देखकर, प्रसन्न भाव से) ओह! कितने आश्चर्य की बात है! सुन प्रियंवदा, इधर आ! तुझे एक अच्छा-सा समाचार दूँ।

प्रियंवदा : अच्छा-सा समाचार?...ऐसा क्या समाचार है?

शकुंतला : इस माधवी लता को देख...देख, कैसे यह असमय ही ऊपर से नीचे तक खिल उठी है!

अनसूया

प्रियंवदा : सच कह रही है?

शकुंतला : सच नहीं तो क्या? तुम दोनों आकर देख लो न!

प्रियंवदा : (देखकर हर्षपूर्वक)

तो इसके बदले सुन...तेरे लिए भी एक अच्छा-सा समाचार है।

शकुंतला : मेरे लिए अच्छा-सा समाचार?...बता, क्या समाचार है?

प्रियंवदा : बस समझ ले कि तेरा विवाह अब होने ही वाला है।

शकुंतला : यह तेरे अपने मन की चाह होगी...जा, मैं तेरी बात नहीं सुनती।

प्रियंवदा : मैं यह हँसी में नहीं कह रही। यह शकुन तेरे लिए शुभ है...ऐसा मैंने तात कण्व के मुँह से सुना था।

अनसूया : तभी तो न यह इतने प्यार से माधवी-लता को सींचा करती है।

शकुंतला : क्यों न इसे प्यार से सींचूँ मैं? मेरी बहन है यह?

दुष्यंत : संभव है कुलपति कण्व की यह असवण संतान हो। नहीं, इस संबंध में संदेह नहीं होना चाहिए।

निःसंदेह

क्षत्रिय से

इसका विवाह

संभव है;

तभी

मेरे आर्य मन में

इसके लिए

अभिलाषा जाग रही है।

जहाँ

संदेह का विषय हो,

वहाँ

सत्पुरुष का अंतःकरण ही

सबसे बड़ा प्रमाण है।

फिर भी वास्तविकता का पता अभी चल ही जाएगा।

शकुंतला : (घबराई-सी)

हाय, देखो, नवमालिका को पानी देने से अचकचाया यह भौरा उससे हटकर मेरे मुँह के आसपास मँडराने लगा।

भौरा को हटाने का अभिनय करती है।

दुष्यंत : (अभिलाषा के साथ देखकर)

इसका भौरा को हटाना भी कितना सुंदर लग रहा है!

जिधर-जिधर से

भौरा

उड़कर आता है,

उधर-उधर को

इसकी तिरछी आँखें

घूम जाती हैं।

इन आँखों में

कामना नहीं,

केवल भय है—
 फिर भी
 इसकी नाचती भौंहों को देखकर
 लगता है
 कि यह केवल
 दृष्टि-विलास का ही
 अभ्यास कर रही है।
 और (जैसे ईर्ष्या के साथ)
 इसकी
 चंचल और काँपती
 आँखों को छूकर,
 भेद की बात
 कहने की तरह
 कानों के पास
 हौले से गुनगुनाकर,
 और
 लगातार
 इसके हाथ पटकने पर भी
 चुपके से
 इसका अधर-पान करके,
 और इस तरह
 रति का सर्वस्व पाकर
 मधुकर,
 तुम तो कृतकृत्य हुए—
 मारे गए हम
 जो अब तक
 वास्तविकता ही खोज रहे हैं।

और—
 काँपती-सी चंचल दृष्टि
 और
 भौंहों की कुटिल भंगिमाएँ!
 बल खाए सुंदर कटि
 तिरछी होकर बार-बार हिलती हुई!

कोमल पत्तियों जैसे हाथ,
ऊपर-नीचे को थिरकते हुए!
यह सब
और खुले होंठों से निकलता
हल्का सीत्कार—
जान पड़ता है कि
यह सु-स्तनी
भौर के डर से व्याकुल
तापस कन्या नहीं,
बिना वाद्यों के नाचती
कुशल नर्तकी है!

शकुंतला : अनसूया, प्रियंवदा, बचाओ न मुझे इस दुष्ट भौर से। यह तो मेरा पीछा ही नहीं छोड़ता।

अनसूया

प्रियंवदा : (मुसकराकर)

हम कौन हैं तुझे बचानेवाली? पुकारना है तो राजा दुष्यंत को पुकार जो इस तपोवन के रक्षक हैं।

दुष्यंत : (स्वगत)

यह अवसर है अपने को सामने करने का। (प्रकट) देखो, डरो नहीं, डरो नहीं...(बात बीच में ही रोककर, स्वगत) पर इससे तो इन्हें पता चल जाएगा कि मैं ही राजा दुष्यंत हूँ...नहीं, मुझे एक सामान्य अतिथि की तरह ही आचरण करना चाहिए।

शकुंतला : यह दुष्ट तो हटने में नहीं आता। तो मैं ही दूसरी ओर चली जाती हूँ। हाय! यह तो इधर भी पीछे-पीछे चला आ रहा है! तुम लोग बचाओ न मुझे।

दुष्यंत : (जल्दी से आगे आकर)

दुष्टों के विनाशक

पौरव के शासन में

कौन है

जो

भोली तपस्वी, कन्याओं को

अनाचार से

पीड़ित कर रहा है?

तीनों दुष्यंत को देखकर
घबरा जाती हैं।

अनसूया

प्रियंवदा : आर्य, कोई भी यहाँ अनाचार नहीं कर रहा। केवल एक भौंरा है जिसके पास आकर मँडराने से हमारी सखी डर गई है।

दुष्यंत : (शकुंतला के पास आकर)

कहो, तुम्हारी तपस्या तो उत्कर्ष पर है?

शकुंतला लजाकर सिर झुका लेती है।

अनसूया : हाँ, एक विशेष अतिथि के आने से अवश्य उत्कर्ष पर है।

प्रियंवदा : हम आर्य का स्वागत करती हैं। शकुंतला, जा, पर्णशाला से अर्घ्यपात्र में फल रखकर ले आ। पैर धोने का पानी यहीं से हो जाएगा।

दुष्यंत : नहीं-नहीं, आप लोगों की मधुर वाणी से ही हमारा आतिथ्य हो गया।

अनसूया : आर्य, सप्तपर्णा वेदी में बैठकर थकान दूर कर लें। यहाँ ठंडी छाँह भी है।

दुष्यंत : आप लोग भी तो अपने पुण्यकार्य से थक गई होंगी। कुछ देर आप भी बैठें।

प्रियंवदा : (अलग से)

आ शकुंतला, कुछ देर बैठ जाएँ। अतिथि का आदर करना हमारा कर्तव्य है।

शकुंतला : (स्वगत)

क्या है यह...क्यों इस व्यक्ति को देखकर मन में यह ऐसा भाव उठ रहा है जो कि तपोवन की मर्यादा के अनुकूल नहीं?

दुष्यंत : (उन सबको देखकर)

यह एक-सी उम्र और एक-से रूप की मित्रता कितनी अच्छी लग रही है!

प्रियंवदा : (अलग से)

यह कौन व्यक्ति हो सकता है, अनसूया? आकृति में इतनी गंभीरता है कि उसकी थाह नहीं और बात करने के ढंग में मिठास भी है, प्रभाव भी और उदारता भी।

अनसूया : यही उत्सुकता मेरे मन में भी है। तो इसी से पूछती हूँ। (प्रकट)
आर्य की मधुर वाणी से विश्वास पाकर पूछ रही हूँ। कौन-सा

राजर्षि वंश है जिसकी आप से शोभा है? कौन-सा देश है जिसे आप विरह से उत्सुक छोड़ आए हैं? कौन-सा कारण है जिससे आपने अपने कोमल शरीर को यहाँ तपोवन में आने का कष्ट दिया है?

शकुंतला : (स्वगत)

व्याकुल मत हो, हृदय! जो तू सोच रहा था, वह सब अनसूया ने पूछ लिया है।

दुष्यंत : (स्वगत)

अब इन्हें अपना परिचय कैसे दूँ?...या कैसे इनसे अपना परिचय छिपाऊँ?...हाँ, इस तरह ठीक है। (प्रकट) देखिए, मैं...मैं एक वेदविद् ब्राह्मण हूँ। राजा पौरव ने मुझे अपने नगर में धर्माधिकार के कार्य में नियुक्त कर रखा है। मन में इस पवित्र आश्रम को देखने की लालसा थी, इसीलिए इस धर्मवन की ओर चला आया हूँ।

अनसूया : यहाँ रहकर धर्माचरण करनेवालों के लिए यह गौरव का विषय है।

शकुंतला शृंगार-लज्जा का अभिनय करती है।

अनसूया

प्रियंवदा : (दुष्यंत और शकुंतला का भाव देखकर अलग से)

शकुंतला, आज यदि तात कण्व यहाँ पर होते तो...

शकुंतला : तो क्या होता?

अनसूया

प्रियंवदा : तो अपना सबकुछ देकर भी इस विशेष अतिथि का सत्कार करते।

शकुंतला : (दिखावटी क्रोध के साथ)

हटो, तुम लोग कुछ और ही मन में रखकर बात कर रही हो। मैं तुम्हारी बात नहीं सुनती।

दुष्यंत : हम भी आपकी सखी के विषय में कुछ पूछना चाहते हैं।

अनसूया

प्रियंवदा : यह आपका अनुग्रह है, इसमें याचना कैसी?

दुष्यंत : महर्षि कण्व तो...जन्म से ब्रह्मचारी हैं न? तो फिर यह उनकी बेटी कैसे है?

अनसूया : आर्य जानना चाहते हैं, तो मैं बताती हूँ। एक बहुत प्रभावशाली राजर्षि हैं...उनका गोत्र-नाम है कौशिक।

दुष्यंत : हाँ, हाँ, महर्षि कौशिक।

अनसूया : वही वास्तव में इसके पिता है। उनके छोड़ देने पर इसका पालन तात कण्व ने किया, इस नाते वे भी इसके पिता हैं।

दुष्यंत : उनके छोड़ देने पर...यह सुनकर तो और भी उत्सुकता जागती है। हम पूरी बात जानना चाहेंगे।

अनसूया : सुनिए। बहुत पहले की बात है। उन दिनों वे राजर्षि उग्र तपस्या कर रहे थे। इससे आशंकित होकर देवताओं ने उनकी तपस्या में बाधा डालने के लिए मेनका नाम की अप्सरा को उनके पास भेजा।

दुष्यंत : हाँ, सब जानते हैं कि देवता दूसरों की समाधि से कितना डरते हैं। फिर?

अनसूया : वसंत उतर रहा था। समय रमणीय था। ऐसे में उसके उन्मादक रूप को देखकर...

आधी बात कहकर संकोच से
चुप हो जाती है।

दुष्यंत : हमें देखते ही लगा था कि यह केवल अप्सरा की ही संतान हो सकती है।

अनसूया : हाँ, यही सच है।

दुष्यंत : ठीक ही तो है।

मानवी से

ऐसे रूप का

उदय

क्योंकर संभव है?

काँपती विद्युत्

क्या कभी

धरती के गर्भ से भी जन्म ले सकती है?

शकुंतला लजाकर सिर नीचा
किए रहती है।

(स्वगत) तब तो अपनी मनोकामना पूरी हो सके, ऐसी संभावना है!

प्रियंवदा : (मुसकराकर शकुंतला की ओर देखते हुए दुष्यंत से)

लगता है आप अभी कुछ और भी कहना चाहते हैं।

शकुंतला तर्जनी के संकेत से
उसे धमकाती है।

दुष्यंत : आपका अनुमान ठीक है। यह सुंदर गाथा सुनकर और भी कुछ पूछने को मन होता है।

प्रियंवदा : आप संकोच न करें। तपस्वियों से कुछ भी जानने-पूछने में आचार का उल्लंघन नहीं होता।

दुष्यंत : हमें पूछना यह है कि—
क्या केवल
कन्यादान होने तक ही
यह
कामनाओं से परे रहकर
तापसधर्म का
पालन करेगी,
या
आजीवन
अपने जैसी आँखोंवाली
सुंदर हरिणियों के साथ
यहाँ विचरण करती रहेगी?

प्रियंवदा : इस समय तो धर्माचरण का अंकुश इसके सिर पर है, पर तात का निश्चय यही है कि अनुकूल वर मिलने पर इसका कन्यादान कर देंगे।

दुष्यंत : (प्रसन्न होकर स्वगत)
हृदय,
अब तू अपनी
अभिलाषा पर
नियंत्रण न रख—
सदेह
दूर हो गया!
यह आग नहीं
जैसी कि तुझे आशंका थी,
बल्कि
एक शीतल रत्न है,
जिसे —
तू छू सकता है।

शकुंतला : (जैसे क्रोध से)
देख अनसूया, अब मैं यहाँ से जा रही हूँ।

अनसूया : क्यों?

शकुंतला : मैं जाकर आर्या गौतमी को बताती हूँ कि यह प्रियंवदा यहाँ क्या-क्या उल्टा-सीधा बक रही है।

अनसूया : ना-ना, हम आश्रमवासियों के लिए यह उचित नहीं कि एक विशेष अतिथि आया हो, और हम ठीक से उसका सत्कार किए बिना ही उसके पास से उठकर चल दें।

शकुंतला बिना उत्तर दिए
वहाँ से चल देती है।

दुष्यंत : (स्वगत)

यह तो सचमुच चल ही दी।

जैसे उसे पकड़कर रोकना चाहता है पर
अपनी इच्छा पर बश पा लेता है।

सच, एक कामातुर व्यक्ति की चेष्टाएँ भी उसके मनोभावों जैसी
ही होने लगती हैं। अब मैं ही—

अपने स्थान से

नहीं चला,

पर जैसे

चलकर लौट आया!

विनय ने रोक लिया

नहीं तो

मुनि-कन्या के

पीछे-पीछे

चला जाता।

प्रियंवदा : (शकुंतला के पास जाकर)

सुन चंडी, तू इस तरह यहाँ से नहीं जा सकती।

शकुंतला : (घूमकर भी हैं चढ़ाए हुए)

क्यों नहीं जा सकती?

प्रियंवदा : तेरे ऊपर मेरा ऋण है, दो पेड़ सींचने का। उसे उतार ले, तब जाना।
उसे पकड़कर रोकती है।

दुष्यंत : वह बेचारी तो पेड़ सींच-सींचकर पहले ही इतना थक गई है! देखो न—

घड़ा उठाए रहने से

कंधे झुके-झुके-से

और हथेलियाँ

अभी तक लाल हैं;
 साँस
 इतनी तेज़ है कि
 स्तन
 काँप-काँप जाते
 मुँह पर
 पसीने की
 इतनी-इतनी जालियाँ हैं कि
 कानों के शिरीष फल
 कुहलाकर झुके जाते हैं;
 और बंधन खुल जाने से
 एक हाथ में सँभाले केश
 ऐसी विवशता है कि
 सँभल नहीं पा रहे हैं।
 इसलिए इसका ऋण मैं उतार देता हूँ।

अपनी अँगूठी उतारकर देता है। अनसूया
 और प्रियंवदा अँगूठी पर नाम के अक्षर
 पढ़कर एक ओर देखती हैं।

दुष्यंत : आप कुछ और न सोचें। यह मुझे राजा से भेंट में मिली है।

प्रियंवदा : तब तो आपको इसे अपनी उँगली से अलग नहीं करना चाहिए।
 शकुंतला का ऋण आपके इन शब्दों से ही उतर गया।

अनसूया : देख शकुंतला, आर्य ने—राजर्षि ने—तुझे ऋणमुक्त कर दिया है।
 अब तू यहाँ से जा सकती है।

शकुंतला : (स्वगत)

अपने पर वश होता तो क्या कभी भी यहाँ से जाती?

प्रियंवदा : तो अब जा क्यों नहीं रही तू?

शकुंतला : मैं तेरे अधीन हूँ क्या? जब मेरा मन होगा, तब जाऊँगी।

दुष्यंत : (शकुंतला की ओर देखकर स्वगत)

जैसा मैं इसके लिए सोच रहा हूँ, क्या वैसा ही यह भी अपने मन
 में मेरे लिए सोच रही होगी? लगता है मेरी कामना निराधार नहीं
 है। क्योंकि—

चाहे

मेरी बात से मिलाकर

बात नहीं करती,
 फिर भी
 मेरे बात करने पर
 कान इसके
 इसी ओर रहते हैं।
 चाहे
 अधिक देर
 मुँह
 इस ओर नहीं रख सकती,
 फिर भी
 दूसरी किसी ओर भी
 बहुत देर तक
 यह
 नहीं देख पाती।

नेपथ्य से : सुनो तपस्वियो, सुनो! तपोवनवासी जीवों की रक्षा के लिए तैयार
 हो जाओ। शिकार करता हुआ राजा दुष्यंत यहाँ पास तक आ
 पहुँचा है।

गिर रही है
 घोड़ों की टापों में उठी,
 धूल—
 अस्त होते सूर्य की
 किरणों—सी लाल,
 और
 टिड्डी-दल-सी
 घनी—
 आश्रम के
 उन वृक्षों पर
 जिनकी शाखाओं पर हमने
 अपने गीले वल्कल,
 सूखने के लिए
 फैला रखे हैं!

दुष्यंत : ओह! कितना बुरा हुआ! लगता है मुझे खोजते हुए मेरे सैनिकों
 ने तपोवन को घेर लिया है।

पुनः नेपथ्य से : सुनो तपस्वियो, सुनो! बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियों को व्याकुल करता एक हाथी इसी ओर चला आ रहा है!

अनसूया, प्रियंवदा और शकुंतला
सुनकर घबराई-सी ही रहती हैं।

दुष्यंत : (स्वगत)

कितनी बुरी बात है कि अनजाने ही इन तपस्वियों के प्रति हमसे यह अपराध हुआ जा रहा है। मुझे उधर जाकर देखना चाहिए।

अनसूया

प्रियंवदा : देखिए, इस हाथी के ऊधम ने हमें घबरा दिया है। हमें अनुमति दें कि हम अपनी पर्णशाला में चली जाएँ।

शकुंतला : (ठीक से चल पाने में असमर्थता का अभिनय करती हुई) हाय, क्या हो गया है—जाँघें काँपने से मेरे लिए तो चलना असंभव हो रहा है।

दुष्यंत : आप लोग सहज भाव से जाएँ। इधर मैं प्रयत्न करता हूँ कि आश्रम को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे।

अनसूया

प्रियंवदा : हम अपराधिनी हैं कि इस तरह आपका आतिथ्य बीच में ही छोड़कर जा रही हैं। आप सब जानते हैं, इसलिए विश्वास है क्षमा कर देंगे। यह इसलिए भी कह रही हूँ कि आतिथ्य पूरा कर सकें, इसलिए फिर भी अपने दर्शन का अवसर देंगे।

दुष्यंत : ऐसा न कहें। आप लोगों से मिल लेने से ही हमारा आतिथ्य पूरा हो चुका।

शकुंतला : देख न अनसूया, यह नई कुशा का एक काँटा मेरे पैर में गड़ गया है। इधर बल्कल इस पेड़ की शाखा में उलझ गया है। तुम लोग थोड़ा रुको जिससे मैं इसे छुड़ा लूँ।

वहाने से रुक-रुककर दुष्यंत की ओर
देखती हुई अनसूया और प्रियंवदा
के साथ चली जाती है।

दुष्यंत : (निःश्वास छोड़कर)

तो ये चली गईं! अब मुझे भी चलना चाहिए। शकुंतला को देखने के क्षण से ही मन में लौटकर नगर जाने की चाह नहीं रही। अब चलकर पीछे आते सैनिकों से कह दूँ कि वे तपोवन से थोड़ी दूरी पर ठहरें। मन में यह शक्ति नहीं कि शकुंतला को फिर से देखे

बिना यहाँ से जा सकूँ।
शरीर
आगे जा रहा है,
किंतु
मन की दिशा
पीछे की ओर है!
महीन रेशम की
ध्वजा-सा है यह मन
जिसे मैं
वायु से प्रतिकूल
दिशा में लिये जा रहा हूँ।

प्रस्थान

॥ प्रथम अंक ॥

अंक : दो

[तपोवन के पास की भूमि]

149678

१५ : काँठ

[मि. के. ए. के. ए. के.]

१५०००००

विदूषक का प्रवेश ।

विदूषक : (निःश्वास छोड़कर)

मार दिया इस शिकारी राजा की मित्रता ने। गरमी की भरी दोपहर, दूर-दूर तक कहीं पेड़ों की छाया नहीं, और ऐसे में 'यह रहा हरिण, वह रहा सूअर, वह रहा बाघ' करते हुए जंगल-भर में घूमते फिरो और बाद में पियो सड़े पत्तों पर से होकर आता कसैला, बेस्वाद, कड़वा, गरम पानी—इन पहाड़ी नदियों का! खाने को अधिकतर जलता-जलता मांस, और वह भी जब जिस समय मिल जाय! हाथी-घोड़ों के चिंघाड़ने-हिनहिनाने से रात को भी ठीक से नींद नहीं आती और अब सुबह-सुबह ही इस हो-हल्ले ने मुझे जगा दिया है—दासी के बेटे तीतरमार शिकारी जंगल की ओर जा रहे हैं!

पर इतने से ही मेरा दुःख समाप्त नहीं होता—ऐसे में जले गाल पर एक फोड़ा और निकल आया है। अर्थात् पीछे रहकर यह सब दुःख भोग ही रहा था कि दुर्भाग्य की एक और मार सिर पर आ पड़ी है! मृग का पीछा करते राजा ने आश्रम में जाकर वहाँ शकुंतला नाम की किसी तपस्वी-कन्या को देख लिया है। उसे देख लेने के बाद अब लौटकर नगर चलने की बात ही नहीं करता! यह सब सोचते हुए आँखों में ही रात बीत गई। पर किया क्या जाय? प्रिय मित्र ने अब तक समय के अनुकूल वेश धारण कर लिया होगा, तो चलकर उसी से मिला जाय। (घूमकर और देखकर) प्रिय मित्र तो इधर ही चले आ रहे हैं। हाथ में धनुष, हृदय में शकुंतला और गले में वन-फूलों की माला! तो हाथ-पैर टेढ़े करके व्याकुल-सा बनकर यहीं खड़ा हो रहता हूँ। संभव है इसी तरह कुछ विग्रह मिल सके।

लाठी के सहारे खड़ा हो रहता है।
निर्दिष्ट वेश में दुष्यंत का प्रवेश।



दुष्यंत : (स्वगत)

मिलन
सुलभ नहीं,
फिर भी
उसका भाव देखकर
मन को आश्वासन है।
कामना की पूर्ति
चाहे न भी हो,
फिर भी
दोनों ओर की आकांक्षा
मन को
संतोष देती ही है।

(मुसकराकर) कामातुर व्यक्ति कैसे यह सोचकर अपने को ठगता
है कि उसके प्रिय की मनःस्थिति ठीक वैसी ही होगी जैसी कि
उसकी कामना है।

स्नेह-भरी आँखों से
उसने
दूसरी ओर देखा,
तो वह भी;
भारी नितंबों के भार से
विलासपूर्वक
धीरे-धीरे चलकर गई,
तो वह भी;
और
'मत जा'
सखी के कहने पर,
उसने झिड़ककर
जो उत्तर दिया,
वह भी—
लगता है कि
सबकुछ मेरे लिए ही था!
कैसी है यह कामना
जो

उसके हर कार्य को
अपने—
केवल अपने ही लिए—
मानकर
चलना चाहती है?

विदूषक : (उसी तरह खड़ा हुआ)

देखिए महाराज, अपना हाथ तो चलता नहीं, इसलिए केवल शब्दों से ही अभिवादन कर रहा हूँ। जय हो आपकी!

दुष्यंत : (देखकर और मुसकराकर)

क्यों, क्या हुआ? तुम्हारे अंग कैसे जकड़ गए?

विदूषक : कैसे जकड़ गए? स्वयं आँख फोड़कर पूछते हो कि रो क्यों रहे हो?

दुष्यंत : बात समझ में नहीं आई। ज़रा दूसरी तरह से समझाओ।

विदूषक : वेंट अगर कुबड़ा होकर झुक जाय, तो उसका कारण क्या होगा?
वह स्वयं या नदी का वेग?

दुष्यंत : कारण तो नदी का वेग ही रहेगा।

विदूषक : इसी तरह मेरी इस अवस्था के कारण आप हैं।

दुष्यंत : कैसे?

विदूषक : वह ऐसे कि आप तो अपना राज-काज और...इतना अच्छा सुरक्षित प्रदेश छोड़कर यहाँ वनचर बनकर रहने लगे। अब मैं आपसे क्या कहूँ? प्रतिदिन सिंहों और बाघों का पीछा करते-करते मुझ ब्राह्मण का बुरा हाल है। मेरी हड्डियों के जोड़ इस तरह हिल गए हैं कि मेरे चलाए अब वे नहीं चलते। इसलिए इतनी कृपा करें कि कम-से-कम एक दिन तो विश्राम कर लें।

दुष्यंत : (स्वगत)

इधर इसका यह कहना है, और उधर बार-बार शकुंतला का ध्यान आने से मेरा भी मन शिकार में नहीं लग रहा।

बाण धनुष पर है,

किंतु

उसे हरिणों पर छोड़ने का

उत्साह मन में नहीं है।

इन्हीं हरिणों ने तो

साथ रह-रहकर

अपनी आँखों की सुंदरता

उसे भी

दे दी है।

विदूषक : (दुष्यंत की ओर देखता हुआ)

अब आप अपने ही मन में अपने से बात करने लगे। मेरा बात करना जंगल में रोना नहीं तो क्या है?

दुष्यंत : (मुसकराकर)

मेरी चुप्पी का अर्थ यही है कि मित्र की बात टाली नहीं जा सकती।

विदूषक : (संतुष्ट भाव से)

ऐसा है तो तुम्हारी दीर्घ आयु हो।

दुष्यंत : ठहरो, मेरी शेष बात तो सुन लो।

विदूषक : आज्ञा।

दुष्यंत : तुम विश्राम कर चुको, तो तुम्हें एक और कार्य में मेरी सहायता करनी है।

विदूषक : किस कार्य में—लड्डू खाने में?

दुष्यंत : जो भी कार्य मैं कहूँगा।

विदूषक : मैं इसी क्षण से वचनबद्ध हूँ।

दुष्यंत : (पुकारकर)

यहाँ कोई है?

दौवारिक : (प्रवेश करके)

आज्ञा, स्वामी!

दुष्यंत : रैवतक, सेनापति को बुला लाओ।

रैवतक : जैसी आज्ञा। (जाकर और सेनापति के साथ पुनः प्रवेश करके) आइए, आइए, आर्य! बात करते हुए स्वामी यहीं बैठे हैं। आप पास जा सकते हैं।

सेनापति : (राजा को देखकर)

मृगया के दोष स्पष्ट हैं, फिर भी स्वामी के लिए वह लाभकारी ही सिद्ध हुई है। क्योंकि—

निरंतर

धनुष की डोरी खींचने से

कठिन हुआ शरीर

धूप सह लेता है,

और
 पसीने की बूंदों से
 विचलित नहीं होता;
 वस्त्रों में छिपे अंग
 यूँ चाहे दुबले हैं,
 परंतु
 उनमें प्राण-शक्ति
 उतनी ही है
 जितनी
 पर्वतों पर विचरण करते
 हाथी में।

(पास आकर) स्वामी की जय हो! इसका पता चला लिया गया
 है कि वन में हरिण कहाँ-कहाँ हैं, और हिंस्र जीवों के आवास कौन-
 कौन-से हैं। अब आगे के लिए स्वामी आदेश दें।

दुष्यंत : भद्रसेन, माधव्य ने शिकार की निंदा कर-करके हमारा उत्साह ठंडा
 कर दिया है।

सेनापति : (अलग से)

मित्र माधव्य, तुम अपनी बात पर अड़े रहना, दूसरी ओर मैं स्वामी
 के मन की बात करता हूँ। (प्रकट) स्वामी, यह मूर्ख तो ऐसे ही
 बकता है। अब आप ही देखिए न—

मेद छँट जाने से
 उदर क्षीण होता है
 और शरीर में
 उत्साह भरा रहता है;
 पशुओं में
 भय और क्रोध की
 अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ
 देखने का अवसर मिलता है,
 और
 चंचल लक्ष्य पर
 निशाना साधने से
 धनुष चलाने का
 वास्तविक उत्कर्ष

सामने आता है।
 वे झूठे हैं
 जो
 मृगया को
 एक व्यसन बताते हैं :
 इससे अच्छा
 दूसरा मनोरंजन
 और हो ही क्या सकता है?

विदूषक : (रोष के साथ)

हट रे, बड़ा आया उत्साह दिलानेवाला। महाराज वास्तविकता जान
 गए हैं। अब जा दासी के बेटे, तू एक वन से दूसरे वन में घूमता
 फिर। देखना, सियारों और हरिणों की बाट में जीभ लपलपाता कोई
 बूढ़ा रीछ तुझे खाएगा।

दुष्यंत : हम इस समय आश्रम के निकट हैं, सेनापति, इसलिए मैं तुम्हारी
 बात नहीं मान रहा। अब तो—

भैंसों को
 सींगों से मथे
 सरोवर के पानी में
 नहाने दो
 हरिणों को
 पेड़ों की छाया में
 जमा होकर
 जुगाली करने दो;
 बड़े-बड़े शुकरो को
 निश्चित होकर
 पोखरों में नहाते हुए
 मोथा उखाड़ने दो;
 और
 हमारे धनुष को,
 इसकी डोरी ढीली करके
 कुछ समय
 विश्राम करने दो।

सेनापति : आप स्वामी हैं, जैसी आपकी इच्छा।

दुष्यंत : इसलिए आगे गए धनुर्धारियों को वापस बुला लो। सैनिकों को मना कर दो कि वे तपोवन को घेरें नहीं, और वहाँ से दूर ही रहें। देखो—

शांत हैं ये तपोवन
किंतु
इनमें कहीं निहित है
एक तेज
जो कि
कभी भी सुलग सकता है।
शीतल होते हुए भी
सूर्यकांत मणि
धूप की गरमी पड़ने से
सहसा
दहक उठती है।

सेनापति : जैसी स्वामी की आज्ञा।

विदूषक : आया था न उत्साह दिलाने! चल, अब निकल यहाँ से।

सेनापति चला जाता है।

दुष्यंत : (अनुचरों की ओर देखकर)

आप लोग शिकार का वेश उतार दें। रैवतक, तुम भी अब अपने काम में लगे।

रैवतक : जैसी महाराज की आज्ञा।

चला जाता है।

विदूषक : आपने-तो सबको भगा दिया—एक मक्खी तक यहाँ नहीं रही। तो आइए, यहाँ चँदोवे जैसी वृक्ष की छाया में यह एक शिला है, इस पर बैठ जाइए। मैं भी कुछ देर सुख से बैठ लूँ।

दुष्यंत : तो तुम आगे चलो।

विदूषक : आइए, इधर से आइए।

घूमकर दोनों बैठ जाते हैं।

दुष्यंत : मित्र माधव्य, तुमने आँखों का कुछ फल नहीं पाया क्योंकि सृष्टि का सबसे अपूर्व सृजन तो तुमने देखा ही नहीं।

विदूषक : वह तो आप ही हैं जो मेरे सामने बैठे हैं।

दुष्यंत : अपने को तो सभी सुंदर समझते हैं, परंतु मैं शकुंतला की बात कर रहा हूँ जो इस आश्रम की शोभा है।

विदूषक : (स्वगत)

होगी, पर मैं इसके प्रणय को बढ़ावा नहीं दूँगा। (प्रकट) सुनो, तपस्वी,
कन्या होने से जिसे पाया नहीं जा सकता, उसे देखने से लाभ?

दुष्यंत : छिः! मूर्ख!

मुँह ऊपर को उठाकर

अपलक आँखों से

नई चंद्रकला को

विश्व

भला

किस भावना से देखता है?

फिर दुष्यंत का मन कभी किसी ऐसी वस्तु पर नहीं आ सकता
जिसकी कामना वर्जित हो।

विदूषक : बात ज़रा खोलकर बताओ।

दुष्यंत : सुंदर अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न

वह

एक मुनि की

छोड़ी हुई संतान है

जिसका

किसी और ने भरण किया है।

टहनी से टूटा

नवमालिका का फूल है वह

जो

संयोग से

आक की पत्तियों में

आ गिरा है।

विदूषक : (हँसकर)

अच्छा, अच्छा, तो जैसे खजूर से अघाकर इमली खाने को मन
होता है, उसी तरह अंतःपुर की सुंदरियों का उपभोग करने के बाद
अब आपका इस तापसी के लिए मन हो आया है!

दुष्यंत : मित्र, तुमने उसे देखा नहीं, इसीलिए ऐसा कह रहे हो।

विदूषक : होगी तो वह सुंदर ही जिसने आपको भी इस तरह चमत्कृत कर
दिया है।

दुष्यंत : अधिक क्या कहूँ मित्र?

एक ओर
 विधाता की सामर्थ्य
 और दूसरी ओर
 उसका रूप
 लगता है कि
 सौंदर्य के सभी उपादानों को
 मन में लाकर
 रूप के विशेष संचय से ही
 विधाता
 इस कोमलांगी की
 रचना कर पाया है।
 तभी तो न ऐसी
 रत्नराशि-सी
 एक अलग ही नारी सृष्टि
 संभव हो सकी है।

विदूषक : इसका अर्थ यह हुआ कि वह शेष सभी सुंदरियों से बढ़कर है!

दुष्यंत : मेरे मन की प्रतिक्रिया तो यह है कि...

फूल है वह
 जिसे किसी ने सूँघा नहीं,
 कोंपल है
 जिसे किसी नाखून ने कभी छीला नहीं,
 रत्न है
 जिसे कभी बीँधा नहीं गया,
 और
 शहद है
 जिसका रस कभी किसी ने चखा नहीं।
 न जाने किसके
 अखंड पुण्यों का
 फल है उसका रूप,
 और न जाने
 संसार में
 किसका भाग्य होगा
 कि उसका वरण करे।

विदूषक : तब तो जल्दी ही कीजिए। ऐसा न हो कि वह हिंगोट के तेल से चिकने सिर वाले किसी तपस्वी के हाथ में जा पड़े।

दुष्यंत : वह बेचारी पराधीन है और उसके अभिभावक यहाँ हैं नहीं।

विदूषक : अच्छा यह तो बताओ कि तुम्हारे प्रति उसका अनुराग कैसा है?

दुष्यंत : मित्र, तपस्वी-कन्याएँ स्वभाव से ही भोली होती हैं। फिर भी—

मेरे सामने रहते
उसने मेरी ओर देखा भी
तो केवल
मुँदी-मुँदी आँखों से,
किंतु
दूसरी किसी बात पर
बिना कारण
अनायास ही हँस दी।
इस तरह
विनय के आवरण में रहकर
अपनी कामना को
उसने
न तो प्रकट ही किया
और
न छिपा ही सकी।

विदूषक : (हँसकर) तो क्या देखते ही आपकी गोद में आ बैठती?

दुष्यंत : फिर भी सखियों के साथ लौटकर जाते हुए उसने कई-कई बहानों से अपनी भावना अंशतः प्रकट कर ही दी थी।

पग-दो पग चलकर ही
सहसा
बिना कारण
वह ठिठक गई
कि
उसके पाँव में
काँटा गड़ गया है।
वल्लकल
पेड़ की शाखा में उलझा नहीं था,

फिर भी
उसे छुड़ाती
वह मेरी ओर मुँह किए
कुछ पल रुकी रही।

विदूषक : तो कुछ पाथेय तो उसने तुम्हें दे ही दिया। लगता है कि ब्रह्म
रंगीन तपोवन है यह।

दुष्यंत : देखो, कुछ तपस्वियों ने मुझे यहाँ पहचान लिया है। अब कोई ऐसा
बहाना सोचो जिससे फिर से आश्रम में जाया जा सके।

विदूषक : आप राजा हैं, आपको क्या बहाना चाहिए?

दुष्यंत : राजा होने से क्या होता है?

विदूषक : जाकर कहें कि तपस्वी लोग आपको अपनी फसल का छठा भाग
दें।

दुष्यंत : मूर्ख, तपस्वी मुझे एक और ही फसल का छठा भाग देते हैं
जिसका मूल्य रत्नों से भी बढ़कर है। देखो—
चार वर्णों के लोग

राजा को

जो कर देते हैं,

वह नश्वर है;

केवल तपस्वी ही

तप के छठे भाग के रूप में

उसे एक

अनश्वर कर दिया करते हैं।

नेपथ्य से : वाह! तब तो हमारी मनोकामना पूरी हो गई।

दुष्यंत : (सुनकर)

अरे! ऐसा सौम्य स्वर तो तपस्वियों का ही हो सकता है।

दौवारिक का प्रवेश।

दौवारिक : स्वामी की जय हो। दो ऋषिकुमार प्रतिहार-भूमि में उपस्थित हैं।

दुष्यंत : उन्हें तुरंत यहाँ भेज दो।

दौवारिक : जैसी स्वामी की आज्ञा।

जाकर ऋषिकुमारों के साथ

पुनः प्रवेश करता है।

आइए, इधर से आइए।

दोनों ऋषिकुमार राजा की ओर देखते हैं।

एक ऋषिकुमार : शरीर इतना दीप्तिमान है, फिर भी इसमें कितनी विश्वसनीयता है!

या फिर इस ऋषितुल्य राजा के यह अनुरूप ही है। क्योंकि—

ऋषि है यह भी,

केवल

‘राजा’ का शब्द

अतिरिक्त है;

अन्यथा

सर्वभोग्य आश्रम में

इसका भी आवास है;

रक्षायोग से

प्रतिदिन

तप का संचय

यह भी करता है;

और

इन संयमी के अधिष्ठान में भी

चारणों के द्वंद्वगीत

आकाश की

सीमाओं को छूते हैं।

दूसरा ऋषिकुमार : मित्र, तो यही हैं इंद्र के सखा दुष्यंत?

पहला ऋषिकुमार : हाँ यही हैं।

दूसरा ऋषिकुमार : आश्चर्य नहीं

कि अकेले ही ये

नगर-द्वार की अर्गला जैसी

अपनी भुजाओं से

श्यामल समुद्र की सीमापर्यंत

सारी धरती का

शासन करते हैं,

क्योंकि

दैत्यों के साथ युद्ध में

देवताओं को

केवल

दो का ही भरोसा रहता है—

एक

इंद्र के वज्र का,
और दूसरे
इनके खिंचे हुए धनुष का।

दोनों ऋषिकुमार : (पास आकर)
राजा, आप विजयी हों।

दुष्यंत : (आसन से उठकर)
मैं अभिवादन करता हूँ।

दोनों ऋषिकुमार : आपका कल्याण हो!

फल लाकर रखते हैं।

दुष्यंत : (प्रणाम करके और फल लेकर)
मैं आपके आने का प्रयोजन जानने को उत्सुक हूँ।

दोनों ऋषिकुमार : तपस्वियों को आपके यहाँ आने का पता है। वे आपसे कुछ
निवेदन करना चाहते हैं।

दुष्यंत : क्या आज्ञा है उनकी?

दोनों ऋषिकुमार : कुलपति कण्व के यहाँ न होने से इन दिनों राक्षस हमारे यज्ञ में
विघ्न डाल रहे हैं। अतः प्रार्थना है कि सारथी के साथ कुछ दिन
यहीं रहकर आश्रम की रक्षा करें।

दुष्यंत : मैं इस आदेश से अनुगृहीत हूँ।

विदूषक : (अलग से)

यह तो इन्होंने जैसे गले पर हाथ रखकर तुम्हारी मनोकामना पूरी
कर दी।

दुष्यंत : (मुसकराकर)

रैवतक, मेरी ओर से सारथी को आदेश दो कि धनुष-बाण के साथ
रथ लेकर उपस्थित हो।

रैवतक : (आकर)

जैसी देव की आज्ञा।

चला जाता है।

दोनों ऋषिकुमार : (हर्षपूर्वक)

अपने पूर्वजों की परंपरा में
तुम्हारा यह व्यवहार
संगत ही है
क्योंकि
जो विपत्ति में हों

उन्हें अभय दान देने में
पौरव
सदा से दीक्षित हैं।

दुष्यंत : (प्रणाम करके)

आप चलें। मैं बस पीछे-पीछे ही आ रहा हूँ।

दोनों ऋषिकुमार : तुम्हारी जय हो!

चले जाते हैं।

दुष्यंत : क्यों माधव्य, तुम्हें है उत्सुकता शकुंतला को देखने की?

विदूषक : पहले तो इसमें कोई बाधा नहीं थी, पर अब राक्षसों की बात सुनकर बाधा आ पड़ी है।

दुष्यंत : डरो नहीं, तुम मेरे पास ही रहोगे।

विदूषक : अच्छा तो मैं तुम्हारे पहिए की रक्षा करूँगा, जब तक कि कोई आकर मुझे वहाँ से भगा नहीं देता।

दौवारिक : (आकर)

स्वामी की जय हो। स्वामी के विजय-प्रयाण के लिए रथ प्रस्तुत है। पर नगर से राजमाताओं का आदेश लेकर करभक आया है।

दुष्यंत : (आदरपूर्वक)

माताओं ने उसे आदेश देकर भेजा है?

दौवारिक : हाँ, स्वामी!

दुष्यंत : तो उसे शीघ्र ले आओ।

दौवारिक : जैसी आज्ञा।

जाकर पुनः करभक के साथ आता है।

ये रहे स्वामी। आप पास जा सकते हैं।

करभक : (पास आकर और प्रणाम करके)

स्वामी की जय हो। माताओं की आज्ञा है कि...

दुष्यंत : क्या आज्ञा है?

करभक : ...कि आज से चौथे दिन पुत्रपिंडपालन नामक उपवास होगा। उस दिन आयुष्मान् अवश्य वहाँ उपस्थित रहें जिससे उन्हें संतोष हो।

दुष्यंत : इधर तपस्वियों का आदेश है, उधर माताओं की आज्ञा। उल्लंघन दोनों का ही नहीं किया जा सकता। तो ऐसे में क्या करना उचित होगा?

विदूषक : त्रिशंकु की तरह बीच में लटके रहना!

दुष्यंत : सच, मन में व्याकुलता भर गई है।

दोनों कार्य
 दो अलग-अलग स्थानों पर है,
 इसलिए
 मन उसी तरह बँट गया है,
 जैसे
 नदी का प्रवाह
 सामने की चट्टान से टकराकर
 दो भागों में बँट जाता है।

(सोचकर) मित्र माधव्य, माताएँ तुम्हें भी पुत्र की तरह मानती हैं, इसलिए मेरी जगह तुम लौटकर चले जाओ। माताओं से कह देना कि मुझे तपस्वियों के कार्य से यहाँ रुकना पड़ गया है। पुत्र के रूप में जो भी अनुष्ठान करना हो, वह तुम्हीं कर देना।

विदूषक : देखो, कहीं यह मत समझना कि मैं राक्षसों से डरता हूँ।

दुष्यंत : (मुसकराकर)

महाब्राह्मण, तुम्हारे बारे में ऐसा कोई सोच भी सकता है?

विदूषक : जाना है, तो मैं राजा के छोटे भाई की तरह जाना चाहूँगा।

दुष्यंत : तपोवन के कार्य में बाधा न पड़े, इसलिए अपने पीछे आए सैनिकों को भी तुम्हारे साथ ही भेज रहा हूँ।

विदूषक : (गर्व के साथ)

तब तो हम अब युवराज हो गए!

दुष्यंत : (स्वगत)

यह ब्राह्मण है बहुत चंचल, कहीं वहाँ जाकर हमारे प्रणय की बात अंतःपुर में न कह दे। तो इसे इस तरह समझा दूँ। (विदूषक का हाथ पकड़कर, प्रकट) देखो माधव्य, मैं ऋषियों के गौरव की रक्षा के लिए ही आश्रम में रुक रहा हूँ, उस तापस कन्या के लिए मेरे मन में तनिक भी अभिलाषा नहीं है।

कहाँ हम

और

कहाँ वह बाला

जो हरिणों के छौनों के साथ पली है!

वासना क्या है

इसका तो उसे

तनिक भी आभास नहीं।

वह तो
हँसी की बात थी मित्र,
जो मैंने तुमसे यूँ ही कही थी;
कहीं
तुम उसे
सच ही न मान लेना!

विदूषक : आप ऐसा कहते हैं, तो यही ठीक होगा!

दुष्यंत : तो माधव्य, तुम अपनी तैयारी में लगे, मैं तपोवन की रक्षा के
लिए उस ओर जाता हूँ।

चले जाते हैं।

॥ दूसरा अंक ॥

अंक : तीन

[ऋषि कण्व का आश्रम]

महि : कांठ

(महाराष्ट्र का एक गाँव)

कुशा हाथ में लिये कण्व के
एक शिष्य का प्रवेश।

शिष्य : (सोचते हुए, विस्मय के साथ)

कितना प्रभाव है राजा दुष्यंत का! सारथी के साथ उनके आश्रम
में आते ही हमारे यज्ञ आदि की सभी बाधाएँ दूर हो गईं।

बाण खींचने की
तो बात ही अलग
एक हुंकार जैसे
उनके धनुष की डोरी के
शब्द से ही
बाधाएँ
अपने-आप
दूर हो जाती हैं।

तो वेदी पर बिछाने के लिए यह कुशा याजकों को दे आऊँ। (धूमकर
और देखकर, आकाश की ओर) क्यों प्रियंवदा, यह खस का लेप
और डंडियों सहित कमल की पत्तियाँ किसके लिए ले जा रही हो?
(सुनने का अभिनय करके) क्या कहा? धूप खा जाने से शकुंतला
का शरीर बहुत अस्वस्थ है, उसे ठंडक पहुँचाने के लिए? हाँ, प्रियंवदा,
बहुत यत्न से उसकी देखभाल करो, वह तो कुलपति कण्व के दूसरे
प्राण की तरह है। मैं भी अभी आर्या गौतमी के हाथ उसके लिए
यज्ञ का शांति जल भिजवाता हूँ।

चला जाता है।

विष्कम्भक

कामावस्था में राजा दुष्यंत का प्रवेश।

दुष्यंत : (निःश्वास छोड़कर, सोचता हुआ)

परिचित हूँ
तापस तेज की प्रचंडता से;
वह बाला पराधीन है,
यह भी जानता हूँ;
फिर भी
नीचे को बहते पानी-सा मन
उस दिशा से अब
लौटकर नहीं आता।

भगवन् कामदेव! फूलों का धनुष और तीक्ष्णता! (जैसे स्मरण हो
आने से) हाँ, समझ में आ गया।

समुद्र के गर्भ में
बड़वानल की तरह
आज भी
शिव के क्रोध की ज्वाला
तुममें जल रही है;
अन्यथा
भस्म होने के बाद भी
काम,
तुम
मेरे-जैसों के लिए
इतने उत्तापकारी न होते।

इसके अतिरिक्त तुम और चंद्रमा मिलकर कामियों के विरुद्ध षड्यंत्र
रचते हो, यद्यपि उन्हें तुम दोनों पर इतना भरोसा है।

तुम्हारे बाण फूलों के हैं,
और
चाँद की किरणें शीतल—
यह
मेरे-जैसे व्यक्ति के लिए सच नहीं।
चाँद
मुझ पर
किरणों से आग बरसाता है,
और तुम
अपने फूलों के बाण

वज्र-से कठोर बनाकर छोड़ते हो।

अथवा

प्रिय है मुझे

काम का दिया

यह अविरत मानसिक ताप

यदि

पहले वह

उसे लक्ष्य करने के बाद

फिर

मुझ पर प्रहार करता।

भगवन् काम! मेरे इतना उलाहना देने पर भी तुम्हें मुझ पर दया नहीं आती।

अनंग,

शत-शत संकल्पों से

व्यर्थ ही

मैंने तुम्हारा

मन में इतना पोषण किया है!

बदले में

यही तो न सोहता है तुम्हें

कि

कान तक धनुष खींचकर

तुम

मुझी पर

अपने वाण बरसाओ।

(धूमकर, खेदपूर्वक) विघ्न समाप्त हो जाने से तपस्वियों ने यहाँ से जाने की अनुमति दे दी है। मन अशांत है, अब कहाँ चलकर इसे बहलाऊँ? नहीं, अपनी प्रिया को देखे बिना मुझे शांति नहीं मिल सकती। तो उसी को खोजता हूँ। (ऊपर की ओर देखकर) चमकती धूप का यह समय शकुंतला प्रायः सखियों के साथ मालिनी तट के लताकुंजों में बिताती है। तो उसी ओर चलता हूँ। (धूमकर और देखकर) लगता है अभी-अभी वह कोमलांगी पौधों के बीच की इस पगडंडी से होकर गई है, क्योंकि—

उसके चुने फूलों के वृंत

अभी
खुले ही हैं,
और उसके तोड़े पत्तों की डंडियाँ
अभी तक
दूधिया बनी हैं।

(हवा के स्पर्श-सुख का अभिनय करके) ओह! इस वनस्थली में
कितनी अच्छी हवा चलती है!

मालिनी की
लहरों के कण अपने में लिये
और
कमलों की सुवास,
यह हवा ऐसी है
कि इसे
अपने कामना से तपे अंगों पर
खुलकर सहना
रुचिकर लगता है।

(देखकर) हाँ, यहीं बेंत के लतामंडप में शकुंतला को होना चाहिए,
क्योंकि—

बाहर
पीली रेत पर
उसकी पदपंक्ति के
नए-नए निशान हैं,
जो
आगे से कम गहरे
और
पीछे से
जाँघों के भार के कारण
आधिक गहरे हैं।

तो पेड़ की ओट में रहकर देखता हूँ। (वैसा करके, हर्षपूर्वक)
ओह! आँखें जैसे सार्थक हो उठीं! यह रही वह सामने फलों से
ढँके शिलाखंड पर। सखियाँ इसकी परिचर्या कर रही हैं। तो यहीं
लताओं के पीछे छिपा इनकी अंतरंग बातें सुनता हूँ।

देखता हुआ खड़ा रहता है
निर्दिष्ट रूप में सखियों के साथ
शकुंतला का प्रवेश।

अनसूया

प्रियंवदा : (हवा करती हुई)

क्यों शकुंतला, कमलिनी के पत्तों की हवा से कुछ सुख मिल रहा है?

शकुंतला : (खेदपूर्वक)

तुम लोग मुझ पर हवा कर रही हो?

अनसूया और प्रियंवदा विषादपूर्वक
एक-दूसरी की ओर देखती हैं।

दुष्यंत : लगता है बहुत अस्वस्थ है बेचारी! (सोचते हुए) क्या धूप खा जाने से ऐसा हुआ है, या इसकी भी मेरे ही जैसी स्थिति है? (अभिलाषा के साथ देखकर) नहीं, मुझे संदेह नहीं करना चाहिए।

स्तनों पर

खस का लेप,

और

ढीला मृणाल का वलय;

किंतु

इस संताप में भी

प्रिया के शरीर की कांति

मंद नहीं हुई।

चाहे

एक-सा होता है ताप

ग्रीष्म-ज्वर

और काम-ज्वर का,

फिर भी

ग्रीष्म-ज्वर का ताप

युवतियों को

इस तरह

रमणीय नहीं बना देता।

प्रियंवदा : (अलग से)

लगता है अनसूया, कि उस राजर्षि को पहली बार देखने के समय

से ही शकुंतला का मन अव्यवस्थित है, इसमें और किसी तरह की आशंका की बात नहीं।

अनसूया : मुझे भी ऐसा ही आभास होता है। तो इसी से क्यों न पूछ लूँ? (प्रकट) तुझसे कुछ पूछना है, शकुंतला! लगता है तू शरीर में बहुत ताप अनुभव कर रही है?

दुष्यंत : हाँ, ऐसा ही तो लग रहा है।

चाँद की किरणों से उज्ज्वल
मृणाल के वलय
धुआँरे पड़कर
टूट गए हैं,
और
शरीर के
अतिशय ताप का
परिचय देते हैं।

शकुंतला : (शरीर का ऊपरी भाग शय्या से उठाकर)

हाँ, पर तू और क्या पूछना चाहती है?

अनसूया : देख, तेरे मन की बात तो हम नहीं जानतीं। परंतु ऐतिहासिक कथा-काव्यों से कामियों की अवस्था के विषय में जैसा कुछ जाना-सुना है, वैसी ही तेरी अवस्था जान पड़ती है। तो बता, तेरे इस कष्ट का वास्तविक कारण क्या है? जब तक रोग का ही ठीक से पता न चले, तब तक तो निदान आरंभ भी नहीं किया जा सकता।

दुष्यंत : अनसूया ने जैसे मेरे ही मन का तर्क ले लिया है।

शकुंतला : कष्ट बहुत है, मैं तुम्हें सहसा न बता सकूँगी।

प्रियंवदा : अनसूया ठीक कह रही है। क्यों तू अपनी पीड़ा को इस तरह छिपाए हुए है? प्रतिदिन तू पहले से दुबली होती जा रही है। केवल लावण्य की छाया ही तेरे अंगों को नहीं छोड़ रही।

दुष्यंत : ठीक कहा है प्रियंवदा ने।

कपोल
कांतिहीन हो गए हैं,
और
स्तनों में
वह पहली-सी उठान नहीं रही;

कटि
 और भी क्षीण हो गई है,
 कंधे
 ढीले पड़ गए हैं,
 और
 रंग में
 पीलापन घिर आया है।
 काम के विकार से
 यह बाला
 संताप सहती हुई भी,
 पहले से सुंदर हो उठी है।
 एक माधवीलता है यह
 जिसके पत्ते
 लू लगने से
 कुम्हला गए हैं।

शकुंतला : (निःश्वास छोड़कर)

तुमसे नहीं, तो और किससे कहूँगी? परंतु मेरे कारण तुम लोगों
 को व्यर्थ ही दुःख होगा।

अनसूया

प्रियंवदा : इसीलिए तो आग्रह कर रही हैं। अपने लोगों से दुःख बाँट लिया
 जाए, तो उसे सहना उतना कठिन नहीं रहता।

दुष्यंत : सुख-दुःख की सहचरियों के पूछने पर
 उनसे यह
 मन की बात कहेगी अवश्य,
 किंतु
 उस दिन
 इसके बार-बार घूमकर देखने पर भी,
 इस समय कान
 इसका उत्तर सुनने को
 कितने उत्कण्ठित हैं!

शकुंतला : जब से तपोवन के रक्षक उस राजर्षि पर दृष्टि पड़ी
 है...

आधी बात कहकर लजा जाती है।

अनसूया

प्रियंवदा : हाँ, हाँ, कहती रह।

शकुंतला : तभी से उसे पाने की आकांक्षा से मेरी यह अवस्था हो रही है।

अनसूया

प्रियंवदा : अनुरूप वर के लिए ही तेरे मन में कामना जागी है। एक महानदी सागर को छोड़कर और कहाँ आश्रय ढूँढ़ सकती है?

दुष्यंत : (हर्षपूर्वक)

जो सुनना चाहा था वही सुनने को मिल गया।

गरमी से तपता दिन

स्वयं ही

विश्व के लिए

बादलों की छाया ले आता है;

जिस काम ने मुझे इतना तपाया है,

वही इस समय

मुझे

शांति भी दे रहा है।

शकुंतला : उस राजर्षि की अनुकंपा पाने के लिए, जैसे तुम लोग परामर्श दोगी वैसे ही मैं करूँगी। अन्यथा, बस मुझे याद ही कर लिया करना।

दुष्यंत : इसके यह कहने से अब तनिक भी संदेह नहीं रहा। काम व्यक्ति को यहीं तक तो ला सकता है, इससे आगे सबकुछ प्रयत्न पर निर्भर है। इस समय इसे इस अवस्था में देखकर भी मुझे सुख मिल रहा है।

प्रियंवदा : (अलग से)

इसकी कामना बहुत दूर तक बढ़ चुकी है। यह अब और तनिक भी विलंब सहन नहीं कर सकती।

अनसूया : पर ऐसा क्या उपाय करें जिससे किसी को पता भी न चले, और तुरंत इसकी कामना पूर्ति भी हो सके?

प्रियंवदा : किसी को पता न चले, यही बात सोचने की है। तुरंत पूर्ति में कोई बाधा नहीं है।

अनसूया : यह कैसे कहती है तू?

प्रियंवदा : उस दिन उस राजर्षि की आँखों में तूने उसकी कामना का भाव नहीं देखा था? आजकल वह जिस तरह दुबला रहा है, उससे लगता है कि उसे भी इन दिनों नींद नहीं आती।

दुष्यंत : (अपने को देखकर)

हाँ, ठीक ही तो है।

रात-रात

आँखें

मानसिक ताप के गरम आँसुओं से

भीगी रहती हैं,

और

उन पर रखे हाथ में पहन

सोने का कंगन,

मैला और बदरंग होकर,

बार-बार

नीचे को वहाँ गिरा आता

जहाँ

धनुष की कसी डोरी खींचने का निशान,

मणिबंध से ढँका है;

और तब

उस गिरते कंगन को

बार-बार

वहाँ से

ऊपर ले जाना पड़ता है।

प्रियंवदा : (सोचती हुई)

मेरे विचार में इससे एक प्रणय-पत्र लिखवाना चाहिए। मैं उसे फूलों में छिपाकर देवपूजा के बहाने राजा के हाथ में दे आऊँगी।

अनसूया : हाँ, मुझे भी यह कोमल उपाय अच्छा लग रहा है। शकुंतला से पूछ, यह क्या कहती है।

शकुंतला : तुम लोगों की बात पर मैं आपत्ति करूँगी?

प्रियंवदा : तो अपनी अवस्था का निरूपण करते हुए सुंदर पदावली की एक अच्छी-सी गीतिका सोच डाल।

शकुंतला : सोचती हूँ। परंतु हृदय काँपता है। कहीं वह मेरा तिरस्कार कर दे, तो?

दुष्यंत : (हँसकर)

भीरु

तेरे समागम के लिए उत्कण्ठित

वह व्यक्ति
 यहीं खड़ा है
 जिससे तुझे तिरस्कार की आशंका है।
 याचक को
 लक्ष्मी मिले न मिले
 परंतु
 लक्ष्मी जिसे चाहे
 वह
 लक्ष्मी को न मिले,
 ऐसा कभी संभव है?
 और
 हाथी के बच्चे की सूँड-सी जाँघोंवाली
 सुंदरी
 जिससे तुझे आशंका है
 कि वह कहीं तेरे प्रणय को
 अस्वीकार न कर दे,
 वह व्यक्ति,
 प्रणय के लिए उत्सुक,
 यहीं खड़ा है।
 रत्न
 पारखी को नहीं खोजता,
 पारखी ही
 रत्न की खोज में जाता है।

अनसूया

प्रियंवदा : तू चाहे अपने गुणों को छोटा करके देख पर संताप मिटानेवाली
 शरत् की चाँदनी को कौन छत्र लेकर अपने से दूर रखना चाहेगा?

शकुंतला : (मुसकराकर)

तो ठीक है, मैं ऐसा ही करती हूँ।

दुष्यंत : कितनी अच्छी जगह खड़ा होकर मैं अपलक आँखों से इसे देख
 पा रहा हूँ।

इसकी आँखें

पद-रचना में लीन हैं

और

एक भौंह ऊपर को उठी है।

ऐसे में भी

कपोल का रोमांच

मेरे प्रति इसकी भावना का

परिचय दे रहा है।

शकुंतला : देखो, एक गीतिका मैंने सोच ली है। परंतु लिखने की सामग्री तो यहाँ है ही नहीं।

प्रियंवदा : यह कमलिनी का पत्ता है न—तोते के पेट की तरह कोमल। इसी पर अपने नखों से एक-एक अक्षर बनाकर लिख डाल।

शकुंतला : (तदनुसार लिखने का अभिनय करके)
लो, सुनो। देखो ठीक बन पड़ी है या नहीं।

अनसूया

प्रियंवदा : हम सुन रही हैं।

शकुंतला : (पढ़कर सुनाती हुई)

तेरे हृदय की बात

मैं नहीं जानती,

निष्ठुर,

किंतु मेरे हृदय को

रात-दिन

काम की ज्वाला

बुरी तरह

तपाती है।

मेरे अंगों के

हर मनोरथ की पूर्ति

अब तेरे,

केवल तेरे

हाथ में है।

दुष्यंत : यही अवसर है इसके सामने आने का। (सहसा सामने आकर)

कोमलांगि,

बुझे काम की ज्वाला

केवल तपाती है

किंतु मुझे वह

सर्वथा

जलाए देती है।
 चढ़ता दिन
 चाँद को जिस तरह गलाता है,
 उस तरह
 कमलिनी को नहीं जला पाता।

अनसूया

प्रियंवदा : (राजा को देखकर प्रसन्नता से उठती हुई)

ओह! तत्काल और मनचाहा फल लानेवाले मनोरथ हैं आप!
 स्वागत है आपका।

शकुंतला उठने का प्रयत्न करती है।

दुष्यंत : नहीं, नहीं, यह कष्ट मत करो।

बहुत ताप है तुम्हारे अंगों में

जिससे

ये फूल कुम्हला गए हैं

और

मृणाल के वलय मसलकर टूट गए हैं।

नहीं, उठो नहीं,

तुम्हारे ये अंग

इस समय

उपचार का पालन नहीं कर सकते।

शकुंतला : (कुछ अव्यवस्थित भाव से, स्वगत)

क्या हुआ है हृदय, तब तो तू इतना व्याकुल था, और अब तुझसे
 कुछ भी नहीं कहा जा रहा?

अनसूया : आप यहाँ विशालखंड के सिरे पर बैठ जाएँ।

शकुंतला थोड़ा सरक जाती है।

दुष्यंत : (बैठकर)

आपकी सखी को शरीर के ताप से बहुत कष्ट तो नहीं?

प्रियंवदा : (मुसकराकर)

अब औषधि मिल गई है, शांत हो जाएगा।

शकुंतला लजा जाती है।

देखिए, यह तो स्पष्ट है कि आप दोनों के मन में एक-दूसरे के
 लिए अनुराग है। फिर भी इसके प्रति स्नेह मुझे दोहराकर कहने
 के लिए विवश कर रहा है।

दुष्यंत : बात को आप रोकें नहीं, मुँह पर आई बात कही न जाय, तो उससे दुःख ही होता है।

प्रियंवदा : तो सुनें...

दुष्यंत : मैं ध्यान से सुन रहा हूँ।

प्रियंवदा : धर्म वही है न कि राजा को आश्रमवासियों का संताप दूर करना चाहिए?

दुष्यंत : बताएँ, मुझसे क्या चाहती हैं?

प्रियंवदा : आपके प्रति अनुराग के कारण ही इसकी यह दशा हुई है, इसलिए इसके प्राण आपकी कृपा पर ही निर्भर हैं।

दुष्यंत : परंतु यह अनुराग तो दोनों ओर से है। फिर भी यह सुनकर मैं अनुगृहीत हूँ।

शकुंतला : (अनसूया की ओर देखकर)

देखो, राजर्षि अपने अंतःपुर के विरह से व्याकुल होंगे, तुम इस तरह इन्हें रोकने की चेष्टा मत करो।

दुष्यंत : केवल तुम्हीं
मेरे हृदय में हो,
अब
और किसी के लिए
यहाँ स्थान नहीं;
मतवाले खंजन की-सी आँखोंवाली
सुंदरी!
तुम यदि कुछ और सोचती हो,
तो काम के बाणों से आहत मैं / अब
और भी आहत हूँ।

अनसूया : सुना है राजाओं के बहुत-बहुत प्रणय होते हैं। इसलिए ऐसा कुछ न हो जिससे इसके बंधुओं को बाद में इसके लिए चिंतित होना पड़े।

दुष्यंत : अब अधिक क्या कहूँ?
बहुत-सी पत्नियों के रहते भी
मेरे कुल की
दो ही प्रतिष्ठाएँ होंगी,
एक
समुद्र से घिरी पृथ्वी,

और दूसरी,
आपकी यह सखी।

अनसूया

प्रियंवदा : यह सुनकर हम निश्चित हुई।

शकुंतला के मुख पर प्रसन्नता
की रेखाएँ दिखाई देती हैं।

प्रियंवदा : (अलग से)

देख अनसूया, जैसे गरमी में बरसाती हवा का स्पर्श पाकर मोरनी
के प्राण धीरे-धीरे लौटने लगते हैं, कुछ वैसी ही स्थिति शकुंतला
की हो रही है।

शकुंतला : देखो, तुम लोग राजा से क्षमा माँगो। हम शिष्टाचार को भूलकर
खुले मुँह इनके पीछे जाने क्या-क्या बकती रही हैं।

अनसूया

प्रियंवदा : (मुसकराकर)

जिसने ऐसा कुछ कहा है, वही क्षमा माँगे, किसी और को क्या
पड़ी है!

शकुंतला : अपराध क्षमा करें। पीठ पीछे कौन क्या नहीं कहता?

दुष्यंत : (मुसकराकर)

कदली-सी जाँघोंवाली

सुंदरी,

क्षमा कर सकता हूँ

यह अपराध

यदि तुम

यहाँ

अपने अंगों से मसले फूलों के आस्तरण पर,

अपना मानकर,

मुझे

थोड़ा-सा स्थान दे दो,

और मुझे

मन का संताप

मिटाने दो।

प्रियंवदा : (परिहास के स्वर में)

बस इतने से ही संतुष्ट हो जाइएगा?

शकुंतला : (जैसे क्रोध से)

ठहर, ठहर, लाज तो तुझे जैसे छू नहीं गई। मेरी यह अवस्था है और तुझे फिर भी हँसी सूझ रही है!

अनसूया : (बाहर की ओर देखकर)

देख प्रियंवदा...वह बेचारा हरिण शावक इधर-उधर आँखें घुमाता अपनी खोई हुई माँ को ढूँढ़ रहा है। चलकर मैं उसे उसकी माँ से मिला दूँ।

प्रियंवदा : बहुत चंचल है यह शावक! तुझ अकेली से यह सँभलेगा नहीं। मैं भी साथ चलकर तेरी सहायता करती हूँ।

दोनों उठकर चल देती हैं।

शकुंतला : मैं तुम दोनों को यहाँ से नहीं जाने दूँगी। देखती नहीं मैं अकेली हूँ यहाँ?

अनसूया

प्रियंवदा : राजा तेरे पास हैं, फिर तू अकेली किस तरह है?

चली जाती हैं।

शकुंतला : अरे, ये तो सचमुच चली गई!

दुष्यंत : घबराओ नहीं। उनके स्थान पर तुम्हारा यह सेवक यहाँ उपस्थित है। बताओ—

क्या करूँ?

कमल के भीगे पत्ते से

तुम्हें हवा करूँ,

जिससे

नन्ही-नन्ही बूँदें बिखरें

और तुम्हारा संताप दूर हो?

या

लाल कमल-से दोनों पैर

गोदी में लेकर

धीरे-धीरे दबाऊँ

जिससे

तुम्हें कुछ सुख मिल सके?

शकुंतला : न, एक सम्माननीय व्यक्ति को ऐसे काम में लगाकर मैं अपराधिनी नहीं बनूँगी।

उस अवस्था में जैसा बन पड़ता है,
उठकर जाना चाहती है।

दुष्यंत : (उसे रोककर)

न-न, दिन अभी ढला नहीं, और तुम्हारे शरीर की ऐसी अवस्था है।

फूलों की शय्या छोड़कर,
कमलिनी के पत्तों से स्तनों को ढँके
धूप में निकलकर
कैसे जाओगी तुम,
जबकि तुम्हारे कोमल अंग
पहले ही
पीड़ा से इतने क्लान्त हैं?

बलपूर्वक उसे रोकता है।

शकुंतला : छोड़ो, छोड़ो मुझे! मैं अपने अधीन नहीं हूँ। सखियों के अतिरिक्त मेरा कोई सहारा भी नहीं है। मैं अब अकेली यहाँ नहीं ठहर सकती।

दुष्यंत : ओह! लज्जित कर दिया तुमने मुझे।

शकुंतला : मैं आपसे कुछ नहीं कह रही, केवल अपने भाग्य को कोस रही हूँ।

दुष्यंत : भाग्य ने ऐसा अवसर दिया है, फिर उसे क्यों कोस रही हो।

शकुंतला : कोसूँ कैसे न, जो उसने मुझे अपने पर अधिकार न देकर भी किसी के गुणों पर अनुरक्त कर दिया है?

दुष्यंत : (स्वगत)

मन में चाहे
कितनी उत्कंठा हो
फिर भी
पुरुष के चाहने पर
उसे मना ही करती रहेंगी;
समागम के सुख की
चाहे कितनी अभिलाषा हो,
फिर भी
आत्मसमर्पण में
आनाकानी ही करेंगी।
लगता है
कि समय पाकर

कामदेव ही इन्हें पीड़ा नहीं देता
व्यर्थ समय नष्ट करके
ये कुमारियाँ भी
कामदेव को उतना ही सताती हैं।

शकुंतला फिर जाने लगती है।

दुष्यंत : तो मैं ही अपने मन की क्यों न करूँ?

बढ़कर उसके वस्त्र का सिरा
पकड़ लेता है।

शकुंतला : देखो पौरव, इस तरह मर्यादा का उल्लंघन मत करो। आसपास
ऋषि लोग आ-जा रहे होंगे।

दुष्यंत : अपने गुरुजनों की ओर से कोई आशंका मत करो। आचार्य कण्व
को धर्म का ज्ञान है, उन्हें तुम्हारे किसी आचरण से दुःख नहीं होगा।

सुना जाता है

कि बहुत-बहुत ऋषि-कन्याओं ने

पहले भी

गांधर्व विधि से विवाह किया है; और

बड़ों ने

सदा उसका

समर्थन ही किया है।

(आसपास देखकर) अरे, मैं तो बाहर प्रकाश में आ गया!

शकुंतला को छोड़कर उन्हीं पैरों
लौट जाता है।

शकुंतला : (एक पैर आगे रखते ही लौटकर विशेष भंगिमा के साथ)

मैं तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं कर सकी, पौरव, और परिचय केवल
बातचीत तक का ही है। फिर भी इस व्यक्ति को भूल मत जाना।

दुष्यंत : सुंदरी!

तुम

दूर जाकर भी

मेरे हृदय से दूर नहीं हो सकतीं।

दिन ढलने पर

पेड़ से परे जाती छाया

पेड़ के मूल से

अलग नहीं होती।

शकुंतला : (कुछ दूर जाकर, स्वगत)

यह बात सुनने के बाद तो मेरे पैर आगे बढ़ ही नहीं रहे। तो यहीं पास के कुरुवक वृक्षों की ओट में खड़ी होकर इसकी प्रतिक्रिया देखती हूँ।

दुष्यंत : ओह! मुझसे उदासीन होकर तुम जा कैसे सकी जबकि तुम्हारा अनुराग ही मेरे जीवन का एकमात्र आधार है?

शकुंतला : यह सुनकर तो जाने की सामर्थ्य बिलकुल ही नहीं रही।

दुष्यंत : उसके चले जाने से लता-मंडप सूना-सा लगने लगा। अब मैं यहाँ रुककर क्या करूँगा? (आगे देखकर) ओह! पर जाऊँ भी कैसे?

सामने पड़ा है

उसकी कलाई से गिरा

यह मृणाल-वल्लय

जिसमें

उसके शरीर के खस लेप की

गंध समाई है।

यह वल्लय नहीं,

एक अर्गला है

जो उसने जाते हुए

मेरे हृदय पर लगा दी है।

भावना के साथ उसे उठा लेता है।

शकुंतला : (अपने हाथ की ओर देखकर)

ओह! दुर्बलेपन के कारण यह मृणाल-वल्लय नीचे जा गिरा और मुझे पता तक नहीं चला।

दुष्यंत : (मृणाल-वल्लय को वक्ष से लगकर)

तेरी कोमल बाँह से गिरा

यह मृणाल-वल्लय

अचेतन होते हुए भी

इस दुःखी वक्ष से लगकर

इसे

जो आश्वासन दे रहा है

वही आश्वासन

इसने तुझसे चाहा था,

पर

तूने नहीं दिया।

शकुंतला : और देर करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं। अब इसी बहाने सामने पहुँच जाती हूँ।

दुष्यंत : (उसे देखकर प्रसन्नतापूर्वक)

तो मेरे प्राणों की अधिकारिणी लौट आई? इतना दुःख देने के बाद भाग्य ने कृपा की, यह उसका उपकार ही है।

प्यास से सूखे गले से

पक्षी ने

‘पानी’ कहा,

और तभी

नए बादल से बरसी

एक बूँद

सहसा

उसके मुँह में आ पड़ी।

शकुंतला : (राजा के पास आकर)

देखिए, आधे रास्ते में मुझे ध्यान आया कि मेरा मृणाल-वल्लय यहीं गिर गया है। इसे लेने के लिए ही मुझे लौटकर आना पड़ा। मेरा हृदय कह रहा था कि आपने इसे उठा लिया होगा। इसे तुरंत मुझे लौटा दें। ऐसा न हो कि मुनियों में से किसी की दृष्टि हम पर पड़ जाय।

दुष्यंत : एक शर्त पर लौटा सकता हूँ।

शकुंतला : क्या शर्त होगी?

दुष्यंत : कि मैं ही इसे इसके स्थान पर बाँधूँगा।

शकुंतला : ओह! अब और उपाय ही क्या है? जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा करें।
पास आ जाती है।

दुष्यंत : शिलाखंड के इस भाग पर बैठ जाएँ।

दोनों घूमकर बैठ जाते हैं।

दुष्यंत : (शकुंतला का हाथ अपने हाथ में लेकर)

यह स्पर्श!

शिव के

क्रोध की ज्वाला से जले

काम-वृक्ष का

क्या यह नन्हा-सा अंकुर है,

जिसे

अमृत की वर्षा से

दैव ने

फिर से उगा दिया है?

शकुंतला : (स्पर्श से रोमांचित होकर)

शीघ्रता करें, आर्यपुत्र!

दुष्यंत : (हर्षपूर्वक, स्वगत)

अब हृदय को पूरा विश्वास हुआ। इस तरह तो केवल पति को ही संबोधित किया जाता है। (प्रकट) देखो, इस वलय की गाँठ ठीक नहीं है। कहो तो मैं दूसरी तरह से इसकी गाँठ लगा दूँ।

शकुंतला : (मुसकराकर)

आपको जैसा ठीक लगे।

दुष्यंत : (बहाने से समय लेते हुए)

देखो—

वलय नहीं, यह

दूज का चंद्रमा है,

जो

विशेष शोभा के लिए

आकाश छोड़ आया है,

और इस मृणाल के रूप में

तुम्हारी

श्यामलता-सी सुंदर

कलाई में बँधकर

दोनों ओर से

जुड़ जाना चाहता है।

शकुंतला : मैं ठीक से देख नहीं पा रही। हवा में उड़कर कर्णफूलों का पराग आँखों में पड़ गया है जिससे आँखें धुँधला गई हैं।

दुष्यंत : (मुसकराकर)

अनुमति दो तो मैं फूँक मारकर इसे निकाल दूँ?

शकुंतला : बड़ी कृपा होगी। परंतु...मुझे आपका विश्वास नहीं है।

दुष्यंत : नहीं, ऐसा कुछ नहीं होगा। नया-नया सेवक स्वामी के आदेशों से आगे जाकर अपनी ओर से कुछ नहीं करता!

शकुंतला : यह अत्यधिक आदर ही तो अविश्वास का कारण है।

दुष्यंत : (स्वगत)

मुझे जो यह सेवा का इतना सुंदर अवसर मिला है, इसे मैं ऐसे ही नहीं जाने दूंगा।

शकुंतला उसे रोकने का अभिनय
करती चुप रहती है।

दुष्यंत : खंजन-सी आँखोंवाली सुंदरी, डरो नहीं, हम कोई धृष्टता नहीं करेंगे।

शकुंतला एक बार हल्के से आँखें
उठाकर फिर लज्जा से सिर
झुकाए बैठी रहती है।

दुष्यंत : (अंगुलियों से उसका मुँह ऊँचा उठाकर, स्वगत)

यह कोमल अधर

जिसने आज तक

किसी तरह का

दंश नहीं जाना

अब

हल्के-हल्के काँपकर

जैसे

मुझ प्यासे को

रसपान की अनुमति दे रहा है।

शकुंतला : लगता है आर्यपुत्र को ठीक से पता नहीं चल रहा।

दुष्यंत : हाँ, आँखें कर्णफूलों के बहुत पास ले जाने से पराग के कारण ठीक से देख नहीं पा रहीं।

शकुंतला : रहने दें, मुझे अब ठीक दिखाई दे रहा है। आपके इस उपकार का बदला नहीं चुका सकी, इसके लिए लज्जित हूँ।

दुष्यंत : मैं और क्या कहूँ?

तुम्हारा उपकार

इतना ही है

कि तुमने मुझे

अपना मुँह सूँघ लेने दिया।

भीरे को संतोष

केवल

कमल की सुगंधि पाकर ही
हो जाता है।

शकुंतला : (मुसकराकर)

और यदि संतोष न हो, तो वह क्या करता है?

दुष्यंत : तो यह करता है।

उसे चूमने लगता है, परंतु
शकुंतला अपना मुँह
छिपा लेती है।

नेपथ्य से : ऐ चकवी, अब अपने सहचर को बुला ले, रात उतर रही है।

शकुंतला : (सुनकर, घबराई-सी)

आर्यपुत्र, लगता है तात कण्व की धर्म-बहन आर्या गौतमी आ रही
हैं। मेरी अस्वस्थता का समाचार पाकर वे पता करने आई होंगी।
आप यहाँ पेड़ के पीछे छिप रहें।

दुष्यंत : हाँ, यही ठीक होगा।

अकेला एक ओर खड़ा हो जाता
है। हाथ में एक पात्र लिये
गौतमी आती है।

गौतमी : क्या हुआ है, बेटी? सुना है शरीर कुछ ठीक नहीं है? मैं यह जल
लाई हूँ जिससे देवताओं की तुझ पर कृपा रहे।

शकुंतला : अनसूया और प्रियंवदा अभी-अभी मालिनी तट की ओर गई हैं।

गौतमी : (शांतिजल शकुंतला पर छिड़ककर)

चिरकाल तक जीती रह बेटी और सदा स्वस्थ रह। जल से शरीर
का ताप कुछ कम हुआ है?

शकुंतला : बहुत कम हो गया है।

गौतमी : दिन ढल रहा है। चल अब पर्णशाला में लौट चलें।

शकुंतला : (किसी तरह उठकर स्वगत)

हृदय, पहले कामना-पूर्ति का अवसर मिलने पर तो तूने समय यूँ
ही गँवा दिया, अब-सह इस दुःख को। (एकाध पग चलते ही लौटकर
प्रकट) लता-मंडप, तू ही मेरा संताप दूर करनेवाली है! याचना है
कि फिर भी तेरा उपभोग कर सकूँ, इसका अवसर देना।

गौतमी और शकुंतला
चली जाती हैं।

दुष्यंत : (पहले के स्थान पर आकर, निःश्वास के साथ)

कामना-पूर्ति में कितनी बाधाएँ आ पड़ती हैं!

बार-बार

अधर को ढाँपतीं

उसकी अंगुलियाँ,

घबराहट के कारण

पहले से और सुंदर हुए मुँह से

निकलती 'ना',

और

झुकी-झुकी-सी

उसकी घनी पलकें,—

मैंने

कंधे में छिपते उसके मुँह को

किसी तरह

उठा तो लिया

पर भाग्य

कि फिर भी चूम नहीं पाया।

अब कहाँ चलना चाहिए? या कुछ देर अभी लता-मंडप में ही रुका
रहूँ क्योंकि यहीं विश्राम करके वह गई है।

शिलाखंड पर बिखरे

फूलों की सेज—

उसके शरीर से मसली हुई;

कमलिनी के पत्ते पर

उसके नाखूनों से लिखा

प्रणय-लेख;

और उसके हाथ से गिरा

मृणाल-वलय;—

आँखें

इस पर से हटाए हटती नहीं...

बेंत का यह लता-मंडप

चाहे अब सूना है,

फिर भी

यहाँ से अभी

निकलकर जाते नहीं बनता।

(सोचता हुआ) अच्छा किया मैंने जो उसे पास पाकर भी समय यूँ ही गँवा दिया! और अब—

बाधा आ पड़ने से दुःखी

यह मूढ़ मन

सोचता है

कि इसके बाद

यदि फिर कभी

एकांत में

उससे मिलने का अवसर प्राप्त होगा,

तो यह समय व्यर्थ नहीं गँवाएगा

क्योंकि

उपभोग के ऐसे अवसर

सुलभ नहीं होते।

मूढ़

अब यह सोचता है,

पर उसके सामने

इसके सोच-विचार को

जाने क्या हो गया था?

नेपथ्य से : सुनो, राजा, सुनो!

संध्याकालीन

यज्ञ का आरंभ होते ही

आग की वेदी को

साँझ के बादलों जैसी पीली

राक्षसों की डरावनी छायाओं ने

चारों ओर से

घेर लिया है।

दुष्यंत : (सुनकर ओजपूर्ण स्वर में)

डरो नहीं तपस्वियो! मैं बस आ ही रहा हूँ।

चला जाता है।

॥ तीसरा अंक ॥

अंक : चार
[ऋषि कण्व का आश्रम]



सिद्धि : कर्म

(सिद्धि : कर्म)

फूल चुनने का अभिनय करती अनसूया
और प्रियंवदा का प्रवेश।

अनसूया : एक बात कहूँ प्रियंवदा? गांधर्व-विवाह करके शकुंतला ने चाहे अपने अनुरूप पति पा लिया है, फिर भी मेरा मन निश्चित नहीं है।

प्रियंवदा : क्यों?

अनसूया : यज्ञ समाप्त हो जाने से ऋषियों ने आज राजा को यहाँ से लौट जाने दिया है। अब नगर में जाकर अपने अंतःपुर की स्त्रियों से मिलने के बाद जाने उसे इसकी याद आती है या नहीं।

प्रियंवदा : इसका तू विश्वास रख। ऐसी विशेष आकृति के लोग गुणहीन नहीं होते। हाँ, सोचने की बात तो यह है कि तीर्थ-यात्रा से लौटकर जब तात कण्व इस बात को जानेंगे, तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी।

अनसूया : तू मुझसे पूछे, तो मैं कहूँगी कि वे इसका समर्थन ही करेंगे।

प्रियंवदा : यह तू कैसे कहती है?

अनसूया : बड़ों का पहला दायित्व यही तो होता है कि लड़की किसी अनुरूप वर को सौंपी जाय! यह कार्य यदि दैव की ओर से हो जाए, तो उनके लिए तो संतोष की ही बात है।

प्रियंवदा : तू ठीक कहती है। (फूलों की टोकरी में देखकर) मैं समझती हूँ, पूजा के लिए इतने फूल काफी होंगे।

अनसूया : अभी थोड़े और चुन लें—शकुंतला को भी तो अपने सौभाग्य-देवता की आराधना करनी है।

प्रियंवदा : ठीक है।

फिर फूल चुनने का अभिनय करती है।

नेपथ्य से : सुनो, यह मैं यहाँ हूँ।

अनसूया : (सुनकर)

लगता है ये किसी अतिथि के शब्द हैं।

प्रियंवदा : वहाँ पर्णशाला में शकुंतला है न!

अनसूया : है तो, पर आज उसका मन उसके पास नहीं है। अब रहने दे, इतने ही फूलों से काम चल जाएगा।

चल देती हैं।

नेपथ्य से : आह! मैं अतिथि हूँ और तू इस तरह मेरा अनादर कर रही है?

जिसके ध्यान में डूबी

तू,

सामने आए

मुझ तपस्वी को भी

नहीं देख पा रही,

वह,

याद दिलाने पर भी

तुझे उसी तरह भूला रहेगा,

जैसे एक पागल

अपनी पहले कही बात को

भूल जाता है!

प्रियंवदा : ओह! वही हुआ जिसकी आशंका थी। सूना मन लिये पड़ी रहने के कारण शकुंतला से किसी आदरणीय व्यक्ति के प्रति अपराध हो गया है।

अनसूया : (सामने की ओर देखकर)

जिस किसी के प्रति नहीं, महर्षि दुर्वासा के प्रति जो कि जीता ही क्रोध में है। अब शाप देकर पैर पटकता वह जल्दी से लौटा जा रहा है।

प्रियंवदा : जलाने की शक्ति आग को छोड़कर और किसमें होगी? तू जा, पैर पकड़कर उसे लौटा ला। तब तक मैं इसके लिए अर्घ्य और जल की व्यवस्था करती हूँ।

अनसूया : मैं जा रही हूँ।

चली जाती है।

प्रियंवदा : (चलते हुए फिसलने का अभिनय करके)

ओह! घबराहट में पाँव फिसल जाने से फूलों की टोकरी हाथ से गिर गई।

अनसूया : (आकर)

यह, क्रोध का अवतार, किसी की बात वह सुनता है? फिर भी थोड़ा-सा मैंने उसे पिघला लिया है।

प्रियंवदा : उससे इतना ही बहुत है। हाँ, बता कैसे तूने उसे पिघलाया है?

अनसूया : जब वह किसी भी तरह लौटने को तैयार नहीं हुआ, तो मैंने पैरों पर गिरकर कहा कि आपके तप का प्रभाव वह बेचारी नहीं जानती, इसलिए बेटी समझकर उसका यह पहला अपराध क्षमा कर दें।

प्रियंवदा : फिर?

अनसूया : बोला कि मेरी कही बात तो अब लौट नहीं सकती। हाँ, यदि स्मारक के रूप में दिया उसका कोई आभरण यह उसे दिखा देगी, तो इसके सिर से शाप की छाया उतर जाएगी। वस यह कहते ही तुरंत चलता हुआ।

प्रियंवदा : तब तो आश्वासन रखा जा सकता है। जाते हुए उस राजर्षि ने स्वयं ही अपने नाम की अँगूठी स्मारक के रूप में शकुंतला के हाथ में दी थी। इसलिए शाप उतरने का उपाय तो अपने पास है ही।

अनसूया : तो चल, उसकी देवपूजा तो पूरा करा दें।

धूमती हैं।

प्रियंवदा : (देखकर)

अनसूया देख, शकुंतला कैसे बाएँ हाथ पर ठोड़ी रखे चित्रलिखित-सी बैठी है। जिस तरह यह राजा की याद में डूबी है, उससे इसे अपना ही ध्यान नहीं है, अतिथि की तो बात ही क्या?

अनसूया : सुन, यह बात हम दोनों के बीच ही रहनी चाहिए। शकुंतला का हृदय कोमल है, वह इस जानकारी से बची ही रहे, तो अच्छा है।

प्रियंवदा : नवमालिका के पौधे को गरम पानी से भी कोई सींचता है?

विष्कम्भक

सोकर उठे कण्व-शिष्य का प्रवेश।

शिष्य : प्रवास से लौटे आचार्य कण्व ने मुझे समय का निश्चय करने का आदेश दिया है। तो खुले में निकलकर देखूँ कि रात कितनी शेष है। (धूमकर और देखकर) अरे! रात तो प्रभात में घुल-मिल गई।

एक ओर

वनस्पतियों का प्राण

चाँद
अस्त होने को है,
और दूसरी ओर
अरुण के रथ पर आते
सूर्य का
आविर्भाव होने को है।
एक ज्योति का क्षय,
और दूसरी का उदय—
यही एक नियम है
जिससे
जीवन की परिस्थितियाँ
बनती और बदलती रहती हैं।

और—

कमलिनी की वह रमणीयता
जो चाँद के अस्त होने से पहले
आँखों को
मुग्ध करती थी,
अब केवल
स्मरण का ही विषय रह गई है।
सच,
प्रिय के दूर चले जाने का दुःख
किसी भी अबला से
सहा नहीं जाता।

और—

बेरियों पर पड़ी
ओस की बूँदों को
प्रत्यूष ने रँग दिया है;
अभी-अभी जागा मोर
घास की कुटी से
बाहर आ रहा है;
और
वेदी के पास
अपने खुरों से खोदी भूमि से,

यह हरिण
अँगड़ाई लेता,
पीछे से ऊँचा होकर,
पैरों पर उठना चाह रहा है।

और—

पर्वतराज सुमेरु के शिखर पर
पाँव रखकर,
अंधकार का नाश करते हुए,
जिसने
पूरे आकाश को छा लिया था,
वही यह चाँद
अपनी बची-खुची किरणें लिये
अब आकाश से नीचे गिर रहा है।
कोई कितना भी बड़ा क्यों न हो,
बहुत ऊँचे चढ़ने का
परिणाम यही होता है
कि उसे
नीचे आना पड़ता है।

अनसूया : (बिना पट-परिवर्तन के प्रवेश करके)

वासनाओं से दूर रहनेवाले किसी भी व्यक्ति पर कभी ऐसी न बनी
होगी जैसी उस बेचारी शकुंतला पर आ बनी है।

शिष्य : तो जाकर गुरु से कह दूँ कि होम का समय हो गया
है।

चला जाता है।

अनसूया : रात बीत गई और प्रभात हो गया। अब जल्दी से उठ जाना
चाहिए। पर बहुत जल्दी उठकर भी क्या करूँगी? मेरे हाथ-पैर तो
प्रातः के आवश्यक कार्य भी ठीक से नहीं कर पा रहे। अब
कामदेव की ही कामना पूरी हो जिसने हमारी सीधी-सादी शकुंतला
को एक ऐसे व्यक्ति के साथ जोड़ दिया है जो उसे झूठे वचन देकर
यहाँ से चला गया है। (याद करके) पर उस राजर्षि का भी दोष
नहीं, यह तो दुर्वासा के शाप का ही प्रभाव है। नहीं तो, तब
ऐसी-ऐसी बातें करने के बाद अब इतना समय बीत जाने पर भी
उसने कोई समाचार क्यों नहीं भेजा? (सोचकर) तो उसे स्मरण

दिलाने के लिए वह अँगूठी भिजवा देती हूँ। पर दिन-रात तप का कष्ट सहनेवाले इन तपस्वियों में से किससे ऐसी प्रार्थना की जाए? जहाँ एक ओर शकुंतला को दोष देना संभव नहीं, वहाँ दूसरी ओर प्रवास से लौटे तात कण्व को यह बताया भी कैसे जाय कि उसने दुष्यंत से विवाह कर लिया है, और अब एक जीव को जन्म देनेवाली है?

प्रियंवदा : (प्रवेश करके)

चल अनसूया, यदि शकुंतला की विदाई देखने की उत्सुकता है, तो जल्दी से चल!

अनसूया : (आश्चर्य के साथ)

यह कैसे?

प्रियंवदा : मैं अभी-अभी शकुंतला के पास यह देखने गई थी कि उसे रात को ठीक से नींद आई या नहीं।

अनसूया : फिर? २.

प्रियंवदा : वहाँ देखा कि वह लज्जा से सिर झुकाए खड़ी है, और तात कण्व उसे बाँहों में लेकर, उससे कह रहे हैं, 'यह इस यजमान का भाग्य है बेटी, कि आँखें धुएँ से रूँधी होने पर भी इस आहुति यज्ञ की आग में ही गिरी। अच्छे शिष्य को दी विद्या की तरह तू आज मेरे लिए सार्थक सिद्ध हुई है। आज ही मैं तुझे ऋषियों के संरक्षण में तेरे पति के पास भेज दूँगा।'

अनसूया : पर तात कण्व को इस घटना का पता किसने दिया?

प्रियंवदा : वे हवन के लिए अग्नि के पास बैठे, तो एक छंदमयी अशरीर वाणी ने।

अनसूया : क्या थी वह वाणी?

प्रियंवदा : वाणी थी—

सुनो ब्राह्मण,

तुम्हारी कन्या

शंभा की टहनी की तरह

आज

अपने अंदर एक आग लिये है

क्योंकि

विश्व-कल्याण के लिए

उसने

दुष्यंत का बीज

अपने में धारण किया है।

अनसूया : (प्रियंवदा को आलिंगन में लेकर)

कितनी अच्छी बात हुई यह! पर शकुंतला को आज ही भेज दिया जाएगा, इसलिए इस सुख में एक व्यथा भी है।

प्रियंवदा : हम अपनी व्यथा को किसी तरह बहला लेंगी, पर वह बेचारी तो वहाँ जाकर निश्चित हो।

अनसूया : इसी दिन के लिए मैंने आम की डाल से लटकती इस नारियल की पिटारी में नागकेसर का पराग रख छोड़ा है, जिसकी गंध दिनों तक बनी रहती है। तू इसे निकालकर कमलिनी के पत्ते पर डाल ले। मैं तब तक जाकर गोरोचन, तीर्थों की मिट्टी और दूब की कोंपलों से मंगल-सामग्री तैयार करती हूँ।

प्रियंवदा तदनुसार कार्य करने लगती है।

अनसूया चली जाती है।

नेपथ्य से : सुनो गौतमी, ऋषि शार्गरव और शारद्वत से कह दो कि बेटी शकुंतला को साथ ले जाने के लिए तैयार हो जायँ।

प्रियंवदा : अनसूया, अब जल्दी कर, हस्तिनापुर जाने के लिए ऋषियों को बुलाया जा रहा है।

अनसूया : (सामग्री हाथ में लिये प्रवेश करके)
आ, चलें।

दोनों घूमती हैं।

प्रियंवदा : (देखकर)

वह देख, सूर्योदय के बाद स्नान करके शकुंतला वहाँ बैठी है।
अन्न से भरे मंगलपात्र लिये स्वस्तिवाचन के लिए आई तापसियों ने उसे घेर रखा है। चल, हम भी वहीं पास चलें।

निर्दिष्ट रूप में तापसियों के साथ
शकुंतला का प्रवेश।

शकुंतला : मैं आप सबकी वंदना करती हूँ।

गौतमी : जा बेटी, जाकर 'देवी' शब्द की अधिकारिणी बन और पति को मान और सुख दे।

तापसियाँ : और वीर पुत्र को जन्म दे।

आशीर्वाद देकर गौतमी के अतिरिक्त
सब चली जाती हैं।

अनसूया

प्रियंवदा : (पास आकर)

क्यों? औषधि-जल से तेरा स्नान हो गया?

शकुंतला : स्वागत करती हूँ तुम दोनों का। यहाँ बैठो।

अनसूया

प्रियंवदा : (बैठकर)

तू थोड़ी सीधी हो जा। हम तेरा मंगल-प्रसाधन करेंगी।

शकुंतला : अवसर के अनुरूप तो यह है ही, पर आज इसका मेरे लिए और भी मूल्य है। आज के बाद तो तुम्हारे हाथों का प्रसाधन मेरे लिए दुर्लभ हो जाएगा।

आँखों में आँसू आ जाते हैं।

अनसूया

प्रियंवदा : देख, मंगल-कार्य के समय इस तरह रोते नहीं।

प्रियंवदा : तेरे रूप को सजाना तो चाहिए आभूषणों से। आश्रम की सामग्री से प्रसाधन करना तो इसका तिरस्कार ही है।

आभूषण हाथ में लिये ऋषिकुमार
हारीत का प्रवेश।

हारीत : ये रहे आभूषण! इनसे इसे सजाओ।

सब देखकर चकित होती हैं।

गौतमी : ये तुम्हें कैसे मिले, हारीत!

हारीत : तात कण्व के प्रभाव से।

गौतमी : उनकी मानसिक सिद्धि से?

हारीत : नहीं। तात कण्व ने हमें आदेश दिया था कि शकुंतला के लिए पेड़-पौधों से फूल तोड़ लाओ। जब हम इसके लिए गए, तो—

किसी पेड़ से हमें

चाँद-सा उजला

मंगल वस्त्रों का जोड़ा मिला

किसी ने

पैर रँगने का सुंदर अलता

हमारे हाथों पर टपका दिया।

कुछ और पेड़ों के पीछे से

वन-देवताओं ने

अपने

नए पत्तों जैसे सुंदर सुकुमार हाथ
मणिवंध तक बाहर लाकर
ये आभूषण

स्वयं हमारी झोली में डाल दिए।

प्रियंवदा : (शकुंतला की ओर देखकर)

भौरी पेड़ की कोख में पैदा होकर भी कमल का ही रस पाती है।

गौतमी : बेटी, वन-देवताओं का यह अनुग्रह इस बात की सूचना है कि पति
के घर में तू राजलक्ष्मी का उपभोग करेगी।

शकुंतला लजाने का अभिनय
करती है।

हारीत : तात कण्व मालिनी में स्नान कर रहे हैं। मैं जाकर उन्हें वनस्पतियों
की इस सेवा का समाचार दे दूँ।

चला जाता है।

अनसूया : अब इन आभूषणों से कैसे तुझे सजाएँ? इनका कुछ अनुभव तो
हमें है नहीं। (सोचते हुए, उसे देखकर) चित्रों में जिस तरह होता
है, उसी तरह तेरे अंगों में ये आभूषण सजा देती हैं।

शकुंतला : तुम लोगों की कुशलता मैं जानती हूँ।

अनसूया और प्रियंवदा उसे आभूषण
पहनाती हैं। स्नान करके आए
कण्व का प्रवेश।

कण्व : (सोचते हुए)

शकुंतला आज चली जाएगी,
यह सोचकर ही
एक अवसाद
हल्के-हल्के मन को छू रहा है;
रोके हुए आँसुओं से
स्वर रुंध-सा गया है,
और आँखें
चिंता के कारण
पथरा गई हैं।
मुझे,
वन-जीवन बिताने पर भी,
आज स्नेह ने

इतना विकल कर दिया है,
तो सोचता हूँ कि उन्हें
जो घर-गिरस्ती में जीते हैं
बेटी से बिछुड़ने का अवसर आने पर,
इस नए दुःख से
कितनी-कितनी पीड़ा होती होगी।

घूमता है।

अनसूया

प्रियंवदा : तेरा शृंगार हो चुका, शकुंतला! अब तू यह जोड़ा पहन ले।

शकुंतला उठकर पहनने का

अभिनय करती है।

गौतमी : बेटी, तेरे पिता आ रहे हैं। आनंद के आँसुओं से भरी इनकी आँखें
ही जैसे तुझे गोद में ले लेना चाहती हैं। उठ, और मर्यादा का
पालन कर।

शकुंतला सलज्ज भाव से
अभिवादन करती है।

कण्व : बेटी!

पति से
तुझे वही मान मिले
जो ययाति से शर्मिष्ठा को मिला;
और शर्मिष्ठा की ही तरह
तुझे भी
पुरु-जैसा
चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो।

गौतमी : बेटी, यह आशीर्वाद नहीं, पिता का वरदान है।

कण्व : यह आग अभी-अभी जलाई गई है, बेटी! तू इसकी प्रदक्षिणा कर
ले।

सब उसे प्रदक्षिणा कराने के
लिए घूमते हैं।

कण्व : बेटी!

पवित्र करें
तुझे
ये यज्ञ-ज्वालाएँ

जिनके स्थान
 वेदी के बीच
 और आसपास
 निर्धारित हैं,
 जिनमें निरंतर
 समिधाएँ पड़ती हैं,
 और
 जिनके सीमाभाग में
 यह दूब बिखरी है!
 इन ज्वलाओं में पड़ती
 आहुतियों की गंध
 सभी पापों,
 सभी क्लेशों
 को शांत कर दे।

शकुंतला प्रदक्षिणा करती है।

कण्व : अब प्रस्थान करो, बेटी! (इधर-उधर दृष्टि डालकर) शांगरव और शारद्वत मिश्र कहाँ हैं?

शांगरव-शारद्वत : (प्रवेश करके)

हम यही हैं, भगवन्!

कण्व : वच्चो, अपनी वहन को मार्ग दिखाओ।

शांगरव-शारद्वत : इधर से आओ वहन!

सब घूमते हैं।

कण्व : सुनो वन-देवताओं को आवास देनेवाले वृक्षो,

तुम्हें सींचे बिना

जिसने

कभी पानी नहीं पिया,

प्रसाधन में रुचि रखते हुए भी

जिसने

स्नेहवश

कभी तुम्हारा पत्ता तक नहीं तोड़ा,

तुम पर फूल आने पर

जो

सबसे पहले उत्सव मनाने लगती थी,

वही शकुंतला
आज पति के घर जा रही है—
इसे अनुमति दो,
सबके-सब अनुमति दो।

आकाश से : शिवास्ते संतु पंथानः।

खिली कमलिनियों से भरे सरोवर
तेरे मार्ग में रमणीय अंतराल दें;
धूप की चिलचिलाहट को
घने पेड़ों की छायाएँ रोके रहें;
रास्ते की धूल
तुझे उतनी ही कोमल मिले
जितना कमलों से उठा पराग;
और
ठंडी हवा
तेरे अनुकूल दिशा में ही
बहती रहे!

सब आश्चर्य से सुनते हैं।

शार्ंगरव : (कोयल के शब्द की ओर ध्यान दिलाकर)

भगवन्?

यह कोयल का मीठा स्वर
उत्तर है
इन वनस्पतियों की ओर से,
जो कि
शकुंतला के
वन-जीवन के बांधव हैं—
और इसी स्वर में वे
इसे अपनी
अनुमति की सूचना दे रहे हैं।

गौतमी : बेटी, वन-देवताओं का तुझ पर बांधवों-जैसा ही स्नेह है।
इन्होंने तुझे जाने की अनुमति दे दी है, इसके लिए इन्हें प्रणाम
कर।

शकुंतला : (प्रणाम करने के बाद थोड़ा घूमकर, अलग से)
प्रियंवदा, आर्यपुत्र से मिलने के लिए मन में बहुत उत्सुकता है,

फिर भी आश्रम को छोड़कर जाने में इतना दुःख हो रहा है कि पैर आगे नहीं बढ़ रहे।

प्रियंवदा : केवल तुझे ही आश्रम को छोड़कर जाने का दुःख नहीं है; तू यहाँ नहीं रहेगी, इस बात से देख, आश्रम की क्या अवस्था हो रही है—

हरिणी से
मुँह की घास
निगली नहीं जा रही,
और
मोरनी के पैर
सहसा
नाचने से रुक गए हैं।
यही नहीं,
इन लताओं को देख,
जो सूखे पत्तों के बहाने
जैसे
अपनी आँखों से
आँसू गिरा रही हैं।

शकुंतला : पिता, जाते हुए अपनी बहन माधवी लता से भी एक बात कर लूँ।

कण्व : उसके प्रति तेरे अनुराग का मुझे पता है। देख, यहीं तो है वह दाई ओर।

शकुंतला : (पास जाकर और लता का आलिंगन करके)
बहन माधवी, अपनी टहनियों की बाँहों से मुझे आलिंगन में ले ले।
आज के बाद मैं तुझसे बहुत दूर हो जाऊँगी...पिता, इसकी भी देखभाल मेरी तरह करना।

कण्व : बेटी,
मेरा पहला संकल्प तेरे लिए था,
पर तूने तो
अपने गुणों से ही
योग्य पति पा लिया।
अब
तेरी ओर से निश्चित हो,

इस आम को वर बनाकर
इन दोनों को मैं
विवाह-सूत्र में बाँध दूँगा।

तो, अब तुम चलो।

शकुंतला : (अनसूया-प्रियंवदा के पास आकर)
देखो, मैं इसे तुम दोनों के हाथ में सौंपकर जा रही हूँ।

अनसूया

प्रियंवदा : और हमें किसके हाथ में सौंपकर जा रही है?

दोनों की आँखें भर आती हैं।

कण्व : अनसूया, प्रियंवदा, तुम लोग ऐसे रोओ नहीं। तुम्हें बल्कि शकुंतला
को धीरज बँधाना चाहिए।

सब लोग घूमते हैं।

शकुंतला : (देखकर)

पिता, गर्भ-भार से मंथर होने से पर्णशाला के आसपास ही विचरण
करनेवाली यह हरिणी जब एक अच्छे-से छौने को जन्म दे, तो
किसी के हाथ यह समाचार मुझे अवश्य भिजवा देना। देखो,
भूलना नहीं।

कण्व : नहीं भूलूँगा, बेटी!

शकुंतला : (चलने में बाधा का अभिनय करके)

अरे! यह कौन पैरों में लगा बार-बार मेरा आँचल खींच रहा
है?

कण्व : बेटी,

हरिण शावक है यह
जिसका मुँह
घास की सूइयों से छिल जाने पर,
उस घाव को भरने के लिए
तूने दिनों तक
उसे हिंगोट के तेल से सींचा था!
तेरी मुट्ठी से धान खा-खाकर पला
यह तेरा ही माना हुआ बेटा है
जो इस समय
तेरे मार्ग से
हटना नहीं चाहता।

शकुंतला : क्यों रोक रहा है बेटे, मैं तो यह आवास सदा के लिए छोड़कर जा रही हूँ। जन्म लेते ही तेरी माँ तुझे छोड़कर चल बसी थी— तब मैंने तुझे पाला था। अब मैं छोड़कर जा रही हूँ, तो पिता तेरी पालना करेंगे। जा, अब लौट जा।

रोती हुई चल देती है।

कण्व : रो नहीं, बेटी। धीरज रख और आगे देखकर चल।

अपलक आँखें
आँसुओं से रूंधी रहने से
आगे की ऊँची-नीची भूमि
तुझे दिखाई नहीं दे रही;
अब आँसुओं को रोक ले,
क्योंकि
रास्ते पर तेरे पैर
सीधे नहीं पड़ रहे।

शार्गरव-शारद्वत : भगवन्, सुना है बंधु-जन पानी की सीमा तक ही लड़की को छोड़ने आते हैं। यह सामने नदी का तट है। अब जो भी सदेश वहाँ देना हो, वह हमें बताकर आप लौट जायँ।

कण्व : तो आओ, यहाँ इस अश्वत्थ की छाया में बैठ जायँ।

सब लोग बैठने का अभिनय करते हैं।

सोच लें कि राजर्षि दुष्यंत को क्या सदेश भेजना उचित होगा।

सोचने लगता है।

अनसूया : आश्रम में कोई भी तों चेतन जीव नहीं है, शकुंतला, जो तेरे वियोग की चेतना से दुःखी न हो। देख—

यह चकवा
मुँह में मृणाल लिये
एकटक तेरी ओर देख रहा है।
कमलिनी के पत्तों में लिपटी चकवी
उससे कुछ बात कर रही है,
पर यह उत्तर में
उससे
कुछ भी कह नहीं पा रहा।

कण्व : बेटा शार्गरव, शकुंतला को सामने करके मेरी ओर से राजा से कहना—

शांगरव : आज्ञा दें, क्या कहना होगा?

कण्व : एक ओर

इसका ध्यान रखते हुए

कि हम लोगों का धन

केवल तपस्या है,

और दूसरी ओर

अपने कुल की ऊँची मर्यादा का,

तथा उसके साथ

इसका भी ध्यान रखते हुए

कि बिना इसके बंधुओं से अनुमति लिये

तुमने स्वयं ही

इसे अपने स्नेह-पाश में बाँधा है,

अब वहाँ इसे

उसी तरह रखना

जैसे तुम्हारी अन्य पत्नियाँ रहती हैं।

इससे आगे कुछ हो,

तो वह इसका भाग्य है;

लड़की के संबंधी

अपनी ओर से

इस संबंध में

कुछ नहीं कह सकते।

शांगरव : सदेश हमने ग्रहण कर लिया है।

कण्व : (शकुंतला की ओर देखकर)

बेटी, मुझे तुझसे भी कुछ कहना है। हम वन में रहकर भी

लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ नहीं हैं।

शांगरव : हाँ, ऐसा कौन-सा विषय है जिसका कि एक प्रतिभाशाली व्यक्ति को ज्ञान न हो?

कण्व : तो यहाँ से पति के घर जाकर तू—

बड़ों की सेवा करना

और

राजा की अन्य पत्नियों को

अपनी मित्रों की तरह मानना।

पति

क्रोध में आकर
 कभी तिरस्कार भी कर दे,
 तो तू उसके
 प्रतिकूल मत जाना।
 सेवकों के साथ
 सद्भाव से व्यवहार करना
 और
 उपभोग की वस्तुओं के प्रति
 कभी आग्रह मत दिखाना
 इन्हीं गुणों से
 एक युवती
 गृहिणी कहलाने की अधिकारिणी बनती है;—
 जिसका व्यवहार
 इसके विपरीत हो,
 वह गृहिणी नहीं,
 घर की एक व्याधि है।

गौतमी, तुम इस संबंध में क्या कहती हो?

गौतमी : बस एक वधू के लिए यही तो उपदेश होता है। इन बातों को बेटी,
 सदा याद रखना, कभी भूलना नहीं।

कण्व : तो आ बेटी, मुझसे और अपनी सखियों से गले मिल ले।

शकुंतला : पिता, ये दोनों भी यहीं से लौट जाएँगी?

कण्व : कल को इनका भी कन्यादान करना है, इसलिए इनका वहाँ तेरे साथ
 जाना उचित नहीं। तेरे साथ गौतमी जाएगी।

शकुंतला : (पिता के गले लगकर)

मलय पर्वत से उखड़ी चंदन लता की तरह पिता की गोदी से
 छूटकर मैं वहाँ जिऊँगी कैसे?

कण्व : इस तरह व्याकुल नहीं होते, बेटी!

कुलीन पति के यहाँ

गृहिणी के प्रशंसनीय पद पर आसीन होकर,

तथा शीघ्र ही

प्राची के गर्भ से सूर्य की तरह

एक कल्याणकारी पुत्र को जन्म देकर,

तू हर समय

उस वैभवशाली घर के
इतने बड़े-बड़े कार्यों में व्यस्त रहेगी
कि मुझसे अलग होने की पीड़ा
तुझे नहीं सताएगी।

शकुंतला : (पिता के पैर छूकर)

प्रणाम करती हूँ, पिता!

कण्व : बेटी, जीवन में वह सबकुछ तुझे मिले जो कि तेरे लिए मेरे मन में है।

शकुंतला : (अनसूया और प्रियंवदा के पास आकर)

आओ, तुम दोनों एक साथ मुझसे गले मिलो।

अनसूया

प्रियंवदा : (वैसा करके)

देख, यदि वह राजर्षि तुझे तुरंत न पहचान पाए, तो उसे यह
अँगूठी दिखा देना जिस पर उसका नाम अंकित है।

शकुंतला : तुम लोगों के इस संदेश से तो मेरा हृदय काँप गया।

अनसूया

प्रियंवदा : डर नहीं, स्नेह के कारण ही मन में सब तरह की आशंकाएँ उठ
आती हैं।

शार्ंगरव : भगवन्, सूर्य सिर पर आ गया है। अब इसे शीघ्र अनुमति दें।

शकुंतला : पिता, अब इसके बाद तपोवन में लौटकर कब आ सकूँगी?

कण्व :

बहुत दिन

दिशाओं के छोर तक फैली

धरती की

सपत्नी बनी रहकर,

और

दुष्प्रयत्न के

अजेय पुत्र की माँ बनने के बाद,

जब वह राजा

अपना कार्य-भार

उसके कंधों पर रख देगा,

तो तू

पति के साथ ही

मानसिक शांति के लिए

पुनः

इस आश्रम में आकर रह सकेगी।

गौतमी : बेटी, तेरे जाने का समय बीता जा रहा है, इसलिए अब पिता को लौट जाने दे।...पर यह तो जाने कितनी देर आपको रोके रहेगी, इसलिए आप ही लौट चलें।

कण्व : बेटी, मेरा तप-अनुष्ठान रुका है, अब मुझे लौटना होगा।

शकुंतला : आपकी उत्कंठा तो तप-अनुष्ठान के कारण समाप्त हो गई, पर मेरी उत्कंठा अभी उसी तरह बनी है।

कण्व : बेटी, तू तो मुझे जड़ बनाए दे रही है। (निःश्वास छोड़कर)

तेरे हाथ के रोपे

बलि के धान

पर्णशाला के द्वार पर

उगे देखकर

मेरे मन से शोक

बेटी,

बता, कैसे जा पाएगा!

अउ जा...शिवास्ते संतु पंथानः।

गौतमी, शार्गरव और शारद्वत
शकुंतला के साथ चले जाते हैं।

अनसूया

प्रियंवदा : (देर तक विमूढ़ रहने के बाद करुण स्वर में)

ओह! शकुंतला, तो अब वन-पंक्तियों की ओट में चली गई।

कण्व : (निःश्वास छोड़कर)

अनसूया, प्रियंवदा, तुम लोगों की साथिन चली गई। अब शोक के आवेग को दबाकर मेरे पीछे-पीछे चली आओ।

सभी चल देते हैं।

अनसूया

प्रियंवदा : पिता, शकुंतला के चले जाने से तपोवन कितना सूना हो गया है!

कण्व : स्नेह के कारण ही तुम्हें ऐसा लग रहा है। (सोचते हुए धूमकर)

ओह! शकुंतला को पति के घर भेजकर अब निश्चित हुआ हूँ मैं।

लड़की पराया धन है,

और आज

उसे पति के यहाँ भेजकर

मन से एक बोझ उतर गया है।

लगता है

जैसे

किसी की धरोहर

आज उसके हाथों में

वापस सौंप दी हो।

॥ चौथा अंक ॥

अंक : पाँच

[हस्तिनापुर का राजभवन तथा राजमार्ग]



विप्रेक्षित

[विप्रेक्षित विप्रेक्षित विप्रेक्षित]

कंचुकी का प्रवेश ।

कंचुकी : ओह! बुढ़ापे ने क्या दशा कर दी है मेरी!

यह बेंत की छड़ी,

जो मैंने

राजा के अंतःपुर-अधिकारी के रूप में

ग्रहण की थी,

आज,

इतना समय बीत जाने पर,

मेरी बूढ़ी-काँपती टाँगों को

सहारा देकर चलाने का

साधन बन गई है।

देव अंतःपुर में चले गए हैं, फिर भी जाकर उन्हें बताना होगा कि

कुछ ऐसा जल्दी का काम आ पड़ा है जो स्वयं उन्हीं को निपटाना

है। (थोड़ा चलकर) पर क्या काम है वह? (सोचकर) हाँ, याद

आया। तपोवन से आए कण्व के शिष्य उनसे मिलना चाहते हैं।

सच, कैसी विचित्र दशा है कि—

एक क्षण

अँधेरे में डूबती-सी,

सहसा

दूसरे ही क्षण

चमक जाती है;—

बुढ़ापे की स्मृति

वैसी ही है

जैसी

बुझते दीये की लौ।

(घूमकर और देखकर) ये रहे देव!

संतान की तरह
 प्रजा को
 उचित कार्यों में लगाकर;
 अब एकांत में
 उसी तरह अपनी थकान दूर कर रहे हैं,
 जिस तरह गजराज,
 गज-समूह को भरे जंगल में बिखराकर,
 स्वयं
 धूप की तपन दूर करने के लिए
 ठंडी गुफा में जा बैठता है।

देव धर्म-कार्य में कभी विलंब नहीं करते, फिर भी मन थोड़ा
 शंकित है कि कण्व के शिष्यों के आने का समाचार उन्हें तुरंत
 देना चाहिए या नहीं, क्योंकि अभी-अभी तो वे धर्मासन से उठकर
 आए हैं। पर राजा को विश्राम कहाँ?

सूर्य के घोड़े
 हर समय जुते रहते हैं
 रात हो या दिन,
 वायु को
 हर समय चलते रहना होता है;
 और भूमि का भार
 शेषनाग
 हर समय पीठ पर उठाए रहता है।
 यही धर्म राजा का भी है
 जो प्रजा से
 उसकी आय का छठा भाग
 कर के रूप में ग्रहण करता है।

धूमता है। दुष्यंत, विदूषक और
 राज-वैभव के अनुसार अपेक्षित
 परिचारकों का प्रवेश।

दुष्यंत : (जैसे अधिकार से खिन्न)

सब लोगों को अपनी मनोकामना पूरी होने से सुख मिलता है, पर
 राजा के लिए यह पूर्ति भी दुःख लेकर ही आती है।

नई प्रतिष्ठा पाकर

केवल एक उत्सुकता शांत होती है,
परंतु
प्राप्त की रक्षा का भार
आ पड़ने से
दुःख और बढ़ता ही है।
अपने हाथ में लिए छत्र की तरह,
राज्य का अधिकार
उतना कष्ट दूर नहीं करता
जितना कि बढ़ा देता है।

नेपथ्य से

दो वैतालिक : देव की जय हो!

एक वैतालिक : अपने सुखों को भूलकर
लोक-कल्याण के लिये
तुम रात-दिन कष्ट झेलते हो;
कहा जा सकता है कि
तुम्हारा निर्माण ही इसलिए हुआ है।
एक वृक्ष
अपने सिर पर
तीखी धूप इसीलिए झेलता है
कि वह
छाया में आश्रय लेनेवालों का
संताप दूर कर सके।

दूसरा वैतालिक : किसी भी पथ-भ्रष्ट को
उचित दंड देना,
विवाद शांत करके
रक्षा के उपाय करना,
और प्रजा में
इस तरह
अतुल संपत्ति का वितरण करना
कि किसी को किसी से
द्वेष न रहे—
यह तुम्हारा शासन है!
तुम प्रजा के बंधु हो—

निकटतम और अन्यतम!

दुष्यंत : (सुनकर आश्चर्य के साथ)

इन शब्दों ने शासन-कार्य की सारी थकान दूर करके मन में एक नया उत्साह भर दिया।

विदूषक : (हँसकर)

वाह! बैल से किसी ने कह दिया है कि तुम गौओं के स्वामी हो तो इतने से ही उसकी थकान दूर हो गई?

दुष्यंत : (मुसकराकर)

तुम आसन तो लो।

दोनों बैठ जाते हैं। परिचारक अपने-
अपने स्थान पर खड़े हो जाते हैं।

नेपथ्य से वीणा का शब्द
सुनाई देता है।

विदूषक : (उधर कान देकर)

यह स्वर-संयोग! मित्र, ज़रा संगीतशाला की ओर कान देकर सुनो...कितने शुद्ध ताल-लय में वीणा-वादन चल रहा है! लगता है देवी हंसवती वर्णों का अभ्यास कर रही हैं।

दुष्यंत : अच्छा, चुप रहो और सुनने दो।

कंचुकी : देव का ध्यान अभी दूसरी ओर है। मैं रुककर अवसर की प्रतीक्षा करता हूँ।

एक ओर खड़ा रहता है।

नेपथ्य से : (गीत-स्वर)

नए मधु के लोभ से विमोहित हो,
मधुकर,
तब तुमने
किस भाव से आम की मंजरी को चूमा था?
किंतु आज
केवल कमलिनी के आवास में संतुष्ट रहकर,
उस मंजरी को तुमने
सर्वथा भुला ही दिया है?

दुष्यंत : ओह! कैसा भावना का प्रवाह है इस गीत में!

विदूषक : मित्र, इस गीत का शब्दार्थ भी कुछ समझे हो?

दुष्यंत : (मुसकराकर)

शब्दार्थ यह है कि गायिका को केवल एक बार ही हमसे प्रणय मिला है। इस तरह देवी हंसवती ने बिना कुछ कहे ही हमें उलाहना दे दिया है। तो माधव्य, तुम जाकर हमारी ओर से देवी हंसवती से कह दो कि उलाहना हमें ठीक से मिल गया है।

विदूषक : (उठकर)

जैसी आज्ञा। पर मित्र, है यह दूसरे के हाथ से भालू की चोटी पकड़ने जैसा काम! अब मैं बेचारा वीतराग ब्राह्मण इसमें मारा जाऊँगा।

दुष्यंत : अब जाओ भी न! अपने नागरिक व्यवहार से बेचारी को जैसे-तैसे थोड़ी सांत्वना दे दो।

विदूषक : जाए बिना और चारा भी क्या है?

चला जाता है।

दुष्यंत : (स्वगत)

किसी प्रियजन का वियोग नहीं है, फिर भी इस तरह का गीत सुनकर मन न जाने क्यों इतना उत्कंठित हो उठा है! या फिर—

एक रमणीय दृश्य,

या एक मधुर शब्द,

जो सहसा

एक सुखी व्यक्ति के मन को भी

आंदोलित कर जाता है,

इसका कारण

क्या यही नहीं

कि किसी पहले जन्म का परिचय,

जो पहचान से परे रहकर भी

भाव में समाया रहता है,

मन की किसी अनजान गहराई में

एकाएक जाग जाता है?

स्मृतिहीनता का उन्मन भाव

उस पर छा जाता है।

कंचुकी : (पास आकर)

देव की जय हो! हिमालय की घाटी के वन से कुछ तपस्वी ऋषि कण्व का संदेश लेकर आए हैं। दो-एक स्त्रियाँ भी उनके साथ हैं। यह जानकर अब आप जैसा आदेश दें, वैसा किया जाय।

दुष्यंत : (आश्चर्य के साथ)

कण्व का सदेश लेकर तपस्वी आए हैं, और स्त्रियाँ उनके साथ हैं?

कंचुकी : जी हाँ!

दुष्यंत : तो जाकर उपाध्याय सोमरात से मेरी ओर से कहो कि वेदोक्त विधि से तपस्वियों का सत्कार करके वे स्वयं उन्हें साथ ले आएँ। मैं भी तपस्वियों के दर्शन के लिए अनुकूल स्थान पर चलकर उनकी प्रतीक्षा करता हूँ।

कंचुकी : जैसी देव की आज्ञा!

चला जाता है।

दुष्यंत : (उठकर)

वेत्रवती, यज्ञभवन का मार्ग दिखाओ।

प्रतीहारी : इधर से आएँ, देव! (घूमकर) यह रहा यज्ञभवन का चबूतरा जिसे अभी-अभी धोकर निखारा गया है। यहीं होम धेनु का आवास भी है। देव, ऊपर चलें।

दुष्यंत : (ऊपर पहुँचकर प्रतीहारी के कंधे का सहारा लिये हुए) वेत्रवती, आचार्य कण्व ने किस उद्देश्य से इन तपस्वियों को मेरे पास भेजा होगा?

क्या किसी ने
व्रतधारी तपस्वियों के
तापस धर्म को
बाधाओं से दूषित किया है?
या
तपोवन में विचरण करते
पशु-पक्षियों के प्रति
किसी से दुर्व्यवहार हुआ है?
या फिर कहीं ऐसा तो नहीं
कि ऐसी शक्ति से अपरिचित
किसी दुराग्रही ने
लताओं के फूल-पत्ते
नष्ट करने का प्रयत्न किया है?
मन में कई तरह के तर्क उठने,
और कोई भी एक

निश्चय न कर पाने के कारण
मेरा मन
चिंता से व्याकुल हो रहा है।

प्रतीहारी : आपकी भुजाओं से रक्षित तपोवन में ऐसी आशंका ही कहाँ है?
मुझे तो लगता है कि आपके सद्व्यवहार से प्रसन्न होकर ये ऋषि
आपका अभिनंदन करने आए हैं।

शकुंतला को साथ लिए गौतमी शांगरव
और शारद्वत का प्रवेश। पुरोहित और
कंचुकी इनके आगे-आगे हैं।

कंचुकी : इधर से आएँ आप लोग।

शांगरव : मित्र शारद्वत,

बहुत प्रभाव है राजा का,
और यह कभी
मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता;
चारों वर्णों में से
कोई निकृष्ट व्यक्ति भी
इसके राज्य में कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होता;
फिर भी
निर्जन में रहने के अभ्यास के कारण
यहाँ भीड़ में आकर
मन को ऐसा लगता है
जैसे
बिना जाने सहसा
किसी आग से घिरे घर में
चले आए हों।

शारद्वत : नगर में आकर तुम्हारा इस तरह अनुभव करना अस्वाभाविक
नहीं।

इन लोगों के सुख-संयोग के बीच
अपने को देखकर
ऐसा आभास होता है
जैसे एक नहाया व्यक्ति
तेल-से चिकने शरीर को,
एक पवित्र व्यक्ति

अपवित्र देह को,
 एक जागा हुआ व्यक्ति
 सो रहे कलेवर को,
 और
 एक स्वतंत्र व्यक्ति
 बँधे हुए गात्रों को
 देख रहा हो।

पुरोहित : इसीलिए तो आप लोग महान हैं।

शकुंतला : (अपशकुन का अभिनय करके)

ओह! मेरी दाईं आँख क्यों फड़क रही है?

गौतमी : अमंगल शांत हो, बेटी! तुझे सब तरह का सुख प्राप्त हो।

सब घूमते हैं।

पुरोहित : (दुष्यंत की ओर संकेत करके)

तापसगण, ये रहे वर्णाश्रमों के रक्षक हमारे राजा। आसन छोड़कर
 ये आपकी प्रतीक्षा में खड़े हैं।

शांगरव : इनका यह व्यवहार प्रशंसनीय है, फिर भी हम लोग इस सबके
 प्रति उदासीन हैं।

फल आने पर
 पेड़ों का झुक जाना,
 नए जल के भार से
 बादलों का दूर-दूर तक घिर आना,
 और
 विशाल वैभव पाकर
 सत्पुरुष का विनम्र हो उठना,
 स्वाभाविक धर्म है,
 और यही
 परोपकार की मर्यादा है।

प्रतीहारी : देव, ऋषि लोग देखने में काफी प्रसन्न जान पड़ते हैं

दुष्यंत : (शकुंतला को देखकर)

अरे!

यह कौन है इनके साथ
 जिसके शरीर का लावण्य
 घूँघट में छिपा रहने से

बाहर झलक नहीं पाता?
 इन तापसों में घिरी
 यह ऐसी लगती है
 जैसे
 पीले पत्तों के बीच
 एक नई कोपल।

प्रतीहारी : स्वामी, इसे देखकर मन में इतनी उत्सुकता जाग रही है कि मेरी तो विचार-शक्ति ही जैसे लुप्त हो गई है। आकृति निःसंदेह ऐसी है कि वस देखते रहने को ही मन करता है।

दुष्यंत : ठीक है, पर पराई स्त्री की ओर देखना उचित नहीं।

शकुंतला : (वक्ष पर हाथ रखकर, स्वगत)
 हृदय, क्यों इतना काँपते हो? आर्यपुत्र की उस भावना का स्मरण करके तुम्हें धीरज रखना चाहिए।

पुरोहित : (आगे आकर)
 स्वस्ति देवाय। तपस्वियों की विधिपूर्वक अर्चना करके मैं इन्हें साथ ले आया हूँ। ये आचार्य का कुछ संदेश लाए हैं जो आप इनसे सुन सकते हैं।

दुष्यंत : मैं ध्यान से सुन रहा हूँ।

शांगरव-शारद्वत : (हाथ उठाकर)
 तुम्हारी विजय हो, राजा!

दुष्यंत : मैं आप सबका अभिवादन करता हूँ।

शांगरव-शारद्वत : स्वस्ति देवाय।

दुष्यंत : वहाँ तपस्या में कोई बाधा तो नहीं?

शांगरव-शारद्वत : तुम सदाचार के रक्षक हो,
 तो फिर
 धर्म-कार्यों में
 बाधा कैसे पड़ सकती है?
 सूर्य का आलोक जहाँ फैला हो,
 वहाँ
 अंधेरा कैसे टिक सकता है?

दुष्यंत : (स्वगत)

यह सुनकर मेरा राजा कहलाना सार्थक हो गया। (प्रकट) आचार्य कण्व सकुशल तो हैं?

शांगरव : उन-जैसे सिद्ध व्यक्ति की कुशल उनके अपने हाथ में रहती है।
उन्होंने आपका कुशल समाचार पूछा है और कहा है...

दुष्यंत : क्या आदेश दिया है उन्होंने?

शांगरव : ...कि पारस्परिक प्रतिज्ञा के आधार पर आपने जो हमारी बेटी से विवाह किया, इसके लिए हमने स्नेहपूर्वक अपनी अनुमति दे दी है।

हमारी धारणा है
कि आप
सत्पुरुषों के शिरोमणि हैं,
और शकुंतला
जो कुछ भी शुभ है
उसकी शरीरधारिणी क्रिया।
आप दोनों को
वर और वधू के रूप में मिलाकर
प्रजापति ने
एक ऐसा कार्य किया है,
जिसकी कि कभी भी
निंदा नहीं होगी।

अब यह एक जीव को जन्म देने जा रही है, इसलिए साथ रहकर
धर्माचरण के लिए इसे यहीं पास रखें।

गौतमी : भद्रमुख, मैं भी कुछ कहना चाहती हूँ पर मेरे बोलने का शायद
अवसर नहीं है।

दुष्यंत : आप कहें, क्या कहना चाहती हैं?

गौतमी : न इसने अपने गुरुजनों से अनुमति ली,
और न ही

तुमने अपने बंधुओं से इस विषय में कुछ पूछा।
एक और एक के बीच हुई इस बात को लेकर
तुम दोनों में से किसी से भी
कोई कहे तो क्या कहे?

शकुंतला : (स्वगत)

जाने आर्यपुत्र अब उत्तर में क्या कहेंगे!

दुष्यंत : (सब सुनकर आशंकित भाव से)

अरे! यह आप लोगों ने कैसी कहानी शुरू कर दी!

शकुंतला : (स्वगत)

ओह! कैसे आक्षेप और तिरस्कारपूर्ण शब्द हैं ये!

शांगरव : क्या कहा आपने—कहानी शुरू कर दी? आप समझते हैं कि लोक-व्यवहार की बातें केवल आप ही जानते हैं?

विवाहिता नारी

सतीत्व का पालन करती हुई भी

यदि बहुत दिनों तक

अपने पितृकुल में रहती है,

तो उसके विषय में

तरह-तरह की आशंकाएँ उठने लगती हैं।

इसलिए,

वह पति को प्रिय लगे या न लगे,

कि वह

अपने स्वामी के पास,

उसके घर में ही रहे।

दुष्यंत : आप कहना चाहते हैं कि मैं इस तपस्विनी से विवाह कर चुका हूँ?

शकुंतला : (विषादपूर्वक, स्वगत)

ले हृदय, अब तेरी आशंका तेरे सामने है!

शांगरव : क्या यह एक राजा के लिए उचित है कि अपने किए का पश्चाताप उसे धर्म-मार्ग से डिगा दे?

दुष्यंत : पर ऐसी अशुभ कल्पना आप कर किस आधार पर रहे हैं?

शांगरव : (क्रोध के साथ)

ऐश्वर्य का उन्माद

प्रायः

ऐसे विकार

मन में उत्पन्न कर ही देता है।

दुष्यंत : आप बहुत आक्षेप कर रहे हैं मेरे ऊपर!

गौतमी : (शकुंतला से)

बेटी, अब पल-भर के लिए लज्जा छोड़ और मुझे अपना घूँघट हटा लेने दे। इससे स्वामी तुझे पहचान जाएँगे।

उसका घूँघट हटा देती है।

दुष्यंत : (शकुंतला को देखकर, स्वगत)

यह अनिन्द्य रूप
 और इतना सुलभ?
 पर पहले इसका परिग्रह किया है या नहीं,
 इस संशय में पड़कर
 मन से
 न इसे अपनाते बनता है
 न अस्वीकार करते!
 स्थिति एक भौरे की-सी है
 जिसे कमलकोष का आश्रय तो मिले,
 पर साथ उसमें
 तुषार की बूँदें लिपटी हों!

विचारमग्न-सा हो रहता है।

प्रतीहारी : (स्वगत)

स्वामी को धर्म का कितना विचार है! अन्यथा अनायास मिल रहे ऐसे स्त्री-रत्न को पाकर कौन पल-भर के लिए भी सोचता है?

शांगरव : क्यों राजा, चुप क्यों हो रहे?

दुष्यंत : ऐसा है तापसगण, कि मुझे बहुत सोचकर भी याद नहीं आ रहा कि मैंने कब इसे पत्नी के रूप में अपनाया है। और अब इसके गर्भ-लक्षणों को देखते हुए भी मैं इसे स्वीकार कर लूँ यह क्षत्रियोचित कार्य नहीं।

शकुंतला : (स्वगत)

ओह! इन्हें विवाह में ही संदेह है! इससे तो दूर तक फैल आई मन की आशा-लता सर्वथा टूट गई।

शांगरव : चोरी किया धन,

धन का स्वामी

जैसे चोर को ही सौंप दे,

कुछ वैसे ही

महर्षि ने

तुम्हारे बलात्कार से दूषित

अपनी बेटी को

तुम्हें सौंपने की अनुमति दी है।

उस अनुमति की तुम

इस तरह...

शारद्वत : तुम ठहरो, शार्गरव, ! देखो शकुंतला, हमें जो कहना था हमने कह दिया है। उत्तर में जो ये कह रहे हैं, वह तुमने सुन लिया है। अब इन्हें विश्वास दिलाने के लिए तुम्हीं को जो कुछ कहना हो, कहो।

शकुंतला : (स्वगत)

तब इनका कैसा अनुराग था और आज इनकी ऐसी बातें! ऐसे में याद दिलाने से भी क्या होगा? पर अपने पर से तो कलंक मुझे मिटाना ही चाहिए, इसलिए कुछ कह देती हूँ। (प्रकट) आर्यपुत्र... (फिर बात को बीच में ही रोककर) पर यह संबोधन इस समय संशयास्पद होगा।...पौरव, तब आश्रम में अपनी सद्भावपूर्ण बातों से मेरे हृदय को भुलाकर और शपथ के साथ तरह-तरह के आश्वासन देकर आज इस तरह के रूखे शब्दों से मुझे तिरस्कृत करना क्या आपको शोभा देता है?

दुष्यंत : (कानों पर हाथ रखकर)

ऐसी बात सुनना भी पाप है।

तुम चाहती हो

कि इन बातों से

मेरे कुल को कलंकित करो

और मेरा नाम भी कीचड़ में घसीट लो?

गँदली नदी

अपना तट तोड़कर

निर्मल जलधार को गँदला देती है

और

किनारे के पेड़ को गिरा देती है।

शकुंतला : अच्छा, यदि सचमुच आप मुझे पराई स्त्री समझकर ऐसा कह रहे हैं, तो मैं एक स्मृति-चिह्न दिखाकर आपकी आशंका दूर कर देती हूँ।

दुष्यंत : बहुत संगत बात है यह।

शकुंतला : (अंगुली में अँगूठी के स्थान को सूकर)

ओह! अंगुली से अँगूठी कहाँ गिर गई?

गौतमी : लगता है शक्रावतार में शची-तीर्थ जल की वंदना करते समय वह तेरी अंगुली से गिर गई है।

दुष्यंत : (मुसकराकर)

इसी को तो स्त्रियों की सूझ-बूझ कहा जाता है!

शकुंतला : यह तो भाग्य ने अपनी प्रभुता दिखाई है। मैं आपको और याद दिलाती हूँ।

दुष्यंत : अब तो हर बात सुननी ही होगी।

शकुंतला : वह एक दिन की बात है न...जब कमलिनी-पत्र के दोने में भरा पानी आप अपने हाथ में लिये थे...

दुष्यंत : हम सुन रहे हैं।

शकुंतला : तभी दीर्घापांग नामक मृगशावक, जिसे मैं अपने बच्चे की तरह मानती थी, हमारे पास चला आया था। वह पहले पानी पी ले, यह सोचकर आपने स्नेह से उसे पास बुलाना चाहा था। पर वह आपसे परिचित नहीं था, इसलिए वह पानी पीने आपके पास नहीं आया। फिर वही पानी मैंने हाथ में ले लिया तो वह पीने के लिए मचलने लगा। तब आपने हँसकर कहा था कि सब लोग अपनों पर ही विश्वास करते हैं—तुम दोनों ही वनजीव हो न!

दुष्यंत : काम साधने के लिए ऐसी मीठी-मीठी और झूठी बातें कहकर केवल विषयासक्त व्यक्तियों को ही अपनी ओर खींचा जा सकता है।

गौतमी : देखिए, आप ऐसा नहीं कह सकते। तपोवन में पली यह लड़की छल-कपट की बात तो बिलकुल जानती भी नहीं।

दुष्यंत : बूढ़ी तपस्विनी!

बिना किसी के सिखाए

पशु-पक्षियों में भी

स्त्री

अपने अंदर से ही चतुराई सीख जाती है;

जिसे साथ

मनुष्य की बुद्धि भी मिली हो,

उसकी तो बात ही क्या!

कोयल को देखो,

जब तक

उसके बच्चे उड़ना नहीं सीखते,

तब तक वह उनका पोषण

दूसरे पक्षी से करती है।

शकुंतला : (रोषपूर्वक)

अनार्य, जैसा तुम्हारा अपना हृदय है, वैसा ही तुम हर एक का समझते हो? घास-फूस से ढँके कुएँ की तरह तुम धर्म के बाने में

अपनी वास्तविकता छिपाए हो। दूसरा कौन तुम्हारा अनुकरण कर सकता है?

दुष्यंत : (स्वगत)

वन में रहने के कारण इसके क्रोध में विलास का स्पर्श नहीं है।

आँखें लाल हैं,

किंतु तिरछी होकर नहीं देखती :

वाणी में कठोरता है,

पर किसी तरह का उतार-चढ़ाव नहीं;

नीचे का होंठ

पूरा काँप रहा है,

जैसे कि वह शीत से पीड़ित हो;

और झुकी-झुकी भौंहें

एक साथ टेढ़ी होकर

जैसे एक ही स्थान पर स्तब्ध हो गई हैं।

फिर मुझे संशय में देखकर इसे जो क्रोध आ रहा है, उसमें किसी तरह का कपट भी नहीं लगता।

इसे लगता है

कि मैं कठोर-हृदय व्यक्ति हूँ

जो इसे भूल गया हूँ,

और इसके साथ अपना एकांत-प्रणय भी

स्वीकार नहीं कर रहा।

इससे इसकी आँखें लाल हो उठी हैं,

और भौंहें

तिरछी होकर ऐसे लग रही हैं

जैसे क्रोध में आकर

इसने कामदेव का धनुष

एक झटके से तोड़ दिया हो।

(प्रकट) देखो भद्रे, दुष्यंत के चरित्र को सब लोग जानते हैं। उसकी तो प्रजा में भी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता।

शकुंतला : धर्म क्या है

और उसका पालन कैसे होता है,

इसके ज्ञाता और नियंता

आप ही लोग तो हैं।

लज्जा से झुकी रहती

स्त्रियाँ तो

इस संबंध में

कुछ भी नहीं जानतीं!

तो ठीक है, यह एक स्वेच्छाचारिणी वेश्या है जो आपके सामने आ खड़ी हुई!

गौतमी : बेटी, तू पुरुवंश का विश्वास करके एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में जा पड़ी है जिसके मुँह में शहद है और हृदय में विष।

शकुंतला पल्ले से मुँह ढाँपकर
रोने लगती है।

शांगरव : निर्बाध स्वेच्छाचार इसी तरह तो मन को सालता है।

एकांत मिलन से पहले

अच्छी तरह व्यक्ति को जानना

आवश्यक है।

जिसके हृदय का पता न हो,

ऐसे व्यक्ति से किया स्नेह

बाद में

शत्रुता का रूप ले लेता है।

दुष्यंत : सुनिए तो! हमसे कोई अपराध नहीं हुआ। आप इनकी बात पर विश्वास करके हम पर निराधार आक्षेप कर रहे हैं।

शांगरव : (आवेश के साथ)

सुना आपने यह हीन उत्तर!

जिसने जीवन-भर

कभी सीखा ही नहीं

कि छल-कपट क्या है,

उसकी बात विश्वसनीय नहीं;

और जो एक विद्या समझकर

दूसरों को ठगने का अभ्यास करते हैं,

उनकी बात पर

विश्वास करना आवश्यक है!

दुष्यंत : अच्छा मान लिया कि हम ऐसे हैं और केवल आप ही लोग सत्यवादी हैं। पर इस बेचारी को धोखा देकर हमें मिलेगा क्या?

शांगरव : अधःपतन होगा तुम्हारा।

दुष्यंत : पौरवों में से किसी का अधःपतन हो, यह बात विश्वास करने की नहीं।

शांगरव : अधिक कहने-सुनने में कुछ नहीं रखा है, राजा! हमने गुरु के आदेश का पालन कर दिया है, और अब लौटकर जा रहे हैं।

यह तुम्हारी पत्नी है;

तुम इसे रखो या छोड़ दो,

यह तुम्हारी इच्छा पर है।

एक पति के रूप में

तुम्हारा

अपनी पत्नी पर

सब तरह का अधिकार है।

चलो गौतमी, तुम आगे-आगे चलो।

वे तीनों चल देते हैं।

शकुंतला : इस धूर्त ने मुझे धोखा दिया, और अब तुम लोग भी मुझे छोड़कर जा रहे हो?

गौतमी : (रुककर और पीछे की ओर देखकर)

बेटा शांगरव, शकुंतला विलखती हुई हमारे पीछे-पीछे आ रही है।

पति ने निष्ठुर होकर उसका तिरस्कार कर दिया, अब यह बेचारी यहाँ क्या करेगी?

शांगरव : (पीछे मुड़कर क्रोध के साथ)

अपराधिनी, यह अब तेरी कैसी स्वच्छंदता है?

शकुंतला भय से काँपने लगती है।

तू यह जान ले शकुंतला कि—

यदि राजा की बात सच है

तो तेरे-जैसी कुल-कलंकिनी का क्या होगा,

हम नहीं जानते;

और यदि तू समझती है

कि तेरा आचरण पवित्र है

तो पति के घर में

दासी बनकर रहना भी

तुझे स्वीकार होना चाहिए।

इसलिए तू यहीं रुकी रह। हम लोग जा रहे हैं।

दुष्यंत : इस बेचारी को क्यों कोस रहे हो, तपस्वी?

चाँद

कुमुदिनी को

और सूर्य

कमल को ही

खिला सकता है।

जिन्हें अपने पर संयम है,

वे पराई स्त्री के स्पर्श से

सदा विमुख रहते हैं।

शांगरव : राजा, यदि मान लिया जाए कि मानसिक संकुलता के कारण तुम इस बात को भूल गए हो, तो भी क्या पत्नी का परित्याग करने में तुम्हें पाप की आशंका नहीं है?

दुष्यंत : (पुरोहित से)

अच्छा, आप बताएँ कि इसमें उचित और अनुचित का निर्णय कैसे हो?

मेरा मन संकुल है

या यह झूठ कहती है,

इस संशय में

एक ओर पत्नी-परित्याग का

और दूसरी ओर

पराई स्त्री के स्पर्श का

दोष सिर पर आ सकता है।

पुरोहित : तो ऐसा किया जाय...

दुष्यंत : हाँ, बताएँ आपका क्या आदेश है?

पुरोहित : ...कि प्रसव होने तक यह मेरे घर में रहे।

दुष्यंत : ऐसा क्यों?

पुरोहित : कुछ अच्छे ज्योतिषी पहले ही आपको बता चुके हैं कि आपके चक्रवर्ती पुत्र होगा। यदि ऋषि का नाती उन लक्षणों से युक्त होगा तो आप आदरपूर्वक इसे अंतःपुर में रख लीजिएगा। न हुआ, तो इसका अपने पिता के यहाँ लौट जाना निश्चित है ही।

दुष्यंत : गुरु जैसा ठीक समझें।

पुरोहित : (उठकर)

बेटी, इधर मेरे पीछे-पीछे आओ।

शकुंतला रोती हुई पुरोहित, गौतमी और
तपस्वियों के साथ चली जाती है।
दुष्यंत, शाप के कारण स्मृतिहीन,
शकुंतला के विषय में सोचता रहता है।

नेपथ्य से : आश्चर्य! आश्चर्य!

दुष्यंत : (सुनकर)

यह क्या हुआ है?

पुरोहित : (आकर विस्मित भाव से)

देव, एक बहुत ही विचित्र बात हुई है।

दुष्यंत : क्या बात?

पुरोहित : जब कण्व के शिष्य चले गए तो—

अपने भाग्य को कोसती

वह बाला

बाँहें उठाकर

ज्योंही रोने लगी...

दुष्यंत : क्या हुआ तब?

पुरोहित : ...त्योंही

आकाश से उतरी

एक नारी-रूप अप्सरा-सी ज्योति,

उसे गोदी में लेकर

हमारे सामने से

तिरोहित हो गई।

सभी विस्मित हो रहते हैं।

दुष्यंत : आचार्य, हमने तो पहले ही उसे अस्वीकार कर दिया था, अब व्यर्थ

में कुछ भी सोचने से क्या लाभ? आप जाकर विश्राम करें।

पुरोहित : विजयी रहो।

चला जाता है।

दुष्यंत : वेत्रवती, मन व्याकुल है। शयन-गृह का मार्ग दिखाओ।

प्रतीहारी : इधर से आएँ, देव!

दुष्यंत : (धूमकर, स्वगत)

मुनि-कन्या का तिरस्कार कर दिया;

कभी उसे

पत्नी-रूप में स्वीकार किया था,

यह स्मरण नहीं आता;
फिर भी
हृदय में एक गहरी पीड़ा है,
और न जाने क्यों
कहीं विश्वास-सा होता है
कि उसने जो कहा
वही सच था।

॥ अंक पाँच ॥

अंकावतार

नागरक श्याल और पीछे की ओर
हाथ बाँधकर एक पुरुष को
साथ लिये दो रक्षक आते हैं।

रक्षक : (पुरुष को मारते हुए)

बोल रे कुम्भिलक, यह बड़ी-बड़ी चमकती मणियोंवाली राजा की
अँगूठी, जिस पर उनका नाम भी खुदा है, तूने कहाँ से ली?

पुरुष : (भय का अभिनय करता है)

दया करो भाव-मिश्र, दया करो। ऐसा बुरा काम मैं कभी नहीं
करता।

एक रक्षक : नहीं, तू तो पूज्य ब्राह्मण है न, जिसे राजा ने यह दान में दे दी
है!

पुरुष : सुनिए तो। मैं शक्रावतार का रहनेवाला धीवर हूँ।

दूसरा रक्षक : अरे पाटच्चर, हम क्या तुझसे तेरी बस्ती का नाम और तेरा काम-
काज पूछ रहे हैं?

नागरक श्याल : सूचक, इसे पूरी बात क्रम से बताने दो। बीच में बाधा मत
डालो।

दोनों रक्षक : जैसी बहनोई की आज्ञा। बोल रे अब!

धीवर : मेरे पास जाल, कँटिया और मछली पकड़ने का सब सामान है।
उसी से मैं पेट पालता हूँ।

नागरक श्याल : (हँसकर)

कितनी पवित्र आजीविका है!

धीवर : स्वामी, ऐसा न कहें

कोई काम निंदित है,

इसीलिए

जो उस काम को करता आया हो,

वह उसे छोड़ नहीं देता।
 बड़े-बड़े कोमल-हृदय ब्राह्मण भी
 यज्ञ की वेदी पर
 पशु-हिंसा का निष्ठुर काम
 अपना धर्म समझकर करते हैं।

नागरक श्याल : अब तू आगे बता क्या हुआ?

धीवर : एक दिन मैंने एक रोहित मछली पकड़ी। उसे काटकर टुकड़े किए।
 पेट में देखा, तो वहाँ यह बड़े-बड़े रत्नों वाली अँगूठी चमकती दिखाई
 दी। यहाँ उसे बेचने के लिए दिखाने लाया, तो इन लोगों ने मुझे
 पकड़ लिया। बस इतनी ही इसकी कहानी है। अब आप मुझे मार
 लें, चाहे कूट लें।

नागरक श्याल : (अँगूठी को सूँघकर)

जालुक, यह अँगूठी मछली के पेट में रही है, इसमें संदेह नहीं।
 इसमें से मांस की गंध आ रही है। अब इस आदमी ने जो कहानी
 बताई है, इसकी जाँच करनी होगी। इसके लिए आओ, राजभवन
 चलें।

दोनों रक्षक : (धीवर से)

चल रे गिरहकट, चल!

सब घूमते हैं।

नागरक श्याल : सूचक, तुम दोनों यहाँ ड्योढ़ी के द्वार पर सावधान होकर ठहरो
 और मेरी प्रतीक्षा करो। मैं अभी राजभवन के अंदर होकर आता
 हूँ।

दोनों रक्षक : हाँ बहनोई, आप अंदर जाकर स्वामी की कृपा प्राप्त करें।

नागरक श्याल घूमकर चला जाता है।

सूचक : जालुक, बहनोई ने बहुत देर कर दी।

जालुक : भई, राजाओं के पास अवसर देखकर जाना पड़ता है।

सूचक : और मेरे दोनों हाथ इस गिरहकट की हत्या के लिए अकुला रहे
 हैं।

धीवर : भाव, आप बिना कारण हत्यारे बनें, यह ठीक नहीं।

जालुक : (देखकर)

ये रहे हमारे स्वामी। राजा का आज्ञापत्र लेकर आ रहे हैं। अब
 या तो यह जाकर अपने घर के लोगों का मुँह देखेगा, या गीध
 और सियार इसका भोजन करेंगे।

नागरक श्याल : (आकर)

जल्दी से इस...

धीवर : (आधी बात सुनकर ही)

हाय, मैं मारा गया!

नागरक श्याल : ...जालजीवी को छोड़ दो। स्वामी ने कहा है कि अँगूठी मिलने का जो वृत्तांत इसने सुनाया है, वह ठीक है।

सूचक : जैसी बहनोई की आज्ञा। यह तो यम के घर से जीता लौट आया।
धीवर का बंधन खोलता है।

धीवर : स्वामी, मेरे प्राण आपने खरीद लिये हैं।

पैरों पर गिरता है।

नागरक श्याल : उठ, उठ, स्वामी ने तुझे अँगूठी के मूल्य का यह पारितोषिक दिया है। चल, ले-ले इसे।

एक कंगन उसे देता है।

धीवर : (कंगन लेकर और प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक) बहुत कृपा है आपकी।

जालुक : राजा ने तो इस पर ऐसे कृपा की है जैसे किसी को सूली से उतारकर हाथी के कंधे पर बिठा दिया जाए!

सूचक : बहनोई, इस पारितोषिक से तो लगता है कि उस अँगूठी में बड़े-बड़े मूल्यवान रत्न लगे होंगे, जिससे स्वामी को वह बहुत प्रिय होगी।

नागरक श्याल : नहीं, मूल्यवान रत्नों के कारण वह स्वामी को प्रिय नहीं है। मुझे कुछ और ही कारण लगता है।

दोनों रक्षक : क्या कारण लगता है?

नागरक श्याल : लगता है कि अँगूठी को देखकर स्वामी को किसी प्रिय व्यक्ति की याद हो आई है। वे स्वभाव से गंभीर हैं, फिर भी उसे देखते ही सहसा अव्यवस्थित हो उठे हैं।

सूचक : तो बहनोई, स्वामी को आप एक साथ प्रसन्न और चिंतित कर आए हैं।

जालुक : मैं तो कहता हूँ कि इस मछलीमार के कारण ही...

भौंहें तिरछी करके धीवर की ओर देखता है।

धीवर : भट्टारक, इस पारितोषिक का आधा मूल्य आपके मदिरापान के लिए होना चाहिए।

जालुक : अरे धीवर भाई! अब तुम हमारे बहुत अच्छे और प्यारे मित्र बन गए! मित्रता का आरंभ मदिरा की साक्षी में ही होना चाहिए। आओ, यहाँ से सीधे कलाल के यहाँ चलते हैं।

सब चले जाते हैं।

॥ अंकावतार ॥

अंक : छह

[राजभवन के अंतर्गत प्रमदवन]

हठ : कोठ

[सिद्धांत नामक के नाममात्र]

विमान में बैठी मिश्रकेशी का प्रवेश।

मिश्रकेशी : अप्सराओं ने जिन-जिन कार्यों के लिए संदेश दिए थे, वे सब तो मैंने पूरे कर लिये। अब स्वामी कुबेर के स्नान का समय होने से पहले यहाँ से राजर्षि दुष्यंत का समाचार भी जान लूँ। मेनका के संबंध से शकुंतला अब मेरे लिए अपने ही शरीर की तरह है और लड़की का ध्यान रखते हुए मेनका ने यहाँ के समाचार जानने को कहा भी था। (चारों ओर देखकर) क्या बात है—उत्सव का दिन होने पर भी राजभवन में उसकी कोई हलचल दिखाई नहीं दे रही! यूँ तो मैं समाधि से ही सबकुछ जान सकती हूँ, परंतु मेनका चाहती थी कि मैं सबकुछ प्रत्यक्ष देखकर आऊँ? इसलिए उसके अनुरोध की रक्षा मुझे करनी है। तो तिरस्करिणी विद्या से अपने को अदृश्य करके यहाँ उद्यान-रक्षकों के समीप खड़ी हो रहती हूँ। यहीं से मुझे सब पता चल जाएगा।

विमान से उतरने का अभिनय करके

एक ओर खड़ी हो जाती है। तभी

आम की मंजरियों को देखती हुई एक चेटी

और उसके पीछे-पीछे दूसरी चेटी आती है।

पहली चेटी : कितना खिला हुआ है वसंत!

आम की मंजरियाँ,

जिनके वृंत

हरे और हल्के ताँबई रंग के हैं,

और जो

इस अवसर के मंगल-उपकरणों की तरह हैं,

इस समय ऐसी लग रही हैं

जैसे

नए वसंत का

यह पहला उच्छ्वास हों।

दूसरी चेटी : तू अकेली मन-ही-मन क्या बात कर रही है, परभृतिका?

परभृतिका : तू जानती नहीं, मधुकरिका, कि आम की कलियों को देखकर परभृतिका पागल हो उठती है?

मधुकरिका : (जल्दी से पास आकर सहर्ष)
तो वसंत खिल आया?

परभृतिका : हाँ, तू मधुकरिका है, तेरे लिए भी तो यह उन्मत्त होकर गीत गाने का समय है।

मधुकरिका : तू मुझे सहारा दे, तो मैं पंजों के बल खड़ी होकर आम की एक मंजरी तोड़ लूँ। उससे कामदेव की अर्चना करूँगी।

परभृतिका : ऐसा है, तो अर्चना का आधा फल मेरे लिए।

मधुकरिका : वह तो बिना कहे ही तुझे मिल जाता। प्रजापति ने एक शरीर के दो भाग करके ही तो हमें बनाया है। (परभृतिका के सहारे से आम की मंजरी तोड़कर) अभी ठीक से खिली नहीं यह मंजरी, फिर भी वृंत से टूटते ही देख इसने कैसी सुगंध फैला दी! जय हो भगवन् कामदेव की। (अंजलि बाँधकर)

जाओ आप्रमुकुल,

मेरे हाथ से छूटकर

तुम

धनुष चढ़ाए कामदेव के

पाँच बाणों में से एक बाण बन जाओ,

और पथिकों के वियोग में व्याकुल

प्रतीक्षा करती नवयुवितयों को

अपना लक्ष्य बनाओ।

कंचुकी : (बिना पट-परिवर्तन के प्रवेश करके क्रोध के साथ)

यह तुम क्या कर रही हो, नासमझ लड़की? देव ने वसंतोत्सव रोक दिया है, फिर भी तुम आम की मंजरियाँ तोड़ रही हो?

परभृतिका

मधुकरिका : (भयभीत होकर)

क्षमा करें, आर्य! हमें इसका पता नहीं था।

कंचुकी : तुमने सुना नहीं कि देव की आज्ञा का पालन स्वयं वृक्षों और उन पर आश्रित पक्षियों तक ने किया है?

आम की कलियाँ

बहुत दिन से निकली हैं,

फिर भी अभी तक
 उन पर पराग नहीं आया;
 कुरुवक की कोंपलें
 कब से फूटी हैं,
 पर अभी तक वे
 वैसी कोंपलें ही बनी हैं;
 शिशिर बीत गया है,
 फिर भी युवा कोयलों का संगीत
 उनके कंठों में ही रूँधा है;
 और लगता है
 कि स्वयं काम भी
 अपने तूणीर से आधा निकला बाण
 जहाँ-का-तहाँ रोके
 चकित-सा खड़ा देख रहा है।

मिश्रकेशी : राजर्षि का बहुत प्रभाव है, इसमें संदेह नहीं।

परभृतिका : आर्य, कुछ ही दिन पहले नगरपाल मित्रावसु ने प्रमदवन में चित्र-रचना के लिए हमें यहाँ स्वामी के चरणों में भेजा था। हम यहाँ नई आई हैं, इसीलिए यह समाचार हमने पहले नहीं सुना।

कंचुकी : तो अब इसके बाद ऐसा मत करना।

परभृतिका

मधुकरिका : आर्य, यदि बताना अनुचित न हो, तो हम जानना चाहेंगी कि स्वामी ने इस बार वसंतोत्सव रोक क्यों दिया है?

मिश्रकेशी : राजाओं को तो उत्सव बहुत प्रिय होते हैं, इसलिए इसका कोई बहुत ही बड़ा कारण होना चाहिए।

कंचुकी : (स्वगत)

अब तक यह बात बहुत-से लोग जान गए हैं। तो क्यों न इन्हें भी बता दूँ? (प्रकट) शकुंतला के तिरस्कार का लोकापवाद आप लोगों ने सुना है?

परभृतिका

मधुकरिका : नगरपाल के मुँह से हमने अँगूठी मिलने तक का वृत्तांत सुना है।

कंचुकी : तब तो थोड़ी ही बात बतानी होगी। अँगूठी देखकर जब से देव को स्मरण हो आया है कि आर्या शकुंतला से सचमुच

उन्होंने एकांत में विवाह किया था, तब से ही मोहवश आर्या
का तिरस्कार करने के लिए उन्हें बहुत पश्चात्ताप हो रहा है।
अब—

सौंदर्य के उपादानों से वे
खीझ उठते हैं,
और पहले की तरह
परिचारकों की सेवा
स्वीकार नहीं कर पाते।
शय्या पर करवटें बदलते
उनकी सारी-सारी रात .
आँखों में ही बीत जाती है।
अंतःपुर में
चेष्टा करते हैं
कि बातों के उत्तर सावधानी से दें,
पर अनजाने में
किसी की भी जगह
मुँह से शकुंतला का नाम निकल जाने से
देर-देर तक वे
लज्जा से सिर झुकाए
चुपचाप बैठे रहते हैं।

मिश्रकेशी : कितना अच्छा लग रहा है यह सुनकर!

कंचुकी : इसीलिए, मन बहुत अस्थिर होने से, उत्सव का आयोजन उन्होंने
रोक दिया है।

नेपथ्य से : इधर से आइए देव, इधर से!

कंचुकी : (सुनकर)

अरे! देव तो इधर ही को आ रहे हैं। तो तुम लोग अब चलकर
अपना काम करो।

परभृतिका

मधुकरिका : हम जा रही हैं।

चली जाती हैं। पश्चात्ताप की स्थिति के
अनुकूल वेश में दुष्यंत का प्रवेश।
साथ में विदूषक और प्रतीहारी हैं।

कंचुकी : (राजा को देखकर)

किसी भी स्थिति में विशिष्ट आकृति के व्यक्ति के सौंदर्य में अंतर नहीं आता। इस समय मन संतप्त होने पर भी ये देखने में कितने अच्छे लग रहे हैं!

और सब अलंकरणों का परित्याग करके
केवल एक ही ढीला-सा सोने का वलय
हाथ में पहन रखा है;
होंठों की लाली
उसाँसों से फीकी पड़ गई है;
और आँखों में,
निरंतर जगते रहने से
चिंता के लाल डोरे उभर आए हैं।
पर इस पर भी,
अपने आंतरिक तेज के कारण,
सान पर घिसे महारत्न की तरह,
इनकी क्षीणता
लक्षित नहीं होती।

मिश्रकेशी : (राजा को देखकर)

अपमान और परित्याग की वेदना सहकर भी शकुंतला ठीक ही
इनके लिए दुःखी रहती है।

दुष्यंत : (चिंता-भाव से धीरे-धीरे घूमकर)

उस हरिणाक्षी ने
तब इसे जगाना चाहा,
तो भी यह हृदय सोया रहा;
और अब,
जैसे पश्चात्ताप का दुःख सहने के लिए ही,
यह अभाग
जाग उठा है।

मिश्रकेशी : उस बेचारी का भाग्य ही ऐसा है।

विदूषक : (अपने से)

लो, अब फिर से वही शकुंतला नाम की हवा इन्हें छू गई! अब
जाने कैसे इसका उपचार होगा?

कंचुकी : (पास आकर)

देव की जय हो। देव, प्रमदवन के सभी स्थान मैंने देख लिये हैं।

आप अपनी रुचि से, जिस किसी विनोद-स्थान पर चाहें आसन ग्रहण कर सकते हैं।

दुष्यंत : वेत्रवती, तुम जाकर हमारी ओर से अमात्य पिशुन से कह दो कि देर से जागने के कारण आज हम धर्मासन पर न बैठ सकेंगे। उन्होंने नगर का जो भी कार्य देख रखा हो, वह एक पत्र में लिखकर हमारे पास भेज दें।

प्रतीहारी : जैसी देव की आज्ञा।

चली जाती है।

दुष्यंत : पार्वतायन, तुम भी अब अपने कार्य-स्थान पर जाओ!

कंचुकी : जैसी देव की आज्ञा।

चला जाता है।

विदूषक : सबको आपने भगा दिया। शिशिर बीत जाने से प्रमदवन बहुत रमणीय हो रहा है। अब आप यहाँ अपना मन बहलाएँ।

दुष्यंत : (निःश्वास छोड़कर)

मित्र, कहते हैं कि एक विपत्ति के साथ सौ-सौ विपत्तियाँ और चली आती हैं। यह बात कितनी सच है! देखो न—

इधर

वह अँधेरा मन से दूर हुआ,

जिसके आवरण में

मुनि-कन्या के प्रणय की स्मृति

खो गई थी, और उधर

कामदेव ने

प्रहार करने के लिए

अपने धनुष पर

आम की मंजरियों का बाण चढ़ा लिया।

इधर

अँगूठी को देखकर स्मृति लौटी

और मन

प्रिया का

अकारण अनादर करने के दुःख से रो उठा

और उधर

इसे और व्याकुल करने के लिए

नए वसंत की नई सुगंध

उड़कर पास आने लगी।

विदूषक : तुम ठहरो मित्र, मैं अभी अपने डंडे से कामदेव के इन वाणों का नाश करता हूँ।

डंडा उठाकर आम की मंजरियों
पर प्रहार करने लगता है।

दुष्यंत : (मुसकराकर)

रहने दो, मैंने तुम्हारा ब्रह्मतेज देख लिया है। बताओ, अब कहाँ बैठें जहाँ उस रूपसी जैसी कोमल लताओं में घिरकर आँखों को थोड़ा सुख दिया जा सके।

विदूषक : आपने अपनी उस निकट परिचारिका से, जो बहुत मेधाविनी और रेखांकन में कुशल है, कहा था कि आप यह समय माधवीलता-भवन में बिताएँगे; इसलिए वह आर्या शकुंतला की चित्रकृति, जो आपने चित्रफलक पर अपने हाथ से बनाई है, लेकर वहीं आ जाय।

दुष्यंत : अरे, हाँ! अब हृदय के लिए इतना ही तो आश्वासन रह गया है। तो चलो, माधवीलता-भवन का मार्ग दिखाओ।

विदूषक : आइए, इधर से आइए।

दोनों पीछे घूमते हैं।

मिश्रकेशी उनके

पीछे-पीछे जाती है।

विदूषक : यह रहा मणिशिलाओं से युक्त माधवीलता-मंडप। अपने सहज एकांत, फूलों की रमणीयता और भीनी हवा से यह जैसे स्वागत-संकेत देकर आपको बुला रहा है। आइए, इसके अंदर चलकर बैठिए।

दोनों मंडप के अंदर जाकर बैठ जाते हैं।

मिश्रकेशी : यहाँ लताओं में छिपकर देखती हूँ कि शकुंतला की चित्रकृति इन्होंने कैसी बनाई है। जाकर उसे बताऊँगी कि पति के मन में उसके लिए कितना मान और अनुराग है।

छिपकर खड़ी हो जाती है।

दुष्यंत : (निःश्वास छोड़कर)

शकुंतला से पहली बार मिलने से लेकर वह सारा वृत्तांत अब मुझे याद आ रहा है। तब वह सब मैंने तुम्हें बताया भी था। उस समय जब मैंने उसका अनादर किया, तुम पास में नहीं थे। पर पहले भी कभी तुमने मेरे सामने उसका नाम नहीं लिया। क्या मेरी तरह तुम भी उसे भूल गए थे?

मिश्रकेशी : इसीलिए तो कहते हैं कि राजाओं को क्षण-भर के लिए भी अपने सहायक मित्रों को अपने से दूर नहीं करना चाहिए।

विदूषक : मैं भूला नहीं था, पर सारी बात बताकर अंत में चलते समय आपने यह भी तो कहा था कि वह सब हँसी की बात है, मैं कहीं उसे सच न मान लूँ। मैंने मूर्खतावश यही समझा कि आप ऐसा कह रहे हैं, तो ऐसा ही होगा। और जब होनी ही ऐसी थी, तो उसमें कोई कर ही क्या सकता था?

मिश्रकेशी : हाँ, ठीक ही तो कह रहा है यह।

दुष्यंत : (पल-भर सोचता रहकर)

अब किसी तरह मुझे बचाओ, मित्र!

विदूषक : मेरी समझ में नहीं आता कि आपको यह हो क्या रहा है? भले आदमी कभी भी इस तरह शोक से व्याकुल नहीं होते। कितनी भी आँधी चले, पहाड़ अपनी जगह पर टिके रहते हैं।

दुष्यंत : मित्र, जब यह सोचता हूँ कि मेरे तिरस्कार कर देने से उसके मन को कितना धक्का लगा होगा, और तब से उसकी क्या दशा होगी, तो अपना-आप मुझे बहुत असह्य-सा लगने लगता है।

मेरे तिरस्कार कर देने पर

वह बेचारी

अपने बंधुओं के पीछे-पीछे जाने को हुई,

तो उधर से

गुरु के समान उसके गुरु-शिष्य ने

ऊँचे स्वर में

उसे पीछे जाने से रोक दिया।

ऐसे में

मेरी क्रूरता को उलाहना देती,

दुलते आँसुओं से रूँधी दृष्टि से

उसने जैसे मेरी ओर देखा,

उसे याद करके

एक विष-बुझा वाण

हृदय में गड़ जाता है।

मिश्रकेशी : ओह! इनकी यह विवशता मेरे हृदय को भी कितना संतप्त कर रही है!

विदूषक : मित्र, मेरे मन में एक आशंका उठ रही है। वह कौन आकाश-चारी जीव था जो उसे यहाँ से उठा ले गया था?

दुष्यंत : उस पतिव्रता को कोई और छू भी सकता है? उसका जन्म मेनका के गर्भ से हुआ था, ऐसा उसकी सखियों से मैंने सुना था। मुझे लगता है या तो वही उसे उठा ले गई होगी, या उसकी कोई सहचरी।

मिश्रकेशी : इस व्याकुल मनःस्थिति में भी इनका इस तरह सचेत भाव से सोच सकना आश्चर्यजनक है।

विदूषक : यदि ऐसा है तो आपको आश्वासन रखना चाहिए कि कुछ ही समय में आपकी अवश्य उनसे भेंट होगी।

दुष्यंत : यह तुम कैसे कहते हो?

विदूषक : बेटी का पति-वियोग का दुःख माता-पिता से बहुत दिनों तक नहीं देखा जाता।

दुष्यंत : मित्र,
उससे मिलन
जाने एक सपना था,
या माया;
या जाने
अपनी ही मति का एक विभ्रम था,
या पहले के पुण्यों का कोई फल।
वह बीता समय
अब कभी लौटकर नहीं आएगा,
और आज की अभिलाषाएँ
शिखर से ढुलते झरने की तरह
नीचे गिरकर छितरा जाएँगी।

विदूषक : ऐसा नहीं होगा मित्र! अँगूठी का मिलना अपने में ही इसका प्रमाण है। जो होना हो, वह कैसे हो जाएगा, यह कभी सोचा भी नहीं जा सकता।

दुष्यंत : (अँगूठी को देखकर)
इसे देखकर भी दया आती है कि कैसे दुर्लभ स्थान तक पहुँचकर
यह नीचे गिरी है!

तुम्हारा गिरना
प्रमाण है अंगुलीय,
कि तुम्हारे पुण्यों की मात्रा
बहुत क्षीण थी!
अन्यथा,
लाल-लाल नखों से चमकती

उसकी अंगुलियों तक पहुँचकर

उनसे तुम्हें

इस तरह गिरना न पड़ता।

मिश्रकेशी : यह किसी और के हाथ में जा पड़ती, तब तो सचमुच इस पर दया आती। तुम यहाँ नहीं हो शकुंतला, इसलिए यह सब सुनने का सुख अकेला मुझी को मिल रहा है।

विदूषक : अच्छा एक बात बताएँ। आपने यह अँगूठी उसके हाथ में पहनाई किस उद्देश्य से थी?

मिश्रकेशी : यह बात पूछकर इसने मेरे मन में भी उत्सुकता भर दी है।

दुष्यंत : जब मैं तपोवन से नगर के लिए चलने लगा, तो उसने आँखों में आँसू भरकर मुझसे पूछा था, 'अब आर्यपुत्र कितने दिनों में मुझे याद करेंगे?'

विदूषक : फिर?

दुष्यंत : तब यह अँगूठी उसकी अंगुली में पहनाकर मैंने उत्तर दिया था...

विदूषक : क्या उत्तर दिया था?

दुष्यंत : ...कि

इसमें

मेरे नाम के जितने अक्षर हैं,

उनमें से

एक-एक अक्षर

एक-एक दिन में तुम गिना करना।

इस तरह

जब तक तुम नाम के अंत तक पहुँचो,

उससे पहले ही

मेरे अंतःपुर का कोई व्यक्ति

मेरा आदेश लेकर

तुम्हें लिवा ले जाने के लिए

यहाँ पहुँच जाएगा।

पर ऐसा निष्ठुर हूँ कि अपने वचन का पालन मैंने किया नहीं।

मिश्रकेशी : जीवन का कितना सुंदर समय था जो भाग्यवश इनके विपरीत हो गया।

विदूषक : पर कँटिया पर लगे चारे की तरह यह अँगूठी उस रोहित मछली के पेट में कैसे जा पहुँची।

दुष्यंत : शची-तीर्थ में जल की वंदना करते समय यह उसकी अंगुली से गंगा की धारा में जा गिरी थी।

विदूषक : अब बात समझ में आई।

मिश्रकेशी : तो इसलिए, पाप से दूर रहनेवाले इस राजर्षि को बेचारी शकुंतला से अपने विवाह की बात पर सदेह हुआ! पर जहाँ इतना अनुराग हो, वहाँ स्मृति-चिह्न की तो अपेक्षा ही नहीं रह जाती। फिर ऐसा हुआ क्योंकर?

दुष्यंत : इसलिए मैं इस अँगूठी को ही दोष देता हूँ।

विदूषक : यह तो उसी तरह हुआ जैसे मैं अपने डंडे को दोष देने लगूँ कि मैं इतना सीधा हूँ और यह इतना टेढ़ा है!

दुष्यंत : अंगुलीय,
उसकी अंगुलियों के कोमल पोर छोड़कर
पानी में डूबते
तुमसे बना कैसे?
पर
तुम तो अचेतन हो
इसलिए
उसके गुणों को न पहचान सकीं,
मुझे यह पूछना अपने से चाहिए
कि मुझसे

उसका तिरस्कार कैसे किया जा सका?

मिश्रकेशी : जो मैं कहना चाहती थी, वह इन्होंने स्वयं ही कह दिया।

विदूषक : लगता है आज मुझे भूखों मरना पड़ेगा।

दुष्यंत : (उसकी बात की ओर ध्यान न देकर)

मैंने अकारण तुम्हारा परित्याग किया, शकुंतला, इसलिए हृदय पश्चात्ताप से जल रहा है। तुम मुझ पर दया करो और फिर एक बार मुझे अवसर दो कि मैं तुम्हारा साक्षात्कार कर सकूँ।

चेटी चित्रफलक लिये हुए आती है।

चेटी : (चित्रफलक दिखाकर)

स्वामी, ये रहीं आर्या—इस चित्रफलक में।

दुष्यंत : (देखकर)

ओह! चित्र में भी इसका रूप कितना सुंदर है!

कोरों तक फैली

बड़ी-बड़ी आँखें
 और कौतुक से काँपती
 पतली भौंहें;
 उजले दाँतों में फूटती
 हँसी की चाँदनी,
 निचले होंठ को
 अपनी किरणों से ढाँपती हुई,
 लाल-लाल बेरों-जैसे
 होंठों की एक अपनी चमक,
 और भावोद्रेक के कारण
 मुँह पर आई पसीने की झिलमिल जालियाँ,—
 यह जानते हुए भी
 कि सामने की आकृति
 वह स्वयं नहीं
 केवल उसका चित्र है,
 यूँ लगता है
 जैसे अभी-अभी
 यह मुँह खोलेगी
 और मुझसे बात करेगी।

विदूषक : (देखकर)

सच मित्र, तुमने आर्या का भाव ऐसे सजीव रूप में अंकित किया
 है कि मेरी आँखें इसके छिपे अंगों पर टिक ही नहीं पातीं। इस
 भ्रम में कि सचमुच इसमें प्राण-संचार हो गया है, मन होता है कि
 इससे बात करने लूँ।

मिश्रकेशी : सच, ये राजर्षि तूलिका से रेखांकन करने में कितने निपुण हैं! यही
 लगता है जैसे स्वयं शकुंतला मेरे सामने खड़ी हो।

दुष्यंत : अपने अनुबंधों से

चित्रकार

रूप की किसी भी असंगति को
 संगति में बदल देता है;

परंतु

मेरा सारा प्रयत्न

उसके रूप को

बस अंश मात्र ही
 चित्रित कर पाया है।
 किंतु,
 समतल फलक पर भी
 उसके स्तनों का उठार,
 नाभि की गहराई,
 और त्रिवली का लहरिया देखकर
 और दिनों के तैल-प्रयोग से चिकने
 अंगों की कोमलता का आभास पाकर,
 ऐसे लग रहा है
 जैसे वह स्वयं,
 मुसकराती हुई
 अधमुँदी आँखों से
 मेरी ओर देख रही है,
 और अभी-अभी
 मुझसे कुछ कहने जा रही है।

मिश्रकेशी : पश्चात्ताप मन में इतना अनुराग बढ़ा देता है कि सचमुच व्यक्ति को ऐसे ही लगने लगता है।

दुष्यंत : (निःश्वास छोड़कर)

वह स्वयं सामने थी,
 तो मैंने उसका तिरस्कार कर दिया,
 पर आज
 उसके चित्र को ही
 अपने लिए सबकुछ मान रहा हूँ!
 रास्ता चलते
 मुझे भरी हुई नदी मिली,
 तो मैं उसके पास से निकल आया,
 और इस समय
 सामने एक मृगतृष्णा देखकर
 उसी से प्यास बुझाने के लिए
 व्याकुल हो रहा हूँ।

विदूषक : अच्छा मित्र, इस चित्र में ये तीन आकृतियाँ हैं न! देखने में तो ये सभी सुंदर जान पड़ती हैं, इनमें से शकुंतला कौन-सी है?

मिश्रकेशी : इसने शकुंतला को प्रत्यक्ष नहीं देखा इसलिए उसके रूप से अपरिचित इसकी आँखें व्यर्थ ही हैं!

दुष्यंत : तुम बताओ, तुम्हें इनमें से कौन-सी शकुंतला जान पड़ती है?

विदूषक : (अच्छी तरह से देखकर)

मेरे विचार में यह शकुंतला है जिसने एक हाथ से अपने खुले केश सँभाल रखे हैं जिनसे फूल नीचे गिर गए हैं; जिसके चेहरे पर पसीने की मोटी-मोटी बूँदें हैं और कंधे झुके रहने से जिसकी बाँहें शिथिल-सी दिखाई पड़ रही हैं; जिसके वस्त्र की गाँठ कुछ ढीली-सी है और जो थकी-थकी-सी इस छोटे-से आम के पेड़ के पास खड़ी है जिसकी पत्तियाँ सींचने के बाद चिकनी हो उठी हैं। शेष दोनों उसकी सखियाँ हैं।

दुष्यंत : तुम पहचानने में बहुत निपुण हो। इस आकृति पर मेरी भावना के चिह्न भी तुम देख सकते हो।

मेरी अंगुलियों के पसीने से

इसके छोर की रेखाएँ

मैली पड़ गई हैं,

और कपोल का यह उभरा-उभरा रंग

मेरी आँख से गिरा एक आँसू है।

(चेटी से) चतुरिका, चित्र में इनके विनोद-स्थान का हमने अभी अधूरा ही अंकन किया है। तुम जाकर हमारी तूलिकाएँ ले आओ।

चतुरिका : आर्य माधव्य, मेरे आने तक आप ज़रा इस चित्रफलक को पकड़े रहिए।

दुष्यंत : मैं पकड़े रहूँगा।

वैसा ही करता है। चतुरिका
चली जाती है।

विदूषक : अब इसमें और क्या चित्रित करना है?

मिश्रकेशी : लगता है, जो-जो प्रदेश शकुंतला को प्रिय रहे हैं, उन्हीं को ये चित्रित करना चाहते हैं।

दुष्यंत : सुनो, मित्र!

अंकित करूँगा अभी

वह नदी मालिनी

जिसके रेतीले तटों पर

हंसों के जोड़े किलोल करते हैं;

और उसके चारों ओर
हिमालय के पावन निम्नभाग
जहाँ चामर हरिणों के आवास हैं।
उसके बाद अंकित
एक वृक्ष
जिसकी शाखाओं से वल्कल लटक रहे होंगे
और उसके नीचे
काले हरिण की बाईं आँख के पास
धीरे-धीरे अपने सींग से खुजलाती
एक भोली-सी हरिणी।

विदूषक : (स्वगत)

इन बातों से तो लगता है कि आसपास लंबी-लंबी दाढ़ियों वाले
कई एक वल्कलधारी तपस्वी बनाकर ये इस चित्र को पूरे करेंगे?

दुष्यंत : और मित्र, शकुंतला के कुछ और प्रसाधन भी होने चाहिए जिन्हें
चित्रित करना हम भूल गए हैं।

विदूषक : क्या प्रसाधन हैं वे?

मिश्रकेशी : शकुंतला के वन-जीवन और कौमार्य भाव के अनुरूप ही कोई
प्रसाधन होंगे।

दुष्यंत : अभी अंकित नहीं किया

वह शिरीष का फूल

जो उसके कानों से लटककर

उसके गालों को सहलाया करता था;

और न ही वह मृणाल-सूत्र

जो उसके स्तनों के अंतर्भाग में

शरत्कालीय चंद्रमा की

एक कोमल किरण की तरह पड़ा रहता था।

विदूषक : यह क्या है...यह बेचारी अपने रक्त-कमल जैसे कोमल हाथ
से मुँह छिपाए इस तरह व्याकुल-सी क्यों लग रही है? (अच्छी
तरह देखकर) हो हो हो हो हो! यह फूलों के रस का चोर,
दासी का बेटा, दुष्ट भौरा इसके मुख-कमल का रसपान करना
चाहता है!

दुष्यंत : अरे, हटाओ न इस ढीठ को!

विदूषक : दुष्टों के शासक आप हैं, इसलिए आप ही इसे हटा सकते हैं।

दुष्यंत : तुम ठीक कहते हो। सुन रे फूलों की बेल के प्रिय अतिथि, तू क्यों व्यर्थ ही इसके पास आकर दुःख और खेद का अनुभव कर रहा है?

उधर देख,
उस फूल पर बैठी भौरी
प्यासी होते हुए भी
तेरे अनुराग के कारण
अकेली रसपान नहीं कर रही;
वह राह देख रही है
कि कब तू
लौटकर उधर आए,
और वह तेरे साथ मिलकर
रसपान आरंभ करे।

मिश्रकेशी : कैसे रोक रहे हैं उस बेचारे को!

विदूषक : मित्र, यह जाति ही ऐसी है कि रोकने से रुकती नहीं।

दुष्यंत : (क्रोध के साथ)

अच्छा तो तू मेरा शासन नहीं मानता? सुन मधुकर,
मैंने भी
रति के समय
नए-नए
और अधखिले पेड़ की पत्तियों जैसे
उसके होंठों का रसपान
कोमल भाव से ही किया है;
तू यदि उसके बिबाधर पर
निर्दय दंश करेगा,
तो मैं अभी तुझे
कमल-कोष में बंदी कर दूँगा।

विदूषक : हाँ, ऐसा कड़ा दंड दोगे, तो कैसे नहीं डरेगा? (हँसकर स्वगत) इन पर तो पागलपन छाया ही है, साथ मेरा भी वही हाल हो रहा है।

दुष्यंत : अरे! मैं इसे हटा रहा हूँ, और यह फिर भी यहाँ से नहीं टल रहा?

मिश्रकेशी : गंभीर-से-गंभीर व्यक्ति भी प्रेम में पड़कर कैसे पागल हो उठता है!

विदूषक : (प्रकट)

मित्र, यह तो केवल चित्र है।

दुष्यंत : चित्र है?

मिश्रकेशी : मुझे भी अब तक यह जैसे वास्तविक-सा लग रहा था; फिर इनकी तो बात ही क्या जो इस समय जी ही अपनी कल्पना में रहे हैं।

दुष्यंत : यह कैसी सूझ-बूझ है तुम्हारी!

मेरा तन्मय हृदय,
जैसे सचमुच उसे सामने पाकर
सुख का अनुभव कर रहा था,
कि तुमने सहसा
मुझे याद दिलाकर
फिर से प्रिया को
केवल एक चित्र बना दिया!

आँखों में आँसू भर आते हैं।

मिश्रकेशी : विरह का एक अपना ही मार्ग है जिसमें किसी पूर्वापर संबंध का विचार नहीं रहता।

दुष्यंत : मित्र, क्यों मुझे ऐसे निरंतर दुःख सहना पड़ रहा है?

हर समय जागते रहने से
स्वप्न में भी
उससे मिलना संभव नहीं,
और उसका चित्र सामने है, तो
उमड़ते आँसू
इसे भी ठीक से देखने नहीं देते।

मिश्रकेशी : शकुंतला की सखी के सामने यह कहकर उसके तिरस्कार का दुःख आपने दूर कर दिया।

चतुरिका : (आकर)

स्वामी की जय हो! स्वामी, तूलिकाओं की पिटारी लेकर जब मैं
इधर आने लगी...

दुष्यंत : तो क्या हुआ?

चतुरिका : ...तो पिंगलिका ने यह बात देवी वसुमती को बता दी। देवी
वसुमती ने यह कहकर कि 'मैं स्वयं इसे आर्यपुत्र के पास ले
जाऊँगी,' पिटारी मेरे हाथ से छीन ली।

विदूषक : और तू कैसे बच आई?

चतुरिका : देवी के उत्तरीय का आँचल एक पेड़ की बेल में उलझ गया था।
पिंगलिका अभी उसे छुड़ा ही रही थी कि मैं झट से एक ओर
छिपकर निकल आई।

दुष्यंत : देवी वसुमती अब इधर ही आ रही होंगी, मित्र! वे बहुत मान और गर्व में हैं, इसलिए इस चित्र की रक्षा अब तुम्हीं को करनी है।

विदूषक : साथ अपनी भी रक्षा करनी है, यह भी कहो न! (चित्र सँभालकर उठता हुआ) यदि अंतःपुर के कूटजाल से किसी तरह छुटकारा पा जाओ तो मेघच्छन्न प्रासाद में आकर मुझे पुकार लेना। चित्र को मैं ऐसी जगह छिपाकर रखूँगा कि सिवाय कबूतरों के किसी को इसकी टोह तक न मिलेगी।

जल्दी से चला जाता है।

मिश्रकेशी : कितना स्थायी है इनका प्रेम! हृदय में किसी और के लिए भावना है, फिर भी ये अपने पहले प्रणय का भी उतना ही आदर करते हैं।

पत्र हाथ में लिये वेत्रवती का प्रवेश।

प्रतीहारी : देव की जय हो!

दुष्यंत : क्यों वेत्रवती, आते हुए रास्ते में तुमने देवी वसुमती को तो नहीं देखा?

प्रतीहारी : देखा है, देव! पर मुझे यह पत्र लिये आते देखकर वे लौट गई हैं।

दुष्यंत : देवी राज-कार्यों के महत्त्व को समझती हैं, कभी मेरे किसी कार्य में बाधा नहीं डालतीं।

प्रतीहारी : देव, अमात्य ने निवेदन किया है कि आज राज-कार्य बहुत है, इसलिए वे प्रजा का ही कार्य देख पाए हैं। वह उन्होंने इस पत्र में लिख दिया है जिससे आप अपना निर्णय दे सकें।

दुष्यंत : दिखाओ पत्र मुझे।

प्रतीहारी पत्र पास ले आती है।

(पढ़ता हुआ) देवचरणों में निवेदन है कि धनवृद्धि नाम का वणिग, जो पानी के रास्ते वस्तुओं के यातायात का व्यवसाय करता था, नाव डूब जाने से परलोक सिधार गया है। उसके कोई संतान नहीं है और वह कई करोड़ का धन पीछे छोड़ गया है। वह सारा धन अब राजकोष में आना चाहिए—आगे जैसे देव आदेश दें। (खेदपूर्वक) संतान का न होना कितने दुःख की बात है। पर वेत्रवती, इतने धनवान व्यक्ति की तो कई पत्नियाँ होनी चाहिए। पता करो कि उसकी कोई पत्नी गर्भवती तो नहीं है?

प्रतीहारी : अभी-अभी साकेतपुर के एक श्रेष्ठी की बेटी का पुंसवन-संस्कार हुआ है जो कि सुना है उसकी पत्नी है।

दुष्यंत : तो वह गर्भस्थित शिशु अपने पिता के धन का अधिकारी है। यह जाकर तुम अमात्य से कह दो।

प्रतीहारी : जैसी देव की आज्ञा।

चल देती है।

दुष्यंत : और सुनो...

प्रतीहारी : (लौटकर)

आदेश दें।

दुष्यंत : किसी के संतान है या नहीं, इस वितर्क में पड़ने की आवश्यकता नहीं।

घोषण कर दो

कि इस राज्य में

प्रजा के किसी भी व्यक्ति का

किसी भी बंधु से वियोग हो,

तो पाप-परक संबंधों को छोड़कर

और सब संबंधों में

दुष्यंत को वह

अपना वही बंधु माने।

प्रतीहारी : यह घोषणा अभी कर दी जाती है।

जाकर और लौटकर

देव, समय पर हुई वर्षा की तरह आपकी इस घोषणा का सभी बड़े-बड़े लोगों ने स्वागत किया है।

दुष्यंत : (लंबी और ठंडी साँस भरकर)

कितने दुःख की बात है कि संतान के न रहने से जो वंश आश्रयहीन होते हैं, उनकी संपत्ति मूल व्यक्ति की मृत्यु के बाद दूसरों के हाथ में चली जाती है! मेरे बाद पुरुवंश की सारी समृद्धि भी ऐसे ही हो रहेगी जैसे समय पर बीज न पड़ने से उर्वर भूमि!

प्रतीहारी : ऐसा अमंगल कभी नहीं होगा।

दुष्यंत : धिक्कार तो मुझे है जिसने घर आए मंगल का स्वयं तिरस्कार किया है।

मिश्रकेशी : निःसंदेह ये शकुंतला के विषय में सोचकर ही अपने को इस तरह लांछित कर रहे हैं।

दुष्यंत : जैसे कोई

समय पर बीज डालने के बाद

शस्य श्यामला होने को आतुर
 धरती से मुँह मोड़ ले
 उसी तरह मैंने
 उसमें अपनी आत्मा को आरोपित तो किया,
 परंतु उसके बाद
 कुल की प्रतिष्ठा-रूप
 उस धर्मपत्नी का
 परित्याग कर दिया।

मिश्रकेशी : पर अब वह परित्यक्ता नहीं रहेगी।

चतुरिका : (अलग से)

जाने क्या सोचकर अमात्य ने आज वह पत्र इनके पास भेज दिया!
 देखो न आर्या, कैसे स्वामी की आँखों में आँसू उमड़ आए हैं! ये
 इस समय अपने विवेक से शोक पर वश नहीं पा सकेंगे। तुम
 मेघच्छन्न प्रासाद से आर्य माधव्य को बुला लाओ। वही आकर
 इन्हें शांत कर सकेंगे।

प्रतीहारी : तुम ठीक कहती हो।

चली जाती है।

दुष्यंत : ओह! दुष्यंत के पितर भी संशय में पड़े हैं!

मेरे बाद
 कौन इस कुल में
 श्रुति-सम्मत रीति से
 उन्हें पिंडदान करेगा,
 यह सोचकर
 मेरे पितर
 इन संतानहीन हाथों का दिया जल
 जब पीते हैं,
 तो उसमें
 उनके आँसुओं का जल भी
 मिला रहता है!

मिश्रकेशी : कितने दुःख की बात है कि दीये के रहते भी इन्हें बीच के
 व्यवधान के कारण आसपास अँधेरा दिखाई दे रहा है।

चतुरिका : इस तरह दुःखी न हों स्वामी! आपकी अभी वह अवस्था है, जिसमें
 दूसरी किसी रानी से योग्य पुत्र पाकर आप पितृ-ऋण उतार सकते

हैं। (स्वगत) मेरी बात तो ये सुन ही नहीं रहे। हाँ, ठीक औषध मिले, तभी तो न रोग दूर होता है।

दुष्यंत : (शोक का अभिनय करके)

अनार्य देश में आकर

जैसे

सरस्वती की धारा सूख जाती है,

वैसे ही

मुझ अनार्य तक आकर

पौरव वंश की

प्रशस्त संतति-परंपरा

अब अदृश्य होने को है।

मूर्च्छित हो जाता है।

चतुरिका : (हड़बड़ाहट के साथ)

धीरज रखें, स्वामी, धीरज रखें

मिश्रकेशी : क्या अभी सबकुछ बताकर इन्हें शांत कर दूँ? पर नहीं, शकुंतला को आश्वासन देते हुए देवमाता कह रही थीं कि अपना यज्ञभाग पाने के लिए देवता स्वयं ऐसा आयोजन करेंगे जिससे महर्षि शीघ्र ही अपनी धर्मपत्नी के रूप में उसका अभिनंदन करें। तो मेरा अब यहाँ और रुकना ठीक नहीं। मैं चलकर शकुंतला को यह सब समाचार दे दूँ जिससे उसे थोड़ा आश्वासन मिले।

उद्भ्रांत-सी वहाँ से चली जाती है।

नेपथ्य से : सुनो भाई, मैं ब्राह्मण हूँ। ब्राह्मण की हत्या मत करो।

दुष्यंत : (चेतना लौट आने से उधर कान देकर)

यह तो माधव्य के आर्तनाद का शब्द प्रतीत होता है।

चतुरिका : कहीं ऐसा तो नहीं कि चित्रफलक हाथ में होने से पिंगलिका तथा अन्य दासियों ने मिलकर उसे घेर लिया हो?

दुष्यंत : तो तुम उधर जाकर देख लो, चतुरिका! मेरी ओर से देवी वसुमती से कह भी दो कि उन्हें अपनी दासियों को इस तरह के व्यवहार से रोकना चाहिए।

चतुरिका चली जाती है।

नेपथ्य से पुनः : कह रहा हूँ मैं ब्राह्मण हूँ। ब्राह्मण की हत्या मत करो, मत करो!

दुष्यंत : मारे डर के बेचार ब्राह्मण का तो स्वर ही बदल गया लगता है।

...यहाँ कोई है?

कंचुकी : (आकर)

आज्ञा दें, देव!

दुष्यंत : जाकर देखो कि बेचारा माधव्य क्यों इस तरह छटपटा रहा है?

कंचुकी : अभी देखकर आता हूँ।

जाकर घबराया-सा लौटकर आता है।

दुष्यंत : क्या बात है, पार्वतायन? कोई बड़ी दुर्घटना तो नहीं हुई?

कंचुकी : नहीं, वैसा कुछ नहीं हुआ।

दुष्यंत : तो इस तरह काँप क्यों रहे हो?

यूँ तो बुढ़ापे से ही

तुम्हारा शरीर

हर समय काँपता रहता है;

पर इस समय की काँपकाँपी

कुछ ऐसी है

जैसे हवा के झोंके ने

पीपल की एक-एक पत्ती को

हिलाकर रख दिया हो।

कंचुकी : महाराज, आप अपने मित्र की रक्षा करें

दुष्यंत : पर किससे रक्षा करूँ उसकी?

कंचुकी : एक बहुत बड़ी विपत्ति से।

दुष्यंत : तुम बात स्पष्ट करके कहो न।

कंचुकी : वह मेघच्छन्न प्रासाद है न...जहाँ से सभी दिशाएँ देखी जा सकती हैं...?

दुष्यंत : हाँ, पर वहाँ हुआ क्या है?

कंचुकी : उसके ऊँचे शिखर से,

जिसे लॉघने के लिए

हमारे पाले हुए नीलकंठ

कई-कई उड़ानें भरा करते हैं,

एक अदृश्य जीव

आपके मित्र को

जाने कहाँ पकड़कर ले गया है!

दुष्यंत : (सहसा उठकर)

तो क्या हमारे घर में भी ऐसे जीवों का आवास है? सच, राजशासन के रहते भी कितने-कितने अनाचार हो जाते हैं।

यही जानना संभव नहीं

कि एक के बाद
 दूसरा दिन आने तक
 व्यक्ति
 प्रमादवश
 स्वयं क्या-क्या अकर्म कर जाता है;
 तो फिर
 यह जानने की सामर्थ्य किसमें है
 कि प्रजा में
 कब कौन
 किस मार्ग या अमार्ग पर चलता है?

नेपथ्य से : शीघ्र आओ मित्र...जैसे भी हो शीघ्र इधर आओ।

दुष्यंत : (सुनकर जल्दी-जल्दी चलता हुआ)

डरो नहीं, मित्र, डरो नहीं।

नेपथ्य से : डरूँ कैसे नहीं...यह जाने कौन है जो मेरी गरदन को ऊख की तरह
 मरोड़कर मेरी हड्डी-पसली एक किए दे रहा है।

दुष्यंत : (इधर-उधर दृष्टि दौड़ाकर)

मेरा धनुष मुझे दो, धनुष।

प्रतीहारी धनुष लिये हुए आती है।

प्रतीहारी : स्वामी की जय हो! यह रहा धनुष, ये बाण, और यह हस्तावरण।

दुष्यंत धनुष और बाण ले लेता है।

नेपथ्य से : यह ले,
 तेरे गले का नया-नया लहू
 पीने की आकांक्षा से
 मैं तेरे प्राण लेता हूँ;
 बाघ के पंजों में
 छटपटाते पशु की तरह
 तू अब मुझसे
 बचकर नहीं जा सकता!
 आर्त की रक्षा के लिए
 धनुष उठाने वाले
 राजा दुष्यंत में यदि शक्ति है
 तो आकर वह
 बचाए तुझे कैसे बचाता है!

दुष्यंत : (क्रोध के साथ)

अरे, यह मुझी को लक्ष्य करके ऐसा कह रहा है! तू ठहर तो जा नीच शव-भक्षक, अभी यहाँ तेरा नाम तक नहीं रहने दूँगा। (धनुष चढ़ाकर) पार्वतायन, सोपान किधर से है, ज़रा बताना।

कंचुकी : इधर से आएँ, देव!

सब जल्दी-जल्दी चलते हैं।

दुष्यंत : (चारों ओर देखकर)

अरे! यहाँ तो कोई भी दिखाई नहीं दे रहा।

नेपथ्य से : बचाओ मुझे, मेरी रक्षा करो! मैं तुम्हें देख रहा हूँ, और तुम मुझे नहीं देख पा रहे। मैं उसी तरह जीवन से निराश हो चुका हूँ जैसे बिल्ली के पंजे में जकड़ा चूहा!

दुष्यंत : ओह, तो अपनी तिरस्करिणी विद्या का मान है तुम्हें! तुम समझते हो कि मेरा शस्त्र भी तुम्हें नहीं देख पाएगा? अब रुके रहो, और इस भरोसे मत रहो कि मेरा मित्र तुम्हारे साथ है, इसलिए तुम इस बाण से बच जाओगे। यह मैं बाण चढ़ा रहा हूँ।

इसे तुम्हारा वध करना है,

इसलिए

यह बाण केवल तुम्हारी ओर ही आएगा,

उस ब्राह्मण की ओर नहीं

जिसकी इसे रक्षा करनी है।

हंस है यह बाण,

जो पानी से

दूध को अलग कर देता है।

धनुष चढ़ाता है। विदूषक के साथ

मातलि का प्रवेश।

मातलि : आयुष्मान्,

आपके बाणों का लक्ष्य

असुर बनें—

ऐसा इंद्र का निश्चय है;

इसलिए अपना यह धनुष

आप उन्हीं की ओर खींचिएगा।

हम आपके मित्र हैं;

और मित्रों का स्वागत

स्नेह से मुसकराती
आँखों से किया जाता है;
तीखे-तीखे बाणों से नहीं।

दुष्यंत : (अचकचाकर धनुष परे हटाता हुआ)
अरे, मातलि, तुम? स्वागत है, इंद्र-सारथी!

विदूषक : क्या सूझ-बूझ है! यह तो मुझे पशु की मौत मारने जा रहा था और
आप हैं कि इसका स्वागत और अभिनंदन कर रहे हैं!

मातलि : (मुसकराकर)
इंद्र ने आपके पास जिस उद्देश्य से मुझे भेजा है, वह आपको बता
देता हूँ।

दुष्यंत : मैं ध्यान से सुन रहा हूँ।

मातलि : दुर्जय नामक एक दानव-समुदाय है जो कि कालनेमि के वंश से
है।

दुष्यंत : उसकी चर्चा मैं पहले भी नारद के मुँह से सुन चुका हूँ।

मातलि : आपके सखा
इंद्र के हाथों
उसका वध संभव नहीं,
इसलिए
रणभूमि में
उसे मार गिराने के लिए
उन्होंने आपका स्मरण किया है।
रात्रि के अंधकार को चीरना
सूर्य के वश का नहीं;
उसका विनाश
चंद्रमा की किरणों से ही हो सकता है!

तो अब इसी तरह शस्त्र लिये हुए आप मेरे साथ देव-रथ में बैठकर
विजय-यात्रा के लिए चल दें।

दुष्यंत : मैं अनुगृहीत हूँ कि देवपति ने मुझे यह सम्मान दिया है। पर बेचारे
माधव्य को तुमने इस तरह क्यों दबोच रखा था?

मातलि : (मुसकराकर)
वह भी सुन लीजिए। मैंने आकर देखा कि किसी कारणवश आपका
मन संतप्त है और आप बहुत अव्यवस्थित हैं। सोचा कि ऐसा कुछ
करूँ जिससे आपका क्रोध जाग जाय।

आग धधकाने के लिए
 ईंधन को थोड़ा हिलाना होता है;
 साँप फण तभी उठता है
 जब उसे थोड़ा छेड़ दिया जाता है।
 तेजस्वी व्यक्ति का स्वभाव भी कुछ ऐसा ही है—
 उसका तेज जगाना हो तो,
 उसे थोड़ा विक्षुब्ध करना ही पड़ता है।

दुष्यंत : यह अच्छी युक्ति अपनाई तुमने। (विदूषक से) मित्र, देवपति की
 आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता, इसलिए यह सब वृत्तांत
 बताकर मेरी ओर से अमात्य पिशुन से कह दो कि—

तब तक
 वह अपने ही विवेक से
 प्रजा की देखभाल करे,
 जब तक
 यह खिचा धनुष
 इस दूसरे कार्य में
 व्यस्त रहेगा।

विदूषक : जैसी आज्ञा।

चला जाता है।

मातलि : तो आइए, रथ में बैठिए।

दुष्यंत रथ में बैठता है।
 सबका प्रस्थान।

॥ छठा अंक ॥

अंक : सात

[आकाश मार्ग तथा हेमकूट पर्वत पर महर्षि मारीच का आश्रम]



[Faint, illegible text, possibly a title or header]

रथ में बैठकर आकाश-मार्ग से आते
दुष्यंत और मातलि का प्रवेश।

दुष्यंत : मातलि, यह ठीक है मैंने देवपति के आदेश का पालन किया, पर
उन्होंने जितना मेरा सत्कार किया, उतने के योग्य मैं नहीं था।

मातलि : (मुसकराकर)

यह असंतोष तो दोनों ओर से ही है।

आपको

अपना उपकार

वहाँ मिले सत्कार की तुलना में

छोटा जान पड़ता है;

और देवपति का विचार है

कि जो कुछ आपने किया,

उसके अनुपात में

आपका सत्कार

कुछ भी नहीं हुआ।

दुष्यंत : ऐसा तुम नहीं कह सकते। विदाई के समय उन्होंने मेरा जो
सम्मान किया, उसकी तो कल्पना भी मेरे मन में नहीं थी। सब
देवताओं के सामने मुझे अपने पास आधे आसन पर बिठाकर—

वक्ष के हरिचंदन से अंकित

मंदार की माला

उन्होंने गले से उतारी;

यह देखकर

कि जयंत के मन में

उसे पहनने की आकांक्षा है,

वे हल्के से

उसकी ओर देखकर मुसकराए;

फिर उन्होंने हाथ बढ़ाया,
और सहसा वह माला
मेरे गले में पहना दी।

मातलि : क्या ऐसा भी कुछ है जो आप अमरपति से पाने के अधिकारी नहीं!

अपने सुखों में लीन
इंद्र के
स्वर्ग राज्य को,
दानवों का उन्मूलन करके,
केवल दो ने ही निष्कण्टक बनाया है;
पहले
आगे से झुके
नरसिंह के नखों ने
और आज
तिरछे फलके के
आपके बाणों ने।

दुष्यंत : इसका श्रेय स्वयं देवपति को ही है। क्योंकि—

स्वामी का ही प्रभाव है यह
जो अधीनस्थ व्यक्ति
बड़े-से-बड़ा कार्य भी
संपन्न कर लेता है।
अरुण
क्या कभी अंधकार का नाश कर सकता,
यदि सूर्य ने
अपने रथ पर
उसे आगे न बिठाया होता?

मातलि : आपको ऐसा ही कहना शोभा देता है। (कुछ और आगे निकल
आने पर) देखिए, स्वर्गभूमि पर आपका यश किस आदर के साथ
प्रतिष्ठित है!

सुर-सुंदरियों की
शृंगार-योजना से बचे
अंगराग से
देवगण

कल्पलता के पत्रों पर
आपकी चरित्र-गाथा
गेय पदों के रूप में
कल्पित और अंकित कर रहे हैं।

दुष्यंत : मातलि, उस दिन मन में असुरों के संहार की उत्कंठा थी, इसलिए ऊपर आते हुए इस प्रदेश को मैं ठीक से देख नहीं पाया था। बता सकते हो यह कौन-सा मारुत-प्रदेश है जिसमें से होकर अब हम जा रहे हैं।

मातलि : प्रवह मारुत का प्रदेश है यह
जो आकाश-गंगा का आधार स्थल है,
और जो अपने आवर्त से
तारामंडल का
रश्मि विभाजन करता हुआ
उसका संचालन करता है।
यह वही धूलिहीन प्रदेश है
जो वामन विष्णु के
दूसरे चरण का स्पर्श पाकर
पवित्र हो चुका है!

दुष्यंत : तो इसीलिए यहाँ आकर मेरी अंतरात्मा अंदर और बाहर से पुलकित हो उठी है! (रथ के पहिए की ओर देखकर) लगता है हम लोग बादलों के मार्ग पर आ पहुँचे हैं।

मातलि : यह आपने कैसे जान लिया?

दुष्यंत : तुम्हारे रथ के पहियों से,
जो जल-भार से लदे
बादलों पर आकर
बूँदों से भीग गए हैं;
इन चातकों से
जो पर्वत-कंदराओं से
उड़-उड़कर इस ओर आ रहे हैं;
और इन घोड़ों से
जिन्हें विद्युत् के आलोक ने
अपने रंग में रँग दिया है।

मातलि : आपका अनुमान ठीक है। अब क्षण-भर में ही आप अपनी राज्यभूमि में पहुँच जाएँगे।

दुष्यंत : (नीचे देखकर)

मातलि, इस तरह वेग से उतरते हुए नीचे मनुष्यलोक को देखना कितना विचित्र लग रहा है!

ऊपर को उठे

पर्वत-शृंगों से

समतल जैसे नीचे उतर रहे हैं;

और टहनियाँ अलग-अलग दिखाई देने से

पेड़

जैसे पत्तों के झुरमटों से बाहर आ रहे हैं।

सँकरे भागों में

जल-रेखा स्पष्ट न होने से

नदियाँ टूटी-टूटी-सी थीं;

पर अब वे

एक सूत्र में जुड़ती जा रही हैं;

और समूची धरती

इस तरह मेरी ओर आ रही है

जैसे किसी ने इसे

ऊपर को उछाल दिया हो।

मातलि : हाँ, जैसा आप कह रहे हैं, ठीक वैसा ही सुंदर लग रहा है।

(आदर-भाव से देखकर) सच, धरती कितनी सुंदर है!

दुष्यंत : पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच यह पर्वत कौन-सा है, मातलि, जिससे जैसे स्वर्णिम आभा के झरने फूट रहे हैं, और जो देखने में संध्याकालीन मेघ जैसा लगता है?

मातलि : यह किन्नरों का आवास हेमकूट पर्वत है जो तपस्वियों का परम धाम भी है।

देवों और असुरों के पिता

प्रजापति कश्यप

जो ब्रह्मापुत्र मरीचि की संतान हैं,

इसी पर्वत पर

अपनी पत्नी अदिति के साथ

तपश्चर्या करते हैं।

दुष्यंत : (आदर-भाव के साथ)

तो ऐसे पुण्य स्थान को यूँ ही लाँघ जाना उचित नहीं। मैं यहाँ रुककर और प्रजापति की प्रदक्षिणा करके आगे जाना चाहूँगा।

मातलि : बहुत अच्छा विचार है यह। (उतरने का अभिनय करता हुआ) यह लीजिए, हम उतर आए!

दुष्यंत : (आश्चर्य के साथ)

मातलि,

यहाँ उतरकर भी

उतरने का आभास नहीं हुआ,

क्योंकि न तो धूल उड़ रही है,

न रथ के पहिए शब्द कर रहे हैं,

और न ही

धरती पर आ जाने से

हिचकोले खाने का अनुभव हो रहा है।

मातलि : आपके और इंद्र के रथ में बस इतना ही तो अंतर है।

दुष्यंत : महर्षि मारीच का आश्रम किस स्थान पर है?

मातलि : (हाथ से संकेत करके)

वह देखिए वहाँ—

जहाँ वे महर्षि

प्राची की ओर मुँह किए

शंकर की तरह अविचल,

अपनी समाधि में लीन हैं।

उनका आधा शरीर

वल्मीक से ढँका है,

और दूसरे यज्ञोपवीत की तरह

साँप की केंचुल

उनके कंधे पर पड़ी है।

कंठ से लिपटे

रूखी लताओं के गुंझल

उन्हें अत्यधिक पीड़ित किए हैं,

और कंधों तक फैली

उनकी जटाओं में

कई-कई शकुंत पक्षियों ने
अपने नीड़ बना लिये हैं।

दुष्यंत : (देखकर)

इस तरह कष्ट उठाकर तपस्या करते मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ।

मातलि : (रास खींचकर रथ रोकता हुआ)

अब हम प्रजापति के आश्रम में आ गए हैं जहाँ के मंदार वृक्षों को स्वयं अदिति ने अपने हाथों से सींचकर बड़ा किया है।

दुष्यंत : ओह! यह स्थान तो स्वर्ग से भी अधिक शान्तिप्रद है। लगता है जैसे अमृत के सरोवर में डुबकी लगा ली हो।

मातलि : (रथ रोककर)

अब यहाँ उतर जाइए।

दुष्यंत : (उतरकर)

तो तुम क्या तब तक...?

मातलि : यह रथ संकेत के अनुसार रुका रह सकता है। मैं भी आपके साथ उतर रहा हूँ। (उतरकर) आइए, इधर से आइए। देखिए, ये हैं ऋषियों की तपोभूमियाँ।

दुष्यंत : यहाँ की इस विपरीतता को देखकर सचमुच आश्चर्य होता है—

कल्पवृक्ष का वन,

परंतु उसमें रहकर भी

केवल वायु से प्राण-धारण;

सुनहले कमलों के पराग से पीला जल

परंतु उसमें केवल पुण्य स्नान

मणि-शिलाओं के आवास,

परंतु उनका उपयोग केवल समाधि के लिए;

और अप्सराओं की इतनी निकटता

परंतु फिर भी इनका संयम;—

कितना अद्भुत है

कि दूसरे लोग

जो कुछ पाने के लिए तपस्या करते हैं,

ये

उस सब में घिरे रहकर

यहाँ तपस्या कर रहे हैं!

मातलि : मनस्वियों की प्राप्ति-कामना निरंतर ऊँचे स्तरों की ओर उठती जाती है। (घूमकर, आकाश की ओर) क्या वृद्ध साकल्य, भगवान मारीच इस समय किस कार्य में व्यस्त हैं? (सुनकर) क्या कहा? अदिति ने पतिव्रत धर्म के संबंध में कुछ पूछा था और वे उनके तथा अन्य ऋषि-पत्नियों के सम्मुख उस विषय की व्याख्या कर रहे हैं? तब तो उनसे मिलने के लिए प्रतीक्षा करनी होगी। (दुष्यंत की ओर देखकर) तो आप तब तक यहाँ अशोक वृक्ष की छाया में बैठें। मैं जाकर महर्षि को आपके आने की सूचना देता हूँ।

दुष्यंत : जैसा तुम ठीक समझो।

बैठ जाता है। मातलि चला जाता है।

दुष्यंत : (शुभ शगुन का निरूपण करके)

क्यों व्यर्थ फड़कती है, बाँह?—

अब कोई आशा नहीं

कि मेरी मनोकामना कभी पूरी होगी।

एक बार श्रेय का अनादर

उसे केवल

दुःख के रूप में ही लौटाकर लाता है।

नेपथ्य से : कह रही हूँ, इतनी चंचलता मत कर। चाहे जो भी सामने आ जाय, उसी को अपना स्वभाव दिखाने लगता है!

दुष्यंत : (उधर कान देकर)

यहाँ तो कोई धृष्टता कर ही नहीं सकता, फिर यह कौन है जिसे इस तरह रोका जा रहा है? (शब्द की दिशा में देखकर आश्चर्य के साथ) अरे, यह कौन बालक है जिसे दो तापसियाँ पकड़कर रोकना चाह रही हैं? शक्ति में साधारण बालकों से कितना अलग है यह!

माँ का दूध पीते

सिंह-शिशु को

बीच में ही यह

सिर के रोयों से मसलकर,

साथ खेलने के लिए

अपनी ओर

हाथ से खींच लेना चाहता है!

उपर्युक्त स्थिति में दो तपस्वियों

के साथ बालक का प्रवेश।

बालक : जम्हाई ले, शावक! कह रहा हूँ जम्हाई ले, मुझे तेरे दाँत गिनने हैं।

पहली तापसी : डीठ, क्यों उसे तंग करता है? सभी जीवों के बच्चे हमारे अपने बच्चे जैसे ही हैं। तेरा तो उत्पात दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है! ऋषियों ने ठीक ही तेरा नाम सर्वदमन रखा है!

दुष्यंत : इस बच्चे को देखकर मन में ऐसे स्नेह उमड़ रहा है जैसे यह मेरा अपना ही बेटा हो। (सोचता हुआ) संतानहीन हूँ, शायद इसीलिए मन में इस तरह वात्सल्य का संचार हो रहा है।

दूसरी तापसी : तू इस शावक को छोड़ेगा नहीं, तो इसकी माँ अभी तुझे दबोच लेगी।

सर्वदमन : (मुसकराकर)

ओ हो-हो! बहुत डर लग रहा है तुम्हारी बात सुनकर।

दुष्यंत : (आश्चर्य के साथ)

बीज है यह बालक

आनेवाले कल का

महान तेजस्विता का!

सुलगता अंगारा है यह

जिसे केवल

सूखे काठ की प्रतीक्षा है!

पहली तापसी : देख बच्चे, इस सिंह-शावक को तू छोड़ दे। मैं तुझे खेलने के लिए कुछ और देती हूँ।

सर्वदमन : कहाँ है कुछ और? लाओ दो।

हाथ फैला देता है।

दुष्यंत : (उसका हाथ देखकर)

अरे! इसके हाथ पर तो चक्रवर्ती के लक्षण हैं!

नई वस्तु पाने के प्रलोभन से

फैले इस हाथ की अंगुलियाँ

एक जाल की तरह गुँथी हैं,

और लाल हथेली पर

एक अधखिला कमल है

जिसकी पत्तियाँ

जैसे उषा के आलोक में
अब खुलना ही चाहती हैं।

दूसरी तापसी : इसे छोड़ दे, सुव्रता! केवल बातों से इसे नहीं भुलाया जा सकता।
जा मेरी कुटिया से ऋषिकुमार संकोचन का खिलौना ले आ—वह
रंग-विरंगा मिट्टी का मोर।

सुव्रता : हाँ, यही करती हूँ।

चली जाती है।

सर्वदमन : तब तक मैं इसी से खेलूँगा।

दूसरी तापसी : (देखकर हँसती हुई)

अरे, अब तो इसे छोड़ दे!

दुष्यंत : मन होता है इस नटखट को उठाकर प्यार करने लूँ। (उसाँस
भरकर)

कितने भाग्यवान हैं वे लोग
जिनकी गोद में आने के लिए
तुतलाते बच्चे,
नन्हें-नन्हें दाँत निकालकर,
अनायास किलकारियाँ भरते हैं;
और अपने अंगों की धूल से
उनके शरीर गँदला देते हैं!

दूसरी तापसी : (अंगुली से धमकाती हुई)

अच्छा तो तू मेरी बात नहीं सुनता न? (इधर-उधर देखकर) यहाँ
कोई ऋषिकुमार नहीं है? (दुष्यंत को देखकर) भद्र, आप इधर
आएँगे? यह बच्चा इस सिंह-शावक को सता रहा है। ऐसे
कसकर उसे पकड़े है कि छोड़ता ही नहीं। आप आकर उसे छुड़ा
दीजिए।

दुष्यंत : मैं आ रहा हूँ। (पास आकर मुसकराता हुआ) महर्षि-पुत्र!

इस आश्रम के
अनुकूल आचरण नहीं है यह
जिससे तुम
अपने संयमी पिता के
आंतरिक गुणों को
दूषित कर रहे हो।

यह उसी तरह है
जैसे चंदन की सुगंध को
काले साँप का बच्चा
अपने विष से दूषित कर दे।

दूसरी तापसी : यह ऋषिकुमार नहीं है, भद्र!

दुष्यंत : इसका पता इसके आचार और आकार के अनुरूप इसकी चेष्टाओं से ही चल रहा है। मैंने केवल इस स्थान को दृष्टि में रखते हुए ऐसा सोचा था। (सिंह-शावक को बच्चे के हाथ से छुड़ाकर उसमें स्पर्श-सुख का अनुभव करता हुआ, स्वगत)

जाने कौन है वह
जिसके कुल की यह कोंपल है?
फिर भी इसे छूकर
अंगों में
मुझे इतने सुख का अनुभव हो रहा है!
सोचता हूँ,
उसके हृदय को
इस स्पर्श से कितनी शांति मिलती होगी
जिस भाग्यवान की
यह अपनी संतान है!

दूसरी तापसी : सच, कितने आश्चर्य की बात है!

दुष्यंत : आश्चर्य की बात? आश्चर्य की बात क्या है, आर्ये?

दूसरी तापसी : इस बच्चे से आपका कोई संबंध नहीं, फिर भी आपसे इसकी आकृति इतनी मिलती है, इसी पर मुझे आश्चर्य हो रहा है। फिर यह तो किसी की मानता ही नहीं, पर आपसे परिचय न होते हुए भी आपकी बात इसने झट से मान ली।

दुष्यंत : (बच्चे को दुलारता हुआ)

आर्ये, यदि ऋषिकुमार नहीं, तो फिर किस वंश से है यह?

दूसरी तापसी : पुरुवंश से।

दुष्यंत : (स्वगत)

तो यह हमारे वंश से है! शायद इसीलिए इस तपस्विनी को हम दोनों की आकृति में समानता प्रतीत हो रही है। (प्रकट) पुरुवंश से? परंतु तपोवन का जीवन तो पुरुवंश के लोगों का अंतिम व्रत

होता है!

पृथ्वी की रक्षा के लिए
पहले उनका
सुधा से पुते
बड़े-बड़े भवनों में
आवास होता है;
चौथे आश्रम में प्रवेश करके ही
वे
यती-धर्म का पालने करने के लिए
इन वृक्षों की छाया को
अपना घर बनाते हैं।

फिर पैरों से चलकर मर्त्यलोक का कोई निवासी यहाँ पहुँच ही कैसे
सकता है?

दूसरी तापसी : आप ठीक कहते हैं। परंतु बच्चे की माँ का संबंध यहाँ की एक
अप्सरा से है, इसलिए इसे उसने देवगुरु मारीच के इस आश्रम में
ही जन्म दिया है।

दुष्यंत : (स्वगत)

ओह! यह तो एक और आशाजनक बात सुनने को मिली।
(प्रकट) यह बताएँगी कि इसकी माँ जिन राजर्षि की पत्नी हैं,
उनका नाम क्या है?

दूसरी तापसी : ऐसे व्यक्ति का नाम कौन मुँह पर लाए जिसने अपनी धर्मपत्नी
का परित्याग कर रखा हो?

दुष्यंत : (स्वगत)

यह सारा वृत्तांत तो मेरी ही ओर संकेत करता है। अच्छा, बच्चे
की माँ के नाम से जानने का प्रयत्न करता हूँ। (सोचकर) परंतु
पराई स्त्री के संबंध में पूछताछ करना आर्य-धर्म नहीं।

**सुब्रता मिट्टी का मोर लिये
हुए आती है।**

सुब्रता : देख सर्वदमन, तेरे लिए यह तापसी सुंदर शकुंत लाई है।
सर्वदमन : माँ आई है? कहाँ है!

दोनों तापसियाँ हँसती हैं।

सुब्रता : माँ का-सा नाम सुनकर कैसे इसका मन लुभा आया है!

दूसरी तापसी : उसने कहा कि वह तेरे लिए सुंदर मोर लाई है। देख, है न यह सुंदर?

दुष्यंत : (स्वगत)

तो क्या इसकी माँ का नाम शकुंतला है? पर नाम तो कइयों के एक-से होते हैं। फिर भी यह नाम लिये जाने से कितनी उदासी मन पर घिर आई है!

सर्वदमन : बहुत चंचल होता है न मोर, अंतिका?...इसीलिए मुझे यह अच्छा लगता है।

खिलौना हाथ में ले लेता है।

सुव्रता : (देखकर, व्यग्रतापूर्वक)

अरे, इसके रक्षावलय का क्या हुआ? वह इसके मणिबंध पर दिखाई नहीं दे रहा।

दुष्यंत : घबराएँ नहीं, आर्या! सिंह-शावक के साथ खींच-तान करने में वह इसके हाथ से गिर गया है।

वलय उठाने लगता है।

सुव्रता-अंतिका : ना-ना-ना, इसे हाथ मत लगाइए! (देखकर) अरे, आपने तो इसे उठा ही लिया।

वक्ष पर हाथ रखे आश्चर्य के साथ
एक-दूसरी की ओर देखती हैं।

दुष्यंत : पर आप इसके लिए मना क्यों कर रही थीं?

सुव्रता : ऐसा है भद्र, कि यह वलय देवलोक की अत्यधिक प्रभावशाली अपराजिता नाम की औषधि से बना है। इस बच्चे के नाल-छेदन संस्कार के समय भगवान मारीच ने स्वयं यह इसके हाथ पर बाँधा था। यह यदि भूमि पर गिर पड़े, तो इसे इस बच्चे और इसके माता-पिता को छोड़कर और कोई नहीं उठा सकता।

दुष्यंत : और यदि कोई उठा ले, तो?

सुव्रता : तो यह साँप बनकर उसे डस लेता है।

दुष्यंत : आप लोगों ने पहले कभी ऐसा होते देखा है?

सुव्रता-अंतिका : कितनी ही बार देखा है।

दुष्यंत : (हर्ष के साथ, स्वगत)

ऐसा है, तब तो सचमुच मेरी मनोकामना पूरी हो गई...और मैं अब भी इसका अभिनंदन नहीं कर रहा!

बच्चे को गले से लगा लेता है।

अंतिका : चल सुव्रता, चलकर यह बात शकुंतला को बता दें जो इस समय अपने नियम-पालन में लगी है।

दोनों चली जाती हैं।

सर्वदमन : छोड़ो मुझे! छोड़ो भी न, मैं अपनी माँ के पास जाऊँगा।

दुष्यंत : बेटे, अब तू मेरे साथ चलकर ही माँ का अभिनंदन करना।

सर्वदमन : तुम मेरे पिता नहीं हो, मेरे पिता दुष्यंत हैं।

दुष्यंत : हाँ, इस तरह विरोध करके ही तो तुम मेरी बात का समर्थन कर रहे हो!

शकुंतला आती है। वह केवल एक चोटी किए है।

शकुंतला : (जैसे असमंजस में)

सर्वदमन के हाथ से गिरा औषधि-वलय किसी के उठाने पर भी ज्यों-का-त्यों बना रहा, यह सुनकर भी अपने भाग्य पर विश्वास नहीं होता। पर मिश्रकेशी की बात यदि सच हो, तो ऐसा हो भी सकता है।

घूमती है।

दुष्यंत : (शकुंतला को देखकर हर्ष और खेद के साथ)

अरे! यह क्या वही शकुंतला है?

दो मैसै वस्त्र,

कुम्हलाए मुख पर

व्रत-पालन की छाया,

और एक ही उदास-सी वेणी!

कितने समय से

यह विरहिणी

मुझ निष्ठुर के लिए

वियोग-साधना करती हुई,

अपने उज्ज्वल चरित्र से

व्यथा-भार सह रही है!

शकुंतला : (दुष्यंत की पश्चात्ताप से मलिन आकृति देखकर, असमंजस में) नहीं, ये आर्यपुत्र नहीं हैं तो फिर कौन है यह जो मेरे बच्चे के रक्षामंगल की अवहेलना करके उसे अपने अंग-स्पर्श से दूषित कर रहा है?

सर्वदमन : (माँ के पास जाकर)

माँ, यह कौन है जो 'बेटा' कहकर ऐसे स्नेह से मेरा आलिंगन कर रहा है?

दुष्यंत : मैंने तुमसे निर्दय व्यवहार किया था, शकुंतला! पर उसका परिणाम वैसा प्रतिकूल नहीं रहा। चाहूँगा कि तुम अब मुझे पहचानने में किसी बाधा का अनुभव न करो।

शकुंतला : (स्वगत)

आश्चर्य हो, हृदय! सचमुच दैव ने कृपा की है...वैसा आघात कर चुकने के बाद अब उसे मुझसे द्वेष नहीं रहा। ये आर्यपुत्र ही हैं।

दुष्यंत : शकुंतला!

सौभाग्य है

कि स्मृति की किरण ने

मोह का अंधकार नष्ट कर दिया,

और फिर से मैं आज

तुम्हें अपने सामने देख रहा हूँ।

चंद्रमा से ग्रहण हट गया,

और स्वाभाविक है

कि अब उसका

फिर से रोहिणी से योग हो।

शकुंतला : (हर्षपूर्वक)

आप सदा विजयी हों, आर्यपुत्र!

दुष्यंत : शकुंतला!

आँसुओं से रुँधे कंठ से

मेरे विजयी होने की बात

तुम स्पष्ट नहीं कह सकीं,

फिर भी मैं विजयी हूँ

क्योंकि

ये शब्द कहने के लिए हिलते

तुम्हारे होंठ,

जो बिना किसी प्रसाधन के भी लाल हैं,

आज अपने सामने देख रहा हूँ।

सर्वदमन : यह कौन हैं, माँ?

शकुंतला : मुझसे नहीं, अपने भाग्य से पूछ, बेटे!

दुष्यंत : कोमलांगि,
मेरे किए तिरस्कार की पीड़ा
अब अपने मन से निकाल दो;
जाने क्या था
जिससे वह घना अँधेरा
मेरी स्मृति पर घिर आया था।
अँधेरे में जीते व्यक्ति
अपने शुभ को नहीं पहचानते;
अंधा कैसे जान सकता है
कि जिसे साँप समझकर उसने सिर से फेंक दिया,
वह वास्तव में
किसी की पहनाई
सुंदर-सी फूलमाला थी?

शकुंतला के पैरों पर गिर जाता है।

शकुंतला : उठ जाऊँ, आर्यपुत्र! मेरा ही कोई पहले जन्म का पाप था जो
अपने परिणाम तक पहुँचकर उन दिनों मेरे सुख में बाधक बन
गया था। अन्यथा इतने कोमल-हृदय आप मेरे प्रति उस तरह रखे
कैसे हो सकते थे?

दुष्यंत उठ जाता है।

परंतु आर्यपुत्र को अब इस अभागी की याद कैसे हो आई?

दुष्यंत : मन से दुःख की साल निकल जाने दो, फिर बताता हूँ।

मोहवश,
तुम्हारे होंठों पर गिरते
जिन आँसुओं की
तब मैंने उपेक्षा कर दी थी,
आज,
इन तिरछी पलकों में अटके
उन आँसुओं को,
एक बार पोंछकर
मुझे मन का पश्चात्ताप
कुछ मिटा लेने दो।

उसके आँसू पोंछने लगता है।

शकुंतला : (आँसू पोंछ दिए जाने पर, दुष्यंत की अंगुली में पड़ी अँगूठी देखकर)
आर्यपुत्र, यह वही अँगूठी है न!

दुष्यंत : हाँ; वही अँगूठी है। यही जब विचित्र ढंग से फिर मेरे हाथ लगी,
तो मेरी खोई हुई स्मृति लौट आई।

शकुंतला : तब कितना बुरा किया था...मैंने इससे आपको विश्वास दिलाना
चाहा था, और यह जाने कहाँ अदृश्य हो गई थी।

दुष्यंत : वसंत लौट आया, इस उपलक्ष में लैता इस फूल को अब फिर से
धारण कर ले।

शकुंतला : नहीं, अब आप ही इसे पहने रहें। मुझे इस पर भरोसा नहीं।

मातलि आता है।

मातलि : पत्नी से पुनः मिलने और पुत्र का मुख देखने के इस अवसर पर
मेरी ओर से बधाई।

दुष्यंत : मनोकामना एक मित्र के सहयोग से पूरी हुई, इसलिए यह और
भी श्रेयस्कर है। पर, मातलि! क्या देवपति इस विषय में नहीं
जानते थे?

मातलि : (मसकराकर)

वे प्रभु हैं...प्रभु क्या नहीं जानते? आइए, भगवान मारीच आपसे
साक्षात्कार करना चाहते हैं।

दुष्यंत : पुत्र को उठा लो, शकुंतला! मैं तुम्हें आगे करके ही महर्षि के दर्शन
करना चाहता हूँ।

शकुंतला : आर्यपुत्र के साथ गुरु के सामने जाते मुझे संकोच हो रहा है।

दुष्यंत : यह अभ्युदय का समय है; ऐसे समय तुम्हें संकोच नहीं करना
चाहिए। चलो, आओ।

सब घूमते हैं। अदिति के साथ आसन

पर बैठे महर्षि मारीच का प्रवेश।

मारीच : (दुष्यंत को आते देखकर)

अदिति !

यह है

भू-लोक का स्वामी दुष्यंत,

जो असुरों के साथ युद्ध में

तुम्हारे पुत्र इंद्र के

आगे-आगे रहता है।
 इसके धनुष में वह प्रभाव है
 कि इंद्र का तीखा वज्र,
 अब उपयोग में न आने से
 केवल उसके हाथ का
 आभूषण-मात्र रह गया है।

अदिति : इसकी आकृति ही इसके प्रभाव का परिचय दे रही है।

मातलि : आयुष्मान्, ये रहे देवी-देवताओं के माता-पिता जिनकी आँखों में
 आपको देखकर पुत्र-प्रेम की-सी भावना उमड़ रही है। आइए,
 इनके पास चलिए।

दुष्यंत : मातलि!

यही दंपति हैं वे
 जो ब्रह्मा से केवल एक पीढ़ी आगे,
 दक्ष और मारीच की संतान हैं,
 और जिन्हें मुनिगण
 बारह कलाओं में विभाजित
 तेजोमय सूर्य के
 स्रष्टा बताते हैं?
 यही हैं वे
 जिनसे
 यज्ञ-भाग के अधिकारी,
 तीनों भुवनों के नायक
 इंद्र का जन्म हुआ है,
 और
 वामन अवतार के लिए
 स्वयंभू ब्रह्मा से भी महान
 परम पुरुष विष्णु ने
 जिन्हें अपने माता-पिता के रूप में चुना है?

मातलि : हाँ, यही हैं वे!

दुष्यंत : (प्रणाम करके)

इंद्र का आदेशवर्ती दुष्यंत आप दोनों को प्रणाम करता है।

मारीच : चिरकाल तक जियो, वत्स, और पृथ्वी की पालना करो।

अदिति : कभी कोई भी शत्रु तुम्हें न जीत सके।

शकुंतला पुत्र-सहित उन
दोनों के पैर छूती है।

मारीच : बेटी!

इंद्र-सा पति
और जयंत-सा पुत्र
तुझे मिला है;
और क्या आशीर्वाद दूँ तुझे—
केवल यही कहता हूँ
कि तेरा सौभाग्य भी
इंद्राणी-सा अचल हो।

अदिति : पति से तुझे बहुत मान मिले, बेटी! तेरा यह चिरंजीव पुत्र माता
और पिता दोनों के कुल की शोभा बढ़ाए। आओ, बैठो सब लोग।
सब महर्षि के आसपास
बैठ जाते हैं।

मारीच : (एक-एक करके तीनों की ओर संकेत करते हुए)

शकुंतला-सी साध्वी पत्नी,
इस बालक-सी अच्छी संतान,
और अपने-से तुम स्वयं—
निश्चय ही यह मिलन
श्रद्धा, धन और शास्त्र
तीनों के संगम की तरह है।

दुष्यंत : भगवन्, मेरी मनोकामना पहले पूरी हुई, आपके दर्शन मुझे बाद
में हुए। आपकी कृपा का यह रूप सचमुच अद्भुत है।

पहले फूल उगता है
फिर फल आता है;
पहले बादल धिरता है,
फिर पानी बरसता है;
जीवन में
कार्य-कारण का
यह एक निश्चित-सा क्रम है।
परंतु

आपकी कृपा-दृष्टि की बात
 इससे अलग है,
 क्योंकि
 उसका अधिकारी होने से पहले ही
 याचक को
 मनचाही संपदा
 प्राप्त हो जाती है।

मातलि : आयुष्मान्, विश्वगुरु यदि कृपा करें तो इसी रूप में करते हैं।

दुष्यंत : भगवान्, आपके सगोत्र महर्षि कण्व के प्रति मुझसे अपराध हुआ है। मैंने गांधर्व विधि से शकुंतला से विवाह किया था। परंतु कुछ समय बाद जब इसके बंधु इसे लेकर मेरे पास आए, तो मैंने इसे अस्वीकार कर दिया क्योंकि वह बात मेरी स्मृति से उतर ही गई थी। बाद में यह अँगूठी देखते ही मुझे सहसा स्मरण हो आया कि मैंने इससे विवाह किया था। अब यह सोचता हूँ, तो मुझे बहुत विचित्र-सा लगता है।

मेरा मानसिक विकार
 कुछ ऐसा था
 जैसे
 एक हाथी को
 पास से निकलते देखकर भी
 कोई व्यक्ति
 उसके अस्तित्व में संदेह करे।
 परंतु
 उसके चले जाने पर
 सहसा
 पद-चिह्नों को देखकर
 उसे उसके होने में
 विश्वास हो जाए।

मारीच : देखो वत्स, इसे अपना अपराध मानकर दुःखी होने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे इसे भूल जाने का भी एक कारण था जो मैं तुम्हें बता रहा हूँ।

दुष्यंत : मैं सुनने के लिए उत्सुक हूँ।

मारीच : तुमने जब शकुंतला का तिरस्कार किया, तो मेनका इसे उस व्याकुल मनःस्थिति में अप्सरा-तीर्थ के घाट से उठाकर यहाँ अदिति के पास ले आई थी। तभी मैंने समाधि-स्थित होकर जान लिया था कि यह दुर्वासा के शाप का प्रभाव है जो तुमने इसे सहधर्मिणी बनाने के बाद भी इस बेचारी का परित्याग कर दिया है।

दुष्यंत : (उसाँस भरकर, स्वगत)

ओह! इससे तो मुझ पर कोई आक्षेप नहीं रह जाता।

शकुंतला : (स्वगत)

सौभाग्य है आर्यपुत्र अकारण ही मेरा परित्याग करने के दोषी नहीं है। परंतु याद नहीं आता कि कब उस ऋषि ने मुझे शाप दिया था। संभव है खोए मन से पड़ी रहने के कारण वह शाप मैंने न सुना हो। तभी तो अनसूया और प्रियंवदा ने चलते समय धीरे से मुझसे कहा था कि राजा यदि किसी कारणवश मुझे न पहचान पाएँ, तो मैं उन्हें उनकी अँगूठी दिखा दूँ।

मारीच : (शकुंतला की ओर देखकर)

बेटी, तुम्हें भी अब वास्तविकता का पता चल गया है। इसलिए तुम्हारे मन में पति के प्रति किसी तरह का रोष नहीं रहना चाहिए।

पति के मस्तिष्क

तुम्हारी स्मृति का खो जाना

उस शाप के ही कारण था;

और उसी से उसने

रूखे भाव से

तुम्हारा तिरस्कार कर दिया था।

अब अँधेरा दूर हो जाने से,

इसके मन पर

केवल तुम्हारा ही अधिकार रहेगा।

तुम वह छाया हो

जो मैले दर्पण में

पहले प्रतिबिंबित नहीं हो पाई;

अब मैल हट जाने से

उजले दर्पण में

तुम्हारा प्रतिबिंब

सदैव उजला बना रहेगा।

दुष्यंत : आपने बहुत उचित ढंग से बात कह दी है।

मारीच : वत्स, तुमने शकुंतला से उत्पन्न अपने पुत्र का अभिनंदन किया या नहीं? इसके जन्म से संबंधित सभी संस्कार हमने यहाँ विधिवत् पूरे कर दिए थे।

दुष्यंत : यह बालक...यही तो अब मेरे वंश की प्रतिष्ठा है।

सर्वदमन का हाथ अपने

हाथ में ले लेता है।

मारीच : आगे चलकर यह बालक चक्रवर्ती सम्राट् होगा।

स्थिर और संयत गति के रथ पर

समुद्र के पार तक जाकर

यह अजेय वीर

सात द्वीपों की परिधि तक

पूरी पृथ्वी पर

अपनी विजय-पताका फहराएगा।

यहाँ

सभी जीवों का दमन करने के कारण

इसका नाम

सर्वदमन रखा गया था,

परंतु आगे चलकर,

विश्व का भरण करने से

इसकी ख्याति

भरत के नाम से होगी।

दुष्यंत : इसके सब संस्कार आपके हाथों संपन्न हुए हैं, इसलिए इससे कुछ भी आशा की जा सकती है।

अदिति : मैं समझती हूँ कि ऋषि कण्व को इसकी सूचना भेज देनी चाहिए कि उनकी बेटी की मनोकामना आज पूरी हो गई है। इसकी वात्सल्यमयी माँ मेनका को तो वैसे ही पता चल जाएगा क्योंकि वह तो यहीं मेरी सेवा में है।

शकुंतला : (स्वगत)

देवी ने स्वयं ही मेरे मन की बात कह दी।

मारीच : यूँ तो अपनी तपस्या के प्रभाव से महर्षि कण्व यह सब जान गए होंगे...

दुष्यंत : और इससे सोचता हूँ कि उनके मन में मेरे प्रति अधिक रोष भी नहीं होगा।

मारीच : ...फिर भी हमें अपनी ओर से उनके पास समाचार भेजना ही चाहिए कि उनकी पुत्री को पति ने आज पुत्र-सहित विधिवत् स्वीकार कर लिया है। यहाँ कोई है?

शिष्य : (आकर)

मैं उपस्थित हूँ, भगवन्!

मारीच : गालव, तुम अभी आकाश-मार्ग से चले जाओ और जाकर मेरी ओर से महर्षि कण्व को यह प्रिय समाचार दो कि शाप का प्रभाव और उससे उत्पन्न स्मृति-दोष हट जाने से आज दुष्यंत ने शकुंतला और उसके पुत्र को यथाविधि स्वीकार कर लिया है।

गालव : जैसी गुरु की आज्ञा।

चला जाता है।

मारीच : (दुष्यंत से)

वत्स, अब तुम भी पुत्र और पत्नी के साथ अपने मित्र इंद्र के रथ में बैठकर राजधानी की ओर प्रस्थान करो।

दुष्यंत : (प्रणाम करके)

जैसी देव की आज्ञा!

मारीच :

अब—

दोनों सदा विजयी रहो,

तुम और इंद्र,

तथा

शत-शत युगों तक

एक-दूसरे के सहायक बनकर

सर्ग और मर्त्य लोक के कल्याण के लिए

श्रेयस्कर कार्य करते रहो;

इंद्र तुम्हारे राज्य में

बहुत-बहुत वर्षा करे,

और तुम

बहुत-बहुत यज्ञ करके
उसे पर्याप्त संतोष देते रहो।

दुष्यंत : भगवन्, दोनों लोकों के श्रेयस् के लिए मैं यथाशक्ति प्रयत्न करता
रहूँगा।

मारीच : बताओ, अब मैं तुम्हारा और क्या हितकार्य कर सकता हूँ?

दुष्यंत : इससे बढ़कर और भी कुछ हितकार्य हो सकता है क्या? फिर भी
इतनी कामना है कि—

भरत वाक्य

जो भी राजा हो,
वह सदा प्रजा-हित में लगा रहे,
और लोक में
महिमामय वेदवाणी का
कभी क्षय न हो;
इसके अतिरिक्त,
नील-लोहित वर्ण
तथा सर्वशक्ति-संपन्न
स्वयंभू शिव
पुनर्जन्म की यातना से
मुझे मुक्त करें।

सब चले जाते हैं।

॥ सातवाँ अंक ॥

...



मोहन राकेश

जन्म : 8 जनवरी, 1925; जंडीवाली गली, अमृतसर ।

शिक्षा : संस्कृत में शास्त्री, अंग्रेजी में बी.ए., संस्कृत और हिन्दी में एम.ए. ।

आजीविका : लाहौर, मुम्बई, शिमला, जालंधर और दिल्ली में अध्यापन, सम्पादन और स्वतंत्र-लेखन ।

प्रकाशन : आखिरी चट्टान तक (यात्रा वृत्तान्त); इंसान के खंडहर, नये बादल, जानवर और जानवर, एक और ज़िन्दगी, फ़ौलाद का आकाश (कहानी); अँधेरे बन्द कमरे, न आनेवाला कल, अन्तराल (उपन्यास); आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे (नाटक); परिवेश (निबंध), मृच्छकटिक, शाकुंतल (नाट्यानुवाद) ।

पुरस्कार/सम्मान : सर्वश्रेष्ठ नाटक और सर्वश्रेष्ठ नाटककार के संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार, नेहरू फ़ैलोशिप, फिल्म वित्त निगम का निदेशकत्व, फिल्म सेंसर बोर्ड के सदस्य ।

निधन : 3 दिसम्बर, 1972, नई दिल्ली ।



जयदेव तनेजा

जन्म : 15 मार्च, 1943, ओकाड़ा (अविभाजित भारतवर्ष) ।

शिक्षा : एम.लिट्. पी-एच.डी ।

आजीविका : अध्यापन एवं पत्रकारिता ।

प्रकाशन : हिन्दी/भारतीय रंगकर्म पर 26 पुस्तकें प्रकाशित । मोहन राकेश पर—लहरों के राजहंस : विविध आयाम, मोहन राकेश : रंग शिल्प और प्रदर्शन (समीक्षा एवं शोध), राकेश और परिवेश : पत्रों में, पुनश्चः, एकत्र, नाट्य-विमर्श, मेरे साक्षात्कार, पूर्वाभ्यास (सम्पादन) ।

पुरस्कार/सम्मान : दिल्ली नाट्य संघ, साहित्य कला परिषद्, हिन्दी अकादमी एवं केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा पुरस्कृत/सम्मानित ।

संप्रति : स्वतंत्र लेखन ।

मोहन राकेश रचनावली

खंड 1 अंतरंग	खंड 8 निबंध-आलोचना
खंड 2 पहले पहल	खंड 9 विविध विधाएँ
खंड 3 नाटक	खंड 10 पत्र
खंड 4 एकांकी	खंड 11 नाट्यानुवाद
खंड 5 कहानियाँ	खंड 12 कथानुवाद
खंड 6 उपन्यास	खंड 13 कथानुवाद
खंड 7 उपन्यास	

मोहन राकेश



ISBN : 978-81-8361-427-6

₹ 10400 (तेरह खंड)



राधाकृष्ण

नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद